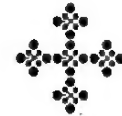
श्रीलालूभट्टोपनाम-श्रीबालकृष्णभट्टविरचितग्रन्थसंग्रहात्मिका

॥ श्रीबालकृष्ण-ग्रन्थावली ॥

प्रमेयरत्नार्णवस्य पूर्वोत्तरार्धाभ्यां निर्णयार्णवेन
सेवाकौमुद्या परिशिष्टान्तर्गतैः
त्रिभिः लेखैः च
मण्डिता



श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविट्ठलेशप्रभुचरण आ.हो.ट्रस्ट. प्रकाशिता

प्रकाशक:
श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविठ्ठलेशप्रभुचरण आ.हो.ट्रस्ट.
वैभव को-ऑपरेटिव्ह सोसायटी,
पुना-बेंगलोर रोड, कोल्हापुर,
महाराष्ट्र.

सम्पादक :
गोस्वामी श्याम मनोहर.

प्रथम संस्करण : वि.स.२०५४
प्रति : १०००

निःशुल्कवितरणार्थ

मुद्रक :
शैलेश प्रिन्टर्स.
१४, चुनावाला इन्डिष्ट्रीयल इस्टेट,
कोंडी-वीटा,
अंधेरी (पूर्व),
मुंबई ४०००५९

॥श्रीकृष्णाय नमः॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

प्राक्कथन

उपक्रम

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणकी (क)तत्त्वदृष्टि (ख)भगवल्लीलादृष्टि और (ग)कर्तव्यदृष्टि को भलीभांति समझनेकेलिये स्वयं महाप्रभुद्वारा विरचित साहित्यमेंसे तत्त्वदीपनिबन्धान्तर्गत क्रमशः [क]शास्त्रार्थप्रकरण, [ख]भागवतार्थप्रकरण; [ग]षोडशग्रन्थ, पञ्चश्लोकी, शिक्षाश्लोकी और उक्त त.दी.नि.के सर्वनिर्णयप्रकरणान्तर्गत साधनप्रकरण अतीव उपादेय होते हैं.

प्रायः इन सभी ग्रन्थोंके ऊपर वाल्लभ सम्प्रदायके परवर्ती विद्वानोंने व्याख्यासाहित्य भी यथेष्ट मात्रामें प्रकट किया ही है.

श्रीलालूभट्टजीके साहित्यका महत्त्व

मूलग्रन्थोंके साथ अध्ययनारम्भ जिन्हें क्लिष्ट लगता हो ऐसे जिज्ञासु अध्येताओंकेलिये वाल्लभ सम्प्रदायमें कालक्रमशः तीन ग्रन्थ प्रकट हुवे : लालूभट्टोपनाम श्रीबालकृष्ण भट्टद्वारा रचित *प्रमेयरत्नार्णव*, काशीस्थ श्रीगिरिधरजीद्वारा रचित *शुद्धाद्वैतमार्तण्ड*; और, गट्टूलालोपनाम श्रीगोवर्धन भट्टद्वारा रचित *वेदान्तचिन्तामणि (पञ्चदशी)*.

वाल्लभ सम्प्रदायके दुर्गम सिद्धान्तकाननको सुगम उपवन बना देनेवाले इन प्रक्रियाग्रन्थोंके निर्माताओंने उक्त काननमें निरन्तर परिश्रमपूर्वक परिभ्रमण करके प्राप्त स्वमार्गीय बोधपद्धतिको सर्वसुलभ बना देना चाहा है. फिरभी स्वयं मेरे अध्ययनाध्यापनके दीर्घकालिक अनुभवके आधारपर इतना तो निश्चिततया मैं कह ही सकता हूं कि इन तीनोंमें श्रीलालूभट्टजीद्वारा विरचित *प्रमेयरत्नार्णव* ग्रन्थकी कुछ अनूठी ही उपादेयता है. क्योंकि वाल्लभदृष्टिके प्राथमिकबोधोपयोगी जिस तरहके चुनिंदा प्रमेयोंका संकलन *प्रमेयरत्नार्णव*में हुवा है, वह अन्यत्र सुलभ नहीं है. इन सैद्धान्तिक प्रमेयोंके प्रमाणभूत श्रुति-गीता-ब्रह्मसूत्र-भागवतरूपी प्रमाणचतुष्टयीके जैसे

सुस्पष्ट वचनोंका संकलन यहां हुवा, वह भी नितान्त अवधारणीय है. इस प्रमाणचतुष्टयीके व्याख्यासाररूप जैसे आचार्यचरणोंके वचनोंका यहां संकलन हुवा है, वह भी जिज्ञासु अध्येताओंकेलिये निरतिशय उपकारक होता है. और अन्तमें इन सबके आधारपर जैसी निष्कृष्ट परिभाषा या जैसा विश्लेषण यहां प्रस्तुत किया गया है, वह भी प्राथमिक बोधको अतीव सुग्राह्य बन देता है. अपनी इस अद्भुत तथा जटिल शैलीको निभाते हुवे भी ग्रन्थकार अपने निरूपणको कहीं बोझिल नहीं होने देते. परिणामरूपेण कहने भरको यह *प्रमेयरत्नार्णव* है; अन्यथा, यह तो प्रमाणरत्नसरोवर भी है और परिभाषारत्नसरोवर भी. वैसे "लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः" के चिन्तनादर्शको देखनेपर सुपरिभाषित-प्रमाणसिद्ध पदार्थको ही 'प्रमेय' कहा जाता होनेसे *'प्रमेयरत्नार्णव'* भी सर्वथा सार्थक ही अभिधान है. यह शैली *निर्णयार्णव ग्रन्थमें तो अप्रसक्त* है *फिरभी सेवाकौमुदी* में तो आवश्यकताके अनुसार निभायी ही गयी है.

ग्रन्थकर्तृपरिचय

वाल्लभ सम्प्रदायके स्वर्णयुगको अपने स्वर्णिम चतुष्कोणकी मुद्रासे अंकित करनेवालोंमें: श्रीहरिरायजी, श्रीपुरुषोत्तमजी, लेखकार श्रीवल्लभजी तथा श्रीलालूभट्टजी यों चार सुनहली रेखाओंमेंसे चतुष्कोणघटकरेखारूप प्रस्तुत ग्रन्थावलीके कर्ता भी हैं.

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके समयमें ही आन्ध्र प्रदेशसे उत्तरभारतमें स्थलान्तरण करनेवाले कतिपय परिवारोंमेंसे एक परिवार श्रीलालूभट्टोपनामक श्रीबालकृष्ण भट्टके पूर्वजोंका भी सम्भवतः था. अन्यथा प्रभुचरणके कालमें तो निश्चित ही इनके पूर्वज गोकुलमें आ ही बसे थे, यह तो इस कुलके उत्तरभारतीय ज्ञातिनाम 'गोकुलस्थ-बागरोदी' के आधारपर ही निर्धारित हो जाता है. यह तथ्य प्रभुचरणात्मज श्रीगिरिधरजीकी पत्नीके पितामह श्रीमधुसूदनभट्टद्वारा प्रदत्त इस इतिवृत्तसे भी प्रमाणित होता है:—

आत्मनः सुखवासार्थं महावनसमीपतः यमुनातीरम् आश्रित्य स्थलं रम्यम् अयाचिषुः. अथ स्वाधिकृतैः भूमेः पत्रं संलेख्य भूपतिः स्वनाममुद्रासहितं दीक्षितेभ्यः तदा अर्पयत्, ततो मौहूर्तिकादिष्टे मुहूर्ते विधिपूर्वकं ग्रामं गोकुलनामानं स्थले तत्र न्यवासयन्. अब्देऽष्टनेत्राङ्गमही(१६२८)प्रमाणे तपस्यमासस्य तमिस्रपक्षे दिने(७) दिनेशस्य शुभे मुहूर्ते श्रीगोकुलग्रामनिवास आसीत्. वृत्तान्तम् इमम् आकर्ण्य सजातीयाः द्विजोत्तमाः कुटुम्बसहिताः तत्र वासार्थं समुपागमन्".

(वाधूलसवंशावली).

श्रीमद्वल्लभवंशजगोस्वामिपरिषद्द्वारा प्रकाशित *उत्तरभारतीय आन्ध्र (तैलंग)-भट्ट-वंशवृक्ष* में, यह कुल आत्रेय-आर्चनस-शावास्य-त्रिप्रवरान्वित कृष्णयजुर्वेदान्तर्गत तैत्तिरीयापस्तम्बशाखाध्यायीके रूपमें निर्दिष्ट ब्राह्मणकुल है. इस वंशवृक्षमें मूलपुरुषतया सर्वप्रथम श्रीयज्ञनारायण भट्टका नाम उल्लिखित है. इनके दो पुत्र हुवे : १.विश्वनाथ तथा २.शिवनाथ. इनमें श्रीविश्वनाथजी महाप्रभुके द्वारा पुष्टिसम्प्रदायमें दीक्षित हुवे थे. अपने द्वितीयात्मज प्रभुचरणके साथ इनकी तृतीयकन्या श्रीरुक्मिणीजीके सम्बन्धका प्रस्ताव जब महाप्रभुने इनके समक्ष रखा तब इस शर्तके साथ इन्होंने उस प्रस्तावको स्वीकार किया कि इस सम्बन्धके कारण स्वयं महाप्रभु और उनके बीच गुरुशिष्यके सम्बन्धमें किसी भी तरह नमस्कारोत्थानादिके लौकिकव्यवहारको निभानेका संकोच नहीं बरता जायेगा (द्रष्टव्य: श्रीगोकुलेशहास्यामृतप्रसंग.३१९). इनके दो पुत्र हुवे: १.श्रीकृष्णजी तथा २.श्रीगोविन्दजी. प्रभुचरणद्वारा लिखित विविध पत्र, जो *पुष्टिभक्तिसुधा* मासिक पत्रिकाके चतुर्थवर्षके ४-५-६ अंकोंमें आजसे अस्सी-पिच्चासी वर्षपूर्व प्रकाशित हुवे थे उनमें क्रमशः ३रे, ५वें तथा १२वें पत्रोंमें इन श्रीगोविन्दजीका उल्लेख प्रभुचरणने किया है. ये श्रीगोविन्द भट्ट तथा प्रभुचरणकी ज्येष्ठात्मजा श्रीशोभा बेटीजीके पति श्रीगणेश हरिहर दीक्षित रायपुरुषोत्तमदास तथा राजा बीरबल के पास किसी कार्यवश ठहर गये थे ऐसा उल्लेख भी प्रभुचरण *"गोविन्दभट्ट-गणेशभट्टौ*

रायपुरुषोत्तम-वीरवरराजयोः निकटे सपदि तिष्ठतः" (प्रभु.चर.पत्र.३) करते हैं. इनमेंसे श्रीकृष्ण भट्टके पुत्र श्रीगोपीकान्त भट्टके साथ प्रभुचरणकी श्रीकमला या श्रीदेवका बेटीजीमेंसे किसी एकका विवाह हुवा था. इन अपने जीजाजीके घर भोजन करने श्रीगोकुलनाथजी पधारे थे वह प्रसंग *श्रीगोकुलेशहास्यामृत* ग्रन्थके २४५वें प्रसंगमें वर्णित हुवा है. इनके पुत्र श्रीमधुसूदन भट्टके साथ श्रीगोकुलनाथजीका स्नेहभाव बहोत था यह व्यारावाले गोपालदासके द्वारा विरचित *मालोद्धार* ग्रन्थके अवलोकन करनेपर प्रकट होता है. इन्हें ही श्रीगोकुलनाथजी अपने साथ काश्मीर ले गये थे; और, शहंशाह जहांगीरके निषेधके बावजूद इन श्रीमधुसूदनजीको दरबारमें हुयी पेशीके समय भी अपने साथ ही रखा था— *"ए संग तुम्हारे कौन है? देशाधिपति कह्युं तेह, ए हमारो भाणेज है उत्तर दीधो एह. इनकूं यहां काहे कू लाये इनको कहा यहां काज? मेरे संग हुतो अरु संग आयो एम कह्यूं महाराज"* (मालो.४।६।१७७-१७८). इन्हें, अतएव, 'भाणेजभट्ट' नामसे भी पुकारा जाता था. सो वह प्रभुचरणके दौहित्र होनेके अर्थमें ही हो सकता है. प्रभुचरणकी ज्येष्ठात्मजा शोभा बेटीजीका तो विवाह काश्यप-त्रिग्रह श्रीहरिहर दीक्षितके पुत्र श्रीगणेश दीक्षितके साथ हुवा था. ये श्रीहरिहर दीक्षित महाप्रभुके कालमें ही प्रयागराजके समीप अड़ैलमें आ कर बस गये थे. ऐसा अनुमान प्रभुचरणद्वारा अपने अड़ैलनिवासी ज्येष्ठभ्राता श्रीगोपीनाथजीको जतिपुरा-गोवर्धनसे लिखे पत्रमें *"यादवेन्द्रपुरीषु ब्रह्मानन्ददीक्षितेषु हरिहरनागनाथचूडादिषु नमस्काराः"* (प्रभु.चर.पत्र.६) के आधारपर सिद्ध होता है. इन्हीं श्रीगणेश दीक्षितके तृतीय पुत्र श्रीगोपीनाथजीको तेलगुभाषामें लिखा हुवा प्रभुचरणका पत्र भी उपलब्ध होता है(प्रभु.चर.पत्र.१२). श्रीयमुना—श्वशुरगृहनाम 'लक्ष्मी'—बेटीजी, जिनका वाग्दान विष्णुयागानुष्ठानमें होताके रूपमें आये ऋग्वेदान्तर्गत आश्वलायन-शाकल-शाखाध्यायी काश्यप-रेही(पातालभेदी) श्रीनारायणैय्याके आत्मज पेरुभट्टोपनाम विष्णुअय्याके लिये वि.सं.१६१३-१६१५के बीच कभी प्रभुचरणने किया था. यह *सम्प्रदायकल्पद्रुम* नामक ग्रन्थके *"विष्णुयज्ञ विधिवत् जु करि विठ्ठलनाथ प्रवीण, विदा करत होतासुत हिं यमुनाकों...दीन"* (सम्प्र.क.द्रु.७।८७) उल्लेखवश सिद्ध होता

है. अपने तृतीय पत्रमें *"यमुनादिषु वैंकटादिषु आशिषः"* ऐसा उल्लेख भी प्रभुचरण करते हैं. ईशावास्योपनिषद्भाष्यकर्ता तिघरा श्रीबलभद्रजी, जिनका विवाह हमारे पितामह श्रीगोकुलनाथजीकी भगिनीके साथ हुवा था, वे स्वयंके बारेमें श्रीशोभा बेटीजीके पुत्रवंशज होनेका उल्लेख उक्त भाष्यके उपसंहारमें करते हैं. अतः न तो शोभा बेटीजीके और न श्रीयमुना बेटीजीके ही वंशज श्रीलालूभट्टजी हो सकते हैं. निष्कर्षतः श्रीगोपीकान्त भट्टका विवाह या तो श्रीकमला या फिर श्रीदेवका बेटीजीके साथ हुवा होना चाहिये. इनके पुत्र श्रीमधुसूदनजी—भाणेज भट्ट—, इनके पुत्र श्रीत्रिविक्रमजी; और, इन्हीं श्रीत्रिविक्रमजीके पुत्र प्रस्तुत *प्रमेयरत्नार्णव* आदि ग्रन्थोंके कर्ता लालूभट्टोपनाम श्रीबालकृष्ण भट्ट हैं.

इनकेद्वारा रचित ग्रन्थोंके अन्तःसाक्ष्यके आधारपर यह सर्वथा प्रकट है कि ये जयपुराधीश सवाई श्रीजयसिंह द्वितीय(वि.सं.१७५६-१८००)के तथा श्रीपुरुषोत्तमजी (वि.सं.१७२४-१८२०)के समकालीन थे. गोदावरीतटपर अवस्थित नाशिकक्षेत्रके इस वंशके तीर्थपुरोहितके बस्ता सं.१९ के पृष्ठ १० पर उल्लेख मिलता है कि गोकुल-कोटाके श्रीलालूभट्टजी वि.सं.१७८० चैत्रशुक्ला अष्टमी भौमवारके दिन यात्रार्थ वहां पहुंचे थे. श्रीलालूभट्टजीके पुत्रका नाम 'रघुनाथजी' और इन रघुनाथजीके पुत्रका नाम 'व्रजनाथजी' दिखलाया गया है. नाशिकके तीर्थपुरोहितके यहां उल्लिखित वि.सं. १७८०में इनके कोटानिवासी होनेके उल्लेखसे तथा वि.सं.१७९० के दशकमें कोटाके राजाको निजहस्ताक्षरोंमें दी गयी *प्रमेयरत्नार्णव* आदि ग्रन्थोंकी हस्तलिखित प्रतियोंके साक्ष्यके आधारपर भी सिद्ध होता है कि इनका कोटा तथा जयपुर दोनों राज्योंके नरेशोंके साथ सम्पर्क घनिष्ठ रहा होगा. जयपुरनरेशकी प्रेरणावश लिखे गये ग्रन्थोंकी निजहस्तारालेखित प्रतियां लेखनमितीके उल्लेखरहित होनपर भी कोटानिवाससे पूर्वलिखित होनेकी गवाही देती ही हैं. सुबोधिनीदशमस्कन्धपर निजहस्ताक्षरालेखित इनकी *योजना* की एक प्रति, वि.सं.१८३५ लेखनकालके उल्लेखके साथ, जयपुरनरेशके ग्रन्थागारमें उपलब्ध होती है. विषयानुक्रमणिकाके

बाद इसी ग्रन्थमें पृष्ठ ४० पर उक्त योजनाके अन्तिम पृष्ठकी प्रतिलिपि यहां साभार प्रस्तुत की जा रही है. इससे श्रीपुरुषोत्तमजी तथा सवाई जयसिंहजी के बाद भी इनकी विद्यमानता सिद्ध होती है. अतएव इन दोनोंके कनिष्ठ समकालिक होना भी सम्भावित लगता है. इसी *प्रमेयरत्नार्णव* ग्रन्थके *पुष्टिविवेक* प्रकरणमें श्रीहरिरायजीद्वारा (जन्म : वि.सं.१६४७) विरचित *पुष्टिमार्गलक्षणानि* ग्रन्थकी व्याख्या मिलती होनेसे इनकी पूर्वावधि तो सर्वथा सुनिर्धारित ही है.

सवाई श्रीजयसिंहजी अपने कालके एक उद्भट, अतिविलक्षण, विविधायामी व्यक्तित्वके धनी तथा सर्वधर्मानुमोदक राजा थे. उनकी विद्वत्सभामें अनेक विद्याओंके तथा वैष्णवादि सम्प्रदायोंके अनेक विद्वानोंकी गोष्ठी निरन्तर आयोजित होती रहती थी. इन गोष्ठियोंमें श्रीलालूभट्टजीका भी वाल्लभ मतके प्रतिनिधितया चर्चामें सम्मिलित होना अन्तरधार्मिक सम्प्रदायसंवादकी दृष्टिसे एक अति गौरवपूर्ण बात है, जिसकी गवाही इनकेद्वारा लिखित इसी ग्रन्थावलीमें इदम्प्रथमतया प्रकाशित होने जा रहे *प्रपञ्चविवेक-पुष्टिभक्त्यधिकारविवेक* के अन्तमें योजित पूरकांश तथा ग्रन्थावलीके परिशिष्टमें संकलित तीन लेख हैं. इनके बहुत सारे लेखनोंके मूलमें प्रेरकतत्त्व इन विद्वद्गोष्ठियोंमें हुयी चर्चा ही रही है. यह इस संस्करणमें संकलित अनेक ग्रन्थोंके अवलोकन करनेपर प्रकट होता ही है.

पुष्टिमार्गानुयायी रूपनगढ़-किशनगढ़के राजा श्रीरूपसिंहजीकी राजकुमारी चारुमतीके उदयपुरनरेश महाराणा राजसिंहके साथ विवाह हो जानेके कारण रुष्ट हो जानेवाले मोगलसम्राट ओरंगज़ेबने जब हिन्दुओंपर अत्याचारका दमनचक्र वि.सं.१७३२ (द्र. : *वीरविनोदात महाराणा राजसिंहजीप्रकरण*) के आसपास चलाना शुरु किया, तब असुरक्षित व्रजप्रदेशसे अनेक धर्मप्राण परिवार राजस्थानके सुरक्षित कोटा उदयपुर जोधपुर जयपुर आदि राज्योंमें स्थलान्तरण कर गये. इसी कालमें इनका कुल-परिवार भी

सहज सम्भव है कि व्रजप्रदेशसे यहां आकर बस गया होगा. जयपुरमें वह स्थल कौन सा था यह तो अब पता नहीं चलता. क्योंकि इस परिवारके सदस्य सम्प्रति जहां निवास करते हैं, वह स्थान तो बादमें जयपुरनरेश सवाई श्रीमाधौसिंहजीद्वारा बनवाया गया है, ऐसा *जयपुर जो था...* के लेखक इतिहासविद् श्रीनन्दकिशोर पारीकका अभिप्राय है (द्रष्टव्य : पृ.१५१). ये सवाई माधौसिंहजी पुष्टिमार्गके तृतीयपीठाधीश गोस्वामी श्रीव्रजभूषणजीके शिष्य थे, ऐसा श्रीगोपालनारायण बहुरा अपने *लिटररी हेरिटेज ऑफ द रूलर्स ऑफ आंबेर एंड जयपुर* (पृ.४१५) में विधान करते हैं. श्रीलालूभट्टजीके सभी ग्रन्थोंमें, उनके हस्ताक्षरोंकी तरह उपलब्ध होते दो भगवत्स्वरूपों [१]श्रीगिरिधारीजी तथा [२]श्रीबालकृष्णजी केलिये वन्दनात्मक मङ्गलाचरण मिलते हैं., उनमेंसे प्रथम भगवत्स्वरूप आज भी जयपुरके राजमहलके पिछवाड़ेमें चांदीकी टकसाल विभागमें अवस्थित सवाई श्रीमाधौसिंहजीद्वारा निर्मित भवनमें ही सेवित हो रहे हैं. ये इनके कुल-परिवारके संयुक्तस्वत्ववाले भगवत्स्वरूप थे. श्रीबालकृष्णलालका स्वरूप श्रीलालूभट्टजीका वैयक्तिक सेव्यस्वरूप था, ऐसा भी इन ग्रन्थोंमें मिलते मङ्गलाचरणोंसे प्रकट होता है. यह द्वितीय स्वरूप आजकल कोटामें बिराजमान है. इस परिवारके सदस्योंमेंसे, सम्भवतः, सर्वप्रथम श्रीलालूभट्टजीका ही जयपुरराज्यमें आगमन हुवा होगा. बादमें जैसा कि श्रीनन्दकिशोर पारिक लिखते हैं "...माधोसिंहने जिन महन्तोंको भेंट किया वे उसके साथ उदयपुरसे ही यहां आये" (द्रष्टव्य : *जयपुर जो था*...पृ.१७५).

इनके औरस वंशमें, पूर्वोक्त वंशवृक्षके अनुसार, इनके पौत्र श्रीव्रजनाथजीके पुत्र श्रीबालमुकुन्दजी हुवे. यदि समाननामा अन्य कोई न हो तो इनके संग्रहकी अर्थात् मुखपृष्ठपर "बालमुकुन्दस्येदं पुस्तकं" उल्लेखवाली अनेकानेक पुष्टिमार्गीय हस्तलिखित प्रतियां आज भी अनेक संग्रहोंमें उपलब्ध होती हैं. इसी तरह इन श्रीबालमुकुन्दजीके 'श्रीरणछोड़जी' नामक पुत्रके संग्रहकी भी अनेक हस्तलिखित प्रतियां भी यत्र-तत्र

उपलब्ध होती हैं. इनके अनुज द्वितीय श्रीगोपीकान्तजीके दो पुत्र हुवे नामक्रमशः श्रीमोहनजी तथा श्रीद्वारकानाथजी. इनके साथ श्रीविश्वनाथवंशज श्रीलालूभट्टजीका औरस वंश समाप्त हुवा. सम्प्रति श्रीविश्वनाथजीके अनुज श्रीशिवनाथजीके वंशजोंके पास ही श्रीगिरिधारीजी तथा श्रीबालकृष्णजी दोनों भगवत्स्वरूप बिराज रहे हैं.

संक्षिप्त ग्रन्थपरिचय

बहोत वर्ष पहले एस.ई.फ्रॉस्ट नामक दर्शनशास्त्रके एक विद्वान अध्यापकने *'द बेज़िक टीचिंग्स ऑफ द ग्रेट फिलॉसफर'* नामक ग्रन्थमें दर्शनशास्त्रके मौलिक सात-आठ प्रश्नोंकी उद्भावना प्रस्तुत की थी उन्हें, हमारे भारतीय दर्शनके सन्दर्भ और शब्दावली में देखना हो तो, यों देखा जा सकता है:—

१.इस ब्रह्माण्ड या जगत् का स्वरूप क्या है? अर्थात् क्या यह किसी अलौकिक शक्तिमान्की कृति है या वस्तुस्वभाववश घटित होती कोई निरन्तर परिवर्तनशील प्रक्रिया? इसमें कारणीभूत मूलतत्त्व क्या-कितने हैं? इसमें अनुभवगोचर होती परिवर्तनशीलताके हेतु-प्रयोजन क्या है?

२.इस ब्रह्माण्ड या जगत् के साथ मनुष्यका सम्बन्ध क्या है? जीवात्मा और उसके अमृतत्व का स्वरूप क्या है? मनुष्यके स्वभावमें यथायथ अनुभूत होते इच्छा प्रयत्न कृति और तत्फलाप्ति के स्वातन्त्र्य और नियति के बीच क्या किसी तरहका समन्वय है या विरोध है अथवा व्यवस्थितविकल्प? शुभ और अशुभ क्या-क्यों-कैसे होते हैं?

३.ब्रह्म परमात्मा या भगवान् का स्वरूप क्या सर्वथा लोकातीत ही होता है या लोकानुगत भी? वह क्या

मनुष्याकार, या दिव्याकार अथवा निराकार ही(/ भी) होता है? क्या वह सृष्टिसापेक्ष होता है या सृष्टिनिरपेक्ष? जो भी या जैसा भी उसका स्वरूप हो, ऐसे उसके प्रति मनुष्यके कर्तव्य ज्ञान भक्तिभावना अथवा शरणागति का अभीष्ट स्वरूप क्या है? उस तत्त्वकी अनुभूति यहां इस जगत्में सम्भव है कि नहीं?

४.चेतना और जड़विषय के बीच आपसी सम्बन्ध क्या-कैसा है? चेतनाके विभिन्न व्यापार; यथा, निद्रानुभूति जागरणानुभूति अज्ञान संशय भ्रान्ति निश्चय इच्छा तुष्टि राग द्वेष उदासीनता कैसे-क्यों प्रकट होते हैं?

प्रस्तुत ग्रन्थावलीमें योजित प्रथम ग्रन्थ *प्रमेयरत्नार्णव* इन्हीं या ऐसे प्रश्नोंका सरल सप्रमाण और सुस्पष्ट उत्तर प्रदान प्राप्त करनेको लिखा गया है. प्रथमकोटीके प्रश्नोंका उत्तर ग्रन्थकारने *प्रपञ्चविवेक* प्रकरणमें देना चाहा है. द्वितीयकोटीके प्रश्नोंका उत्तर *जीवविवेक* प्रकरणमें देना चाहा है. तृतीयकोटीके प्रश्नोंका उत्तर *मूलरूपविवेक पुष्टिभक्त्यधिकारविवेक सर्वात्मभावविवेक* तथा *पुष्टिमार्गीयफलविवेक* प्रकरणोंमें देना चाहा है. चतुर्थकोटीके प्रश्नोंका उत्तर *ख्यातिविवेक* प्रकरणमें देना चाहा है.

इस ग्रन्थावलीमें द्वितीयक्रमपर आता *निर्णयार्णव* भी आचार्यचरण एवं प्रभुचरण के तत्तद् ग्रन्थगत विभिन्न वचनोंके पांक्तालापनोपयोगी तात्पर्यनिर्धारणार्थ एक अत्युपयोगी ग्रन्थ है. तृतीय ग्रन्थ *सेवाकौमुदी* भी वाल्लभ सम्प्रदायानुसारिणी भगवत्सेवाका संक्षेपमें किन्तु अतिशय सुलझा हुवा निरूपण है.

चतुर्थ ग्रन्थतया *वेदान्तकौमुदी* को योजित करनेकी भी हमारी प्रबल इच्छा थी परन्तु लगता है कि ग्रन्थकारने अपने विद्यार्जनकालमें ब्रह्मसूत्रोंपर शांकर एवं वाल्लभ मतानुसारिणी वृत्तिके रूपमें इसे लिखनी चाही थी. इस सूत्रवृत्तिका उल्लेख रश्मिकारने भी किया है "प्राणादिति वृत्तौ 'मरीचिका'ख्यायां लालुभट्टकृतायां वृत्तावपि एवम्" (ब्र.सू.भा.प्र.रश्मि.१।४-

।९७). यह प्रति हमारे संग्रहमें उपलब्ध है उसकी 'इतिश्री'में ग्रन्थकर्ताके रूपमें यद्यपि "श्रीवल्लभदेवसमनुगृहीत" उल्लेख ही मिलता है परन्तु मंगलाचरणमें श्रीगिरिधारीजी तथा श्रीबालकृष्णजी को वन्दन करनेकी श्रीलालूभट्टजीकी शैली तथा इसकी रचना जयपुरमें हुयी है ऐसे उल्लेख के कारण भी इसे श्रीलालूभट्टजीकी कृति मानी जा सकती है. इस ग्रन्थमें न तो प्रतिज्ञात विषयका परिमार्जित निरूपण ही हो पाया है और न अपेक्षित एकरूपताका निर्वाह ही. कहीं इस ग्रन्थमें प्रतिज्ञात शांकरभाष्यानुसारिणी वृत्ति छूट गयी है तो अन्तमें वाल्लभभाष्यानुसारिणी वृत्ति भी. अतएव बहुत उपकारक न होनेसे संकलित करना अनावश्यक हो गया.

इस ग्रन्थके अन्तमें इन तीनोंमेंसे किसीके अन्तर्भूत न हो पानेवाले कुछ स्वतन्त्र लेखोंको भी परिशिष्टतया समाविष्ट किया गया है.

श्रीलालूभट्टजीद्वारा विरचित शेष व्याख्याग्रन्थोंमेंसे यथोपलब्ध निबन्धान्तर्गत शास्त्रार्थप्रकरणयोजना सुबोधिनीयोजना एवं षोडशग्रन्थान्तर्गत कतिपय गन्थोंकी व्याख्यायें तो तत्तद् ग्रन्थोंके साथ प्रकाशित हो ही गयी हैं. बहुत प्रयास करनेके बावजूद सर्वनिर्णयप्रकरणयोजना तथा दीमकखाये हुवे कुछ अवाच्य चालीस-पचास पृष्ठोंके अलावा श्रीलालूभट्टजीकी अणुभाष्यपर योजना या गूढार्थदीपिका भी मिल नहीं पायी, जिसके अप्रकाशित रह जानेका कष्ट हृदयशूल बना हुवा है. भगवदिच्छा बलीयसी!

वाल्लभ सम्प्रदायकी वर्तमान दुरवस्था

यहां यह कहनेको बाधित होना पड़ता है कि भगवद्भक्तिके अभीष्टतम प्रकारको "*शास्त्रम् अवगत्य मनोवाग्देहैः श्रीकृष्णः सेव्यः*" उद्घोषद्वारा मुद्रांकित करनेवाले महाप्रभुके इस सम्प्रदायमें सम्प्रति स्वयं आचार्यचरणके उपदेशोंसे सर्वथा विपरीत ही दिशामें भटकनेके शोखीन वित्तैकचित्त आचार्यवंशज कथावाचक गोस्वामिमहानुभावों तथा शास्त्रियों एवं लेखकों को तो आज साम्प्रदायिक ग्रन्थोंकी विभीषिका इतनी अधिक बढ़ गयी है कि सर्वप्रथम तो सरेआम यह कहनेमें भी नहीं शरमाते कि "अपना तो मार्ग भाव-भावना, परम्परा और प्रमेयबल का ही केवल है—प्रमाणबलका नहीं! ग्रन्थ अधिक पढ़ोगे तो बहिर्मुख

हो जाओगे!!". कभी फंस ही जानेपर आजीविकार्थ भगवत्सेवा और भगवत्कथा के आचार्यघोषित निषेधोंकी पकड़-जकड़से छटक जानेको उत्तमकोटीके अधिकारके बहाने भी बना देते हैं. यह नहीं सोचते कि ऐसी स्थितिमें वे स्वयं अपने-आपके बारेमें जघन्याधिकारी होनेकी पापस्वीकृति कर रहे हैं! अन्य कुछ महानुभाव कहते हैं कि स्वसम्प्रदायी(/ विसम्प्रदायी भी) जनताके पौरोहित्यार्थ प्रदर्शनव्यवसायात्मिका भक्ति शुद्धपुष्टितया तो हो नहीं सकती परन्तु मिश्रपुष्टिके अधिकारानुरूप तो वह की जा सकती है. इस विषयमें उल्लेखनीय हो जाता है कि यह यदि वास्तविकता हो तो अधिकांश अनुगामी वैष्णवजनताके सेव्यस्वरूप और भगवत्सेवा शुद्धिपुष्टिरूप सिद्ध होंगे और अधिकांश आचार्यवंशजोंके भगवत्स्वरूप एवं भगवत्सेवा मिश्रपुष्टिरूप सिद्ध होंगे! ऐसी स्थितिमें वैष्णवोंके सेव्यस्वरूपकी संनिधिमें वैष्णवोंद्वारा ही ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा लेनेपर पुष्टिजीव शुद्धपुष्टिमार्गका अधिकारी बन पायेगा, आचार्यवंशजोंके पास उनके सेव्यस्वरूपोंके समक्ष ब्रह्मसम्बन्ध लेनेपर तो केवल मिश्रपुष्टिका ही अधिकार मिलता होनेसे! अन्ततः अनुगामी वैष्णवजन आचार्यवंशजोंसे इतने उच्चाधिकारी हों तो उन्हें ही निस्पृह-शान्तभावपूर्वक इस सम्प्रदायमें आचार्यपदवीपर योग्याधिकारितया मान्य क्यों नही कर लेना चाहिये? अन्य कुछ महानुभाव आज्ञा करते हैं कि भक्ति तो परम्पराके अनुसार ही करनी चाहिये ग्रन्थोंके अनुसार नहीं. वे जानते नहीं कि ऐसा विधान वे स्वयं न जाने कितनी परम्पराओंको तोड़के कर रहे हैं!. कभी देशकालकी विपरीतताके बहाने भी बनाने लगते हैं कि बात सच भी हो परन्तु देशकालकी बदली हुयी परिस्थितिपर किसका बस चल सकता है? उत्तररूपेण यह उनसे पूछना चाहिये कि देशकालकी परिस्थिति तो प्रत्येक बातमें धर्मनिरपेक्षताको बढ़ावा देनेकी प्रवर्तमान है, तो आप स्वयं धर्मनिरपेक्ष क्यों नहीं बन जाते? क्यों भक्तिके व्यवसायको बढ़ावा दे रहे हो? वैसे सम्बद्ध अंशोंको छोड़ या तोड़-मरोड़ कर '*पुष्टिस्वाध्याय*' के अन्तरराष्ट्रीय अनुवाद-प्रव(वं!)चनयोगके ईश भी वर्षाकालीन दर्दुरकी तरह हालमें मुखरित हुवे हैं.

ऐसी स्थितिमें सौ-सवासौ वर्ष पहले भारतमार्तण्ड श्रीगट्टूलालाजीके करुणक्रन्दनके अधोगीत स्वर तो आज और भी अधिक करुणाजनक लगते हैं:

विद्या वरेषु बलिना कलिना विलीना
हीनादरेषु हरिभक्तिविधौ नवीना।
प्रायेण पद्धतिरुदेति मुदेऽतिगानां
लेखास्ततो गतजनेषु वनेषु खेदाः॥
शक्त्याखिलागमगतिः खलु पण्डितः स्यात्
साभ्यासमेकमपि शास्त्रमवाप्य शास्त्री।
श्लोकार्थमात्रमतिरेव न वैदुषी स्यात्
प्रायोऽद्य नैव सुलभा किल भाति सापि॥
लब्ध्वा न शास्त्रमधियन्ति धियं विशालां
तां योजयन्ति कुपथेषु नुताः कुभक्तैः।
केचित्कथञ्चिदपि शास्त्रलवानवाप्य
स्वाचार्यवाचमतिमुच्य परं चरन्ति॥
आचार्यवाच्यपि न चेद् यतते कथा का
श्रीपुरुषोत्तममुखोक्तिसुधावधाने
भट्टस्य मे तु रणितं मशकोपमस्य
दूरं क्षिपेच्छ्रवणतो नहि वैष्णवः(वाल्लभः!) कः॥

प्रस्तुत ग्रन्थकार बेचारे श्रीलालूभट्टजीके ग्रन्थ भी तो "*भट्टस्य मे तु रणितं मशकोपमस्य*" ही हैं! इनका प्रमेय भी अतएव वेद-गीता-सूत्र-भागवत और आचार्यचरण-प्रभुचरण के वचनप्रामाण्यपर अवलम्बित प्रमाणानुरोधी प्रमेय है. स्वार्थैककर्दममग्न मतिवालोंकी परम्परासे चला आ रहा, द्रव्योपार्जनार्थ आयोजित छप्पनभोग आदि मनोरथोंकी प्रदर्शन-व्यवसायात्मिका भगतिका सकलप्रमाणातीत प्रमेय नहीं!

अन्यान्य उपायोंसे अपनी आजीविका उपार्जित करनेमें सर्वथा अयोग्य तथा अक्षम, अतएव भीरु भी, ऐसे देवलकोंकी अपनी घरगृहस्थी चलानेके एक साधनके रूपमें क्या भगवत्सेवाको या भगवत्कथाको पञ्चमपुरुषार्थरूपा भक्तिके रूपमें मान्य रखा जा सकता है [यह सवाल किसीकी निजी मान्यता विवशता या "सृष्ट्यारम्भमें निर्धारित जघन्याधिकारिता(!)" के सन्दर्भमें नहीं परन्तु महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणकी अभिमतिके सन्दर्भमें पूछा जा रहा है] ?

बस यही एक मौलिक प्रश्न प्रत्येक पुष्टिमार्गीयको स्वयं अपने-आपसे तथा अपने सभी सहपुष्टिमार्गियोंसे भी निरन्तर पूछते रहना चाहिये. कर्मकाण्डमें पौरोहित्य शास्त्रविहित माना गया है. सेवा-कथा, परन्तु, मूलतः हृद्गत स्नेहात्मिका भक्तिका यदि एक आधिदैविक अनुभाव हो तो वह परार्थ परद्रव्यांगीकरणार्थ या परप्रतिनिधितया प्रकटनार्थ पण्यभाव कैसे हो सकता है! स्नेहानुभावको पण्य बनाना पण्यांगनाकी विवशता तो मानी जा सकती है—प्राणवल्लभकुलांगनाका धर्म तो कदापि नहीं!!

इससे प्रतीत होता है कि महाप्रभूपदिष्ट पुष्टिभक्तिके दुर्गके उत्तरोत्तर आभ्यन्तरभावापन्न परकोटे, नामशः, प्रवाहपुष्टि मर्यादापुष्टि पुष्टिपुष्टि और शुद्धपुष्टि रूपिणी प्रीति; तथा, आज वाल्लभ सम्प्रदायमें जनसम्मर्दार्थ मैदानोंमें आयोजित भगवत्सेवा या भगवत्कथा के विविध अनुष्ठानोंकी रीति के बीच भाववैपरीत्यकी भीषण खाई गहरा रही है. इसे पाटनेकी छद्मवृत्तिसे न केवल ग्रन्थोंको गौण बनाया जा रहा है, अपितु बने उतने अप्रकट ही रखनेकी एक मनोग्रन्थी सी बंध गयी है. प्रमेयबल, परम्परा या देशकालोत्था विवशता आदि सभी बहाने इसीके हास्यास्पद मुखोटोंके रूपमें प्रयोगमें लाये जा रहे हैं.

इस सन्दर्भमें भी यह खुल कर पूछ लेना प्रत्येक निष्ठाशील पुष्टिमार्गीयका परम कर्तव्य बन जाता है कि यदि कुरानसे इस्लाम धर्मको, बायबलसे ईसाईधर्मको, या धम्मपदसे बोद्धधर्मको हानि न पहोंचती हो तो महाप्रभु-प्रभुचरणोंके ग्रन्थोंके अध्ययन उपदेश स्वीकार या अनुसरण करनेपर पुष्टिसम्प्रदायको हानि कैसे पंहुच पायेगी? मतलब साफ है कि आचार्योपदेश और आचार्यनाम्ना चल पड़ी प्रणालिका के बीच परस्पर प्रचण्ड विरोधाभास भरा हुवा है! आवश्यकता इसे निरस्त करनेकी है. एतदर्थ वाल्लभ सम्प्रदायके प्रारम्भिक ग्रन्थोंके न्यूनतम अध्ययनाध्यापन और उसके द्वारा प्राप्त योग्यताके परीक्षण की व्यवस्था खड़ी करनी अतीव आवश्यक होगी ताकि जनोपदेशके प्रवाहमें जो शिरसा गोता मारनेके महत्त्वाकांक्षी लोग हैं, वे स्वयं अपनी और दूसरोंकी भी कपालक्रिया ही कहीं न करवा बैठें!

अतएव न्यूनतम योग्यतासम्पादनमें उपयोगी मानदण्डरूप इन प्रक्रियाग्रन्थोंका भी जिसने अध्ययन न किया हो ऐसोंको वाल्लभ

सम्प्रदायमें समवेतरूपेण कमसे कम उपदेशप्रदानार्थ अयोग्य निर्धारित करना चाहिये. अतएव श्रीहरिरायजीने भी तो इस विषयमें मार्गनिर्देशन इन्हीं शब्दोंमें दिया है—

तदाश्रयो न वचनैः किन्तु तन्मार्गनिष्ठया।
मार्गनिष्ठा न स्वबोधैः किन्तु तादृग्गुरूदितैः॥
गुरूदितानि वाक्यानि न स्वतो ह्यनुवादतः।
अनुवादो न स्वबुद्ध्या किन्तु मूलक्रमागतः॥
अथापि तत्र चापेक्ष्यो दृढः स्वाचार्यसंश्रयः।

एतदर्थ पुनः श्रीलालूभट्टजीके ग्रन्थोंसे बढ़ कर दूसरे कोई भी ग्रन्थ दृष्टिगोचर नहीं होते. यही कारण है कि पूर्वमें अनेक बार प्रकाशित होनेके बावजूद इन्हें पुनःपुनः प्रकाशित करते रहना आवश्यक हो जाता है.

प्रस्तुत संस्करणके सम्पादन-संशोधनकी आधारभूतसामग्री तथा रीति

ग्रन्थावलीके प्रथम ग्रन्थ *प्रमेयरत्नार्णव* के प्रस्तुत संस्करणके पाठसंशोधनमें हमने इतनी मातृकाओंका आधार लिया है :—

१.**क** पाठ : यह ज़ेरोक्स प्रति हमें राजस्थान प्राच्यविद्या संशोधन शाखा(कोटा)के अधिकारियोंके उदार सहयोगवश प्राप्त हुयी. यह श्रीलालूभट्टजीके समकालीन कोटानरेश महाराव श्रीदुर्जनशालजीद्वारा, संगृहीत तथा स्वयं ग्रन्थकारके हस्ताक्षरोंमें लिखित "वि.सं.१७९५ वर्ष भाद्रपद १३ गुरुवार" लेखनमितीके उल्लेखवाली प्रति है, ऐसा प्रतिके आद्यन्त पृष्ठोंपर उल्लेख मिलता है.

२.**ख** पाठ : यह कलकत्तास्थित रोयल एशीयाटिक सोसायटीके संग्रहके अधिकारियोंके उदारसहयोगवश हमें प्राप्त हुयी वि.सं.१९१३में लिखी गयी प्रतिकी फोटोकॉपी है.

३.**ग** पाठ : यह किशनगढ़के हमारे निजी संग्रहमें विद्यमान प्रति है. लेखनमितीवाला पृष्ठ खण्डित हो गया है.

४.**घ** पाठ : यह मांडवीके गोस्वामी चिरञ्जीवी श्रीशरद् अनिरुद्धलालजीद्वारा पाठशोधनार्थ प्रदत्त प्राचीन पुस्तकाकार प्रति है.

५-६.**ङ-च** पाठ : ये मेरे सहयोगी श्रीधर्मेन्द्रकुमार झालाके उद्यम तथा मुंबई विद्यापीठ ग्रन्थागारके अधिकारी श्रीगनपुलेके उदार सहयोग वश प्राप्त हुयी ज़ेरोक्स प्रतियां हैं. **ङ** पर "वि.सं.१९२८ द्वितीय भाद्रपद वदि ८" लेखनमिती दी हुयी है. **च** वह प्रति है जिसके आधारपर प्रस्तुत ग्रन्थका आद्य संस्करण श्रीरत्नगोपाल भट्टने सम्पादित किया था. इसपर आद्य सम्पादकके हस्ताक्षरोंमें संशोधन-परिवर्तन पढ़े जा सकते हैं.

७.**छ-ज** : ये दोनों हस्तलिखित प्रतियां जयपुरके राजघरानेके संग्रहमें विद्यमान महाराज सवाई श्रीजयसिंहजीको स्वयं श्रीलालूभट्टजीद्वारा प्रदत्त हस्तप्रति की ज़ेरोक्स कॉपी हैं. **छ** स्वयं ग्रन्थकारके हस्ताक्षरोंमें लिखित लेखनकालोल्लेखरहित सर्वप्रथम प्रति है. **ज** द्वितीयावृत्ति है तथा इसमें ग्रन्थकारके हस्ताक्षरोंमें संशोधन-परिवर्तन कहीं-कहीं किये हुवे मिलते हैं. इन्हें वर्तमान महाराणी श्रीमती पद्मिनी देवी तथा राजकुमारी श्रीमती दियाकुमारी ने अति उदार सहयोग दे कर हमें उपलब्ध करायी हैं.

८.**मु.१** पाठ : यह प्रमेयरत्नार्णव ग्रन्थके पूर्वार्धमात्रका का प्रथम संस्करण बानवे वर्षपूर्व चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ (सन् १९०६) में ङ-चप्रतियोंके आधारपर श्रीरत्नगोपालके सम्पादकत्वमें प्रकाशित हुवा था.

९.मु.२ : यह वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालयके तत्कालीन शुद्धाद्वैतवेदान्तके प्राध्यापक श्रीसत्यनारायण मिश्र द्वारा मु.१के आधारपर पूर्वार्धमात्रके सम्पादित संस्करणकी सन् १९६६ में प्रकाशित प्रति है.

१०.मु.३ : यह बनारस हिन्दु विश्वविद्यालयके दर्शनविभागके प्रवक्ता श्रीकेदारनाथ मिश्रद्वारा पर्याप्त परिश्रम एवं गवेषणापूर्ण निखिल सहायक सामग्रीके संकलनके साथ मु.१-मु.२संस्करणोंके तथा श्रीरमानाथ शास्त्रीजीद्वारा सम्पादित सन् १९२९ में प्रकाशित वादावल्यन्तर्गत उत्तरार्धके भी आधारपर सम्पूर्ण ग्रन्थके सम्पादनपूर्वक सन् १९७१ में प्रकाशित संस्करण है.

११.मु.४ : यह उल्लिखित श्रीरमानाथ शास्त्रीद्वारा सम्पादित पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तकार्यालय बड़ा मन्दिर (मुंबई)द्वारा सन् १९२९ में प्रकाशित संस्करण है.

इन सभी प्रतियोंमेंसे विशेषतः **क ग घ ङ छ ज** प्रतियोंपर पाठसंशोधनार्थ अवलम्बित होना हमने इसलिये उचित समझा कि **क छ** प्रतियां ग्रन्थकर्ताके स्वयंके हस्ताक्षरोंमें ही लिखी प्रतियां हैं. अवशिष्ट **ग घ ङ ज** भी उतनी ही प्राचीन हैं. इनमेंसे केवल **छ** प्रतिमें ही प्रपञ्चविवेक प्रकरणके अन्तिम भागमें योजित मुद्दा कि शांकर वेदान्तमें भी प्रपञ्च-संसारके भेदको मान्य रखना ही चाहिये उपलब्ध होता है. इससे अनुमान होता है कि सवाई श्रीजयसिंहजीके विद्वत्सभागार या ग्रन्थागार में प्रमेयरत्नार्णवकी छिड़ी गयी किसी चर्चामें ग्रन्थके प्रारूपदृष्ट्या अनपेक्षित होनेपर भी इसे योजित किया गया है. इन छहों प्रतियोंमें भी जहां परस्पर विसंवादी पाठ मिला वहां पंक्तिकी वाक्यरचना एवं अर्थसहजता के आधारपर पाठचयन किया गया है. क्योंकि उत्तरोत्तर की गयी अनुलिपियोंमें स्वयं ग्रन्थकार सावधानानवधानतया

थोड़ा-बहोत हेरफेर करते रहे हैं.

ग्रन्थावलीके द्वितीय ग्रन्थ *निर्णयार्णव* के प्रस्तुत संस्करणके पाठसंशोधनमें हमने इतनी मातृकाओंका आधार लिया है:—

१.घ पाठ: यह वही मांडवीवाली, गोस्वामी चिरञ्जीवी श्रीशरद् अनिरुद्धलालजीद्वारा पाठशोधनार्थ प्रदत्त पुस्तकाकार प्रति है.

२.च पाठ: यह पुनः वही मेरे सहयोगी श्रीधर्मेन्द्रकुमार झालाके उद्यम तथा मुंबई विद्यापीठ ग्रन्थागारके अधिकारी श्रीगनपुलेके उदार सहयोग वश प्राप्त हुयी ज़ेरोक्सकॉपीवाली प्रति है.

३.मु. : यह भट्टश्रीबलभद्र शर्माद्वारा सम्पादित श्रीनाथद्वाराके विद्याविभाग तथा पुष्टिमार्गीय शुद्धाद्वैतसिद्धान्त-कार्यालय बड़ा मन्दिर (मुंबई)द्वारा सन् १९१७ में प्रकाशित संस्करण है.

ग्रन्थावलीके तृतीय ग्रन्थ सेवाकौमुदी के प्रस्तुत संस्करणके पाठसंशोधनमें हमने इतनी मातृकाओंका आधार लिया है:—

१.क पाठ: यह हमें राजस्थान प्राच्यविद्या संशोधन शाखा(कोटा)के अधिकारियोंके उदार सहयोगवश प्राप्त "वि.सं.१७९७ वर्षके फाल्गुनकृष्णा ११ रविवार" लेखनमितीके उल्लेखवाली पूर्वोक्त कोटानरेशको स्वयं ग्रन्थकारद्वारा उपहाररूपेण दी गयी उसी हस्तलिखित प्रतिकी ज़ेरोक्स कॉपी है.

२.ख पाठ: यह कलकत्तास्थित रोयल एशियाटिक सोसायटीके संग्रहके अधिकारियोंके उदारसहयोगवश हमें प्राप्त हुयी फोटोकॉपी है.

३.ग पाठ: यह ज़ेरोक्स प्रति हमें राजस्थान प्राच्यविद्या संशोधन शाखा(जोधपुर)के अधिकारियोंके उदार सहयोगवश प्राप्त तथा स्वयं ग्रन्थकारके हस्ताक्षरोंमें लिखित तथा श्रीपुरुषोत्तमजीसे सम्पर्कमें आनेके बाद उनकी अल्पविराम पूर्णविराम तथा अनुच्छेदविरामोंके चिह्नोंकी शैलीको उपयोगमें ला कर लिखी गयी प्रति है.

४.घ पाठ: यह पुनः वही मांडवीवाली, गोस्वामी चिरञ्जीवी श्रीशरद् अनिरुद्धलालजीद्वारा पाठशोधनार्थ प्रदत्त पुस्तकाकार प्रति है. इसीमें चतुर्थ प्रकरणका अतिरिक्त अंश हमें उपलब्ध हुवा.

५.ङ पाठ: यह जयपुर राजघरानेके संग्रहमें विद्यमान महाराज सवाई श्रीजयसिंहजीको स्वयं श्रीलालूभट्टजीद्वारा प्रदत्त हस्तप्रति की ज़ेरोक्स कॉपी है. इसीमें चतुर्थ प्रकरणका अवशिष्टांश *स्त्रीभावविचार* शीर्षकके साथ उपलब्ध होता है. यह प्रति वर्तमान महाराणी श्रीमती पद्मिनी देवीने अति उदार सहयोग दे कर हमें उपलब्ध करायी हैं.

६.च पाठ: यह मेरे सहयोगी श्रीधर्मेन्द्रकुमार झालाके उद्यम तथा मुंबई विद्यापीठ ग्रन्थागारके अधिकारी श्रीगनपुलेके उदार सहयोग वश प्राप्त हुयी ज़ेरोक्स कॉपी है.

७.छ पाठ: यह जूनागढ़के गोस्वामी श्रीकिशोरचन्द्र-

जीद्वारा उदारतापूर्वक प्रदत्त उनके संग्रहमें विद्यमान ग्रन्थकी ज़ेरोक्स कॉपी है.

८.ज : यह जयपुर राजघरानेके संग्रहमें विद्यमान महाराज सवाई श्रीजयसिंहजीको स्वयं श्रीलालूभट्टजीद्वारा प्रदत्त हस्तप्रति की ज़ेरोक्स कॉपी है. यह वही चतुर्थ प्रकरणका अवशिष्टांश *स्त्रीभावविचार* शीर्षकके साथ उपलब्ध होनेवाली दूसरी प्रति है. यह प्रति भी वर्तमान महाराणी श्रीमती पद्मिनी देवीने अति उदार सहयोग दे कर हमें उपलब्ध करायी हैं

९.मु. पाठ: यह शुद्धाद्वैतकार्यालय बड़ामन्दिर (मुंबई)द्वारा वि.सं. १९७० में केवल दो प्रकरणोंके साथ प्रकाशित भट्टश्रीबलभद्र शर्माद्वारा सम्पादित प्रति है.

ग्रन्थावलीके **परिशिष्ट**के तीनों लेखोंकी ज़ेरोक्स कॉपी उल्लिखित जयपुरराजघरानेके संग्रहसे मिली हैं.

कृतज्ञतानुसन्धान

मेरी आयु जब १५ या १६ वर्षकी होगी तब एक दिन हमारे यहां सभाओंका आयोजन और व्यवस्था सम्हालनेवाले श्रीगिरिधरलाल ज. शाह (अब दिवंगत) को बुला कर मेरे पितृचरणने उन्हें आज्ञा प्रदान कर दी, "आगामी दिन (अब स्मरण नहीं रहा)से कुसुमप्रभासभागृहमें प्रतिदिन सायं सात बजे षोडशग्रन्थपर श्यामुबावाके प्रवचन होंगे". मेरे तो होश-हवास गायब हो गये! क्योंकि इससे पूर्व सस्वर तैत्तिरीयोपनिषद-महानारायणोपनिषद् पञ्चतन्त्र रघुवंश चन्द्रालोक और कारकप्रकरणपर्यन्त सिद्धान्तकौमुदी के अध्ययनके अलावा स्वमार्गीय ग्रन्थ तो एक भी तब पढ़ नहीं पाया था. मैने विनम्र प्रतिवाद किया कि "मैं क्या बोल पाऊंगा!" इसपर पितृचरणने आज्ञा दी कि "कलसे

प्रतिदिन मध्यान्ह ३-५ बजे तक मेरे पास बैठ कर टीकाके साथ दो-दो श्लोक षोडशग्रन्थमेंके और थोड़ा-थोड़ा प्रमेयरत्नार्णव पढ़ने आया करो और सांझको बस वही प्रवचनमें दोहरा देना. यों यह प्रक्रिया करीब साल डेढ़ साल चली. बादमें गोकुलसे आदरणीय दादाभाई (गो.श्रीरघुनाथलालजी) के सभामतीक शांकरभाष्यके अध्ययनार्थ मुंबई आनेपर प्रतिदिन सायंकालीन प्रवचनका (वस्तुतः दुर्लभवरदानोपम परन्तु तब कठोरदण्डविधान सा लगता!) वह कार्यक्रम अधबीच ही में स्थगित हो गया!

जो, किन्तु, स्थगित न हो पाया वह था प्रमेयरत्नार्णव ग्रन्थके प्रति मेरा लगाव. अब तो वह पहलेसे भी कहीं अधिक प्ररूढ़ हो गया है. अतः कृतज्ञतानुसन्धानके प्रसंगमें सबसे पहले मेरा हृदय पितृचरणकी उस सुचिन्तित विद्यारम्भकी योजनाके प्रति शब्दानिर्वचनीय कृतज्ञताके भावोंसे भर जाता है.

इसके बाद तत्तद् जिज्ञासु अध्येताओंको इस ग्रन्थके अध्यापनका सौभाग्य मुझे जिन पूर्वसम्पादक-प्रकाशक महानुभावोंके परिश्रमके कारण मिला, उन सभीके प्रति भी मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञताके भावोंको प्रकट किये बिना रह नहीं सकता. इन मातृका प्रदान करनेवाले सभी महानुभावोंके प्रति अपने कृतज्ञता हम ज्ञापन करते हैं. सम्प्रति इन ग्रन्थोंको कम्प्युटरमें फीड करना, उनमें उद्धृत वचनोंको खोजना तथा जूनागढ़-मांडवीके संग्रहोंमेंसे हस्तलिखित प्रतियां खोज कर देनेवाले अस्मदात्मीय गोस्वामी चिरञ्जीवी श्रीशरद् अनिरुद्धलालजीके अलावा, भी यहां मुंबई विद्यापीठके ग्रन्थागारमेंसे हस्तलिखित प्रतियोंकी जेरोक्स कॉपी लानेके उत्साही श्रीधर्मेन्द्रकुमार झाला, इसी तरह पाठभेदनिर्धारणकी लम्बी-लम्बी बैठकोंमें सोत्साह सम्मिलित होनेवाले अन्य भी श्रीभोगीभाई, श्रीरसिकभाई, श्रीहसमुखभाई श्रीमथुरादासभाई श्रीमहेन्द्र पालिचा श्री-श्रीमती सतीश पालिचा आदि अनेक मेरे सहयोगियोंके प्रति भी मेरा हृदय कृतज्ञताके भावोंसे भरा हुवा है. इस ग्रन्थकी मुद्रणोपयोगी सारी इतिकर्तव्यताके निर्वाहक मेरे अन्य भी प्रकाशनोंकी तरह श्रीमनीष तथा श्रीविपुल बाराईबन्धु ही हैं!

वागर्थाविव सम्पृक्तौ ग्रन्थकृष्णौ हि यन्मुखे।
वक्तारं तं विभुं वन्दे तद्वागर्थोपलब्धये! ॥
श्रीवल्लभमताभ्यासे कृपया येन दीक्षितः।
दीक्षितं तमहं नौमि श्रीतातचरणं सदा॥



संवत्सरोत्सव : वि.सं.२०५४ — *गोस्वामी श्याम मनोहर*
(पार्ला-किशनगढ़)

विषयानुक्रमणिका

प्रमेयरत्नार्णवस्य पूर्वार्धे

❊ प्रपञ्चविवेकः ❊

❊ जीवविवेकः ❊

❊ मूलरूपविवेकः ❊

❊ पुष्टिविवेकः ❊

❊ पुष्टिभक्त्यधिकारविवेकः ❊

❊ सर्वात्मभावविवेकः ❊

❋ पुष्टिमार्गीयफलविवेकः ❋

प्रमेयरत्नार्णवस्योत्तरार्धे

❋ ख्यातिविवेकः ❋

❋ मर्यादाभक्ति-पुष्टिभक्ति-पार्थक्य-विवेकः ❋

❋ नामफलविवेकः ❋

निर्णयार्णवः

❊ प्रथमस्तरङ्गः ❊

❋ द्वितीयतरङ्गः ❋

❋ तृतीयतरङ्गः ❋

❊ चतुर्थतरङ्गः ❊

सेवाकौमुदी

❊ प्रथमं प्रकरणम् ❊

❊ द्वितीयं प्रकरणम् ❊

❋ चतुर्थं प्रकरणम् ❋

परिशिष्टम्

❋ काममार्ग-प्रेममार्ग-विवेकः ❋

❋ एकान्तिलक्षणम् ❋

❋ जीवेश्वरभेदाभेदविमर्शः ❋

❋ उद्धृतवचनानुक्रमणिका ❋

❋ उद्धृतग्रन्थसंकेततालिका ❋

✻ लालूभट्टोपनामश्रीबालकृष्णानां निजहस्ताक्षरेषु योजनायाः अन्तिमं पृष्ठम् ✻

[illegible] रूपः शंखचूड इति तात्पर्यं विशेषपराश्चेदित्यादि वेदवेदार्थरूपबलदेवश्रीकृष्णचंद्रोभयपरा
अतो दैसेननीतागता विशेषपराः पंचाध्यायीस्थगोपिकावत्पुरुषोत्तमैकपराश्चेत्सुस्तदाना
गच्छेयुरित्यर्थः मणिग्रहणेन मणिगतादेवतेत्यादेरर्थ [illegible] स्फुटः देवतायाश्च उपभोग
इति मणिगतदेवताया बलदेवकर्तकोभोग इत्यर्थ ॥ श्री ॥ इति श्रीमद्गोवर्द्धन
धरश्रीवल्लभाचार्यवरश्रीविठ्ठलेश्वरचरणानुचरसेवकेन दीक्षितलालूभट्टेन कृतादशमस्कंध
एकत्रिंशोध्यायसुबोधिनीयोजनासंपूर्णा [illegible] श्रीरस्तु ॥ शुभंभवतु ॥श्री॥
संवत १८ ॥ ३४ ॥ मिती श्रावणवद ५ वृहस्पतवारक दिनसंपूर्ण भई ॥ श्री ॥

संख्या १०३५

॥ श्रीगिरिधारी तनोतु मङ्गलानि ॥

॥ प्रमेयरत्नार्णवः ॥

(पूर्वार्धः)

✻ प्रपञ्चविवेकः ✻

[मङ्गलाचरणम्]

गोपी-नूतन-रूप-यौवन-महा-माधुर्य-लाभोन्मदं
वृन्दा-कानन-निर्मितोज्ज्वलमय-स्वच्छन्द-रासोत्सवम् ॥
श्रीमद्-वल्लभ-विठ्ठल-प्रकटित-प्रेमाख्य-भक्तिप्रियं
वेदान्तोक्त-रसात्मकं प्रभुमहं गोवर्धनेशं भजे ॥१॥
नन्दाङ्गना-लालित-वक्त्रचन्द्रो विधीश-दुष्प्राप-पदारविन्दः ॥
विराजतां मूर्धनि भक्तिगम्यः श्रीबालकृष्णः कुलदैवतं मे ॥२॥
आनन्दमूर्तिं श्रुतिमूर्द्धसिद्धं श्रीकृष्णमप्राकृतधर्मयुक्तम् ॥
यः प्रापयद् दैवजनान् स्वपुष्ट्या श्रीवल्लभं तं प्रभुमाश्रयामि ॥३॥
वेदान्तसिद्धं पुरुषोत्तमस्य स्फुटीकृतं येन रसात्मकत्वम् ॥
गोपाङ्गना-प्रेम-निमग्न-चित्तं श्रीविठ्ठलं[१] तं प्रणमामि भक्त्यै ॥४॥
[२]कर्ता गोसुरविप्रपूजनविधेः, सद्धर्मविध्वंसिनां
संहर्ता, रघुनाथसेवनरतो, भर्ता सदाचारिणाम् ॥
श्रीगोविन्दपदाब्जपूर्णकृपया, प्राप्तप्रतापोदयो,
देवश्रीजयसिंहभूपतिपतिर्धीमांश्चिरञ्जीवतु ! ॥५॥
श्रीमता राजराजेन लालूभट्टोपनामकः ॥
प्रेरितो बालकृष्णोऽहं ग्रन्थं विरचये मुदा[३] ॥६॥

[ग्रन्थोपक्रमः]

अथ सुबोधिनी-निबन्ध-भाष्य-विद्वन्मण्डनादिषु स्थितानि प्रमेयानि,

रत्नानीव, सञ्चिनोमि.

तत्र भगवद्भजनोपयोगितया प्रपञ्चस्वरूपज्ञानस्य निबन्धोक्तरीत्या प्रथमं तदेव विविच्यते :—

[प्रमाणोपन्यासपुरःसरा प्रपञ्चस्वरूपनिरूपणप्रतिज्ञा]

"स[3] आत्मानं स्वयम् अकुरुत" (तैत्ति.उप.२।७)
"स ह एतावान् आस" (बृह.उप.१।४।३)
"स वै सर्वम् इदं जगत्" (महानारा.उप.२३।१)
"इदं सर्वं यद् अयम् आत्मा" (बृह.उप.४।५।७)
"आत्मैव इदं सर्वम्" (छान्दो.उप.७।२५।२)
"स... सर्वं भवति" (बृह.उप.१।४।१०)
"पुरुषएव इदं सर्वम्" (ऋ.वे.संहि.१०।९०।२)

इत्यादिश्रुतिभिः ब्रह्मात्मकः प्रपञ्चो भगवत्कार्यः[4] इति सिद्धान्तो, अविकृतपरिणामवाद-स्वीकारात्. तथा उपपादितं भाष्यकारैः "आत्मकृतेः परिणामाद्" (ब्र.सू.१।४।२६) इत्यत्र. अतो न मायिको नवा भगवद्भिन्नः; किन्तु, सत्यत्वाद् आविर्भाव-तिरोभावशाली, न उत्पत्ति-विनाशवान्, "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः" (भग.गीता.२।१६) इति वाक्यात्.

[प्रपञ्चस्य ब्रह्मकार्यत्वेन ब्रह्मात्मकत्वात् चतुर्विधाभावनिराकरणम्]

एवञ्च प्रागभावाद्यभाव[5]-चतुष्टयमपि न अत्र इति ज्ञेयम्[6].

ननु प्रपञ्चस्य ब्रह्माभिन्नत्वेऽपि प्रापञ्चिकघटपटादीनां, "घटः पटो न" इत्यादिप्रतीतिसिद्धो अन्योन्याभावो दुर्निवारो, अन्यथा घटेन आवरणरूपं पटकार्यं स्यात्! इति चेत्, न, "बहु स्याम्" (तैत्ति.उप.२।६) इतिश्रुतिसिद्धया इच्छया घटे पटत्वादीनां सर्वेषामेव तिरोभावाद्, एकस्य घटत्वस्यैव घटे आविर्भावात्, न कार्यान्तरसङ्करः. एवं सति सर्वत्र सर्वे ब्रह्मधर्माः सन्तोऽपि तत्तद्व्यक्तौ तत्तत्कार्यकर्तृत्वस्य भगवता नियमितत्वात्, न कार्यान्तरं कर्तुं

समर्थाः भवन्ति. अतः प्रमाणसिद्धाभ्याम् आविर्भाव-तिरोभावाभ्यां सर्वकार्यसिद्धौ, न अन्योन्याभावो अङ्गीकर्तव्यः, "सर्वं सर्वमयम्" (नृसिं.उ.ता.उप.९।४) इति तापनीयश्रुतेः. अतएव "तद् ह एतत् पश्यन् ऋषिः वामदेवः प्रतिपेदे, अहं मनुः अभवं सूर्यः च" (बृह.उप.१।४।१०) इत्यादौ उक्तः सर्वभावो युज्यते. एवम् अन्योन्याभावे निराकृते पदार्थमात्रस्य सर्वरूपत्वेन अत्यन्ताभावोऽपि दूरीकृतो ज्ञेयः. तथाहि "भूतले घटो नाऽस्ति" इत्यत्रहि घटानुपलम्भेऽपि तद्भूतले वस्त्वन्तरस्य तृणादेः आकाशस्य वा विद्यमानत्वात् तृणादिना आकाशेन वा, [7]घटस्य अभेदाद्[8], घटस्यापि सत्त्वात् न अत्यन्ताभावः.

[शुद्धब्रह्मवादस्य निष्कृष्टं स्वरूपम्]

अतः सर्वस्य सर्वरूपत्वात्, सर्वस्य सर्वत्र विद्यमानत्वात् च, सर्वस्य ब्रह्मत्वम् इति शुद्धो ब्रह्मवादः. कारणरूपस्य ब्रह्मणः कार्यरूपेण आविर्भावात्, तत्प्रयुक्तं कार्यत्वं निखिलप्रपञ्चे, "आत्मकृतेः परिणामात्" (ब्र.सू.१।४।२६) "पटवच्च" (ब्र.सू.२।१।१९) इति सूत्राभ्याम्. एतद् उक्तं निबन्धीय-सर्वनिर्णय-प्रकरणे "प्रपञ्चभावो भगवत्येव लीनः प्रकटीभवति इति" (त.दी.नि.प्र.१।६८).

[अवान्तरकार्यकारणयोः आविर्भावविषये ब्रह्मवादानुसारिणी प्रक्रिया]

अवान्तरकार्येषु घटपटादिषुतु अयं प्रकारः : भगवदिच्छया कारणरूपायां मृदि विद्यमानस्य भगवद्रूपघटस्य आविर्भावः. एवं सति "यस्मिन् भगवद्रूपे रूपान्तरस्य आविर्भावः तत् कारणम् यथा मृद्, यस्य रूपस्य प्राकट्यं तत् कार्यं यथा घटः" इति कार्यकारणभाव[9]-व्यवस्था बोध्या. तथा उक्तं निबन्धे "मृदादि भगवद्रूपं घटाद्याकारसंयुतम्" (त.दी.नि.२।१४२) इति. अतः "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" (छान्दो.उप.३।१४।१) इति श्रुत्युक्तं ब्रह्मात्मकत्वं निराबाधमेव, "मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुद्ध्यध्वमञ्जसा" (भाग.पुरा.११।१३।२४) इति भगवता[10] उपबृंहणात् च.

[विषयरूपप्रपञ्चस्य, ब्रह्मात्मकत्वेऽपि, तद्विषयतायाः मायिकत्वम्]

परन्तु व्यामोहिका माया जीवं व्यामोहयित्वा तदीयबुद्धौ प्रापञ्चिक-सद्वस्तु-सदृशं मायिकं पदार्थम् उत्पाद्य पुरःस्थितविषये प्रक्षिपति. तदा पदार्थग्रहणे तस्यापि ग्रहणात् तद्विशिष्टज्ञानं भ्रमात्मकं भवति. तथा सति वस्तुग्रहणे[११] मायिकधर्माणामपि ग्रहणाद्, "यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिर्नश्वरं गृह्यमाणञ्च विद्धि मायामनोमयम्" (भाग.पुरा.११।७।७), "देहं मनोमात्रमिमं गृहीत्वा [१२]ममाहमित्यन्धधियो मनुष्याः, एषोऽहमन्योऽयमिति भ्रमेण दुरन्तपारे तमसि भ्रमन्ति"[१२] (भाग.पुरा.११।२३।५०), [१३]"त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति"[१३] (भाग.प्रक्षि.१०-।१४।२२), "त्वय्युद्भवाश्रयति यस्त्रिविधो विकारो मायान्तरापतति नाद्यपवर्गयोर्यत्" (भाग.पुरा.११।१९।७), "स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःख-म्" (भाग.प्रक्षि.१०।१४।२२) इत्यादिवाक्यानि सावकाशानि भवन्ति. इमानि तादृक्प्रतीतिमूलकानि प्रमाणानि अवलम्ब्य विवर्तादिवादानां प्रवृत्तिः. पुराणादौ तादृशवादमूलमायिकत्वोक्तिः वैराग्यार्थम् उपयुज्यते इति व्यवस्थापितं तत्त्वदीपे(द्र.: त.दी.नि.१।८२). अतः प्रतीतिरेव मुग्धानां मायिकी, न वस्तुनि कश्चिद् दोषः स्वाभाविकः. अतएव ब्रह्माणं प्रति भगवता उक्तम् "ऋतेर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि तद् विद्यादात्मनो मायां यथाभासो यथा तमः" (भाग.पुरा.२।९।३३) इति. एतद्व्याख्याने सुबोधिन्याम् उक्तं, "तया व्यामोहिता बुद्धिः पदार्थान् अन्यथा मन्यते नतु पदार्थाः अन्यथा भवन्ति" (सुबो.२।९।३३) इति. अग्रेच उक्तम् "प्रमाणभूतो वेदः 'सर्वं खलु इदं ब्रह्मै'व (छान्दो.उप.३।१४।१) इति आह. ब्रह्मविदां प्रतीतिरपि तथा. भ्रान्तप्रतीतेस्तु न अर्थनियामकत्वम्, अन्यथा [१४]भ्रमद्दृष्ट्या गृहीतं जगद् भ्रमद्रूपमेव[१४] स्यात्. अतो विषये विषयता काचित् स्वीकर्तव्या, यया दृष्टिः सविषया भवति. अन्यथा पदार्थानां स्थिरत्वाद् भ्रमद्दृष्टिः निर्विषया स्याद्" (सुबो.२।९।३३) इति. एवम् उपपाद्य स्पष्टीकर्तुं पुनः फलितम् उक्तम् "विषयता मायाजन्या विषयो भगवान्" (सुबो.२।९।३३) इति.

[विषयजनितज्ञानं प्रमा विषयताजनितज्ञानं तु भ्रमः]

एवं सति अब्रह्मविदां विषयो[१५] विषयता च प्रतीयते इति उक्तं भवति. यथा भ्राम्यतः पुरुषस्य "घटो भ्राम्यति" इति प्रत्यक्षे घटगताकृत्यादिः वस्तुभूता प्रतीयते भ्रमणन्तु विषयतारूपं [१६]मायिकं भासते; तथा, घटपटादिरूपं जगत् प्रतीयते तत्तु विषयरूपं भगवदात्मकं वस्तुभूतं, यत् पुनः तत्रैव उत्पत्ति-विनाश-कुत्सितत्वान्योन्याभावादि प्रतीयते तद् विषयतारूपं भ्रमणवद्[१६] मायिकं बोध्यम्. इदमेव विविच्य सुबोधिन्याम् "ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत" (भाग.पुरा.२।९।३३) इत्यस्यैव व्याख्याने उक्तम्—"अतो विषयताजनितं ज्ञानं भ्रान्तं विषयजनितं प्रमा इति" (सुबो.२।९।३३) इति. विषयताच [१७]विषयासम्बद्धो विषयनिष्ठो मायिको धर्मः इति सिद्धम् एतेन[१७].

[विषयताद्वैविध्यम्]

सा विषयता द्विधा सुबोधिन्यां विवृता : "साच विषयता द्विधा आच्छादिका एका, अन्यथाप्रतीतिहेतुः च अपरा" (सुबो.२।९।३३) इत्यारभ्य "तस्माद् दर्पणे मुखजननवत्, तेजोऽभावे अन्धकारजननवत् माया मोहितपुरुषबुद्धावपि विषयताद्वयं जनयति इति अर्थः" (सुबो.२।९।३३) इत्यन्तेन ग्रन्थेन. विषयताद्वयं कर्मभूतं माया जनयति इति फक्किकार्थः. पुनः विषयताद्वयस्यापि स्वरूपं निगमयितुम् अग्रे भणितं : "तत्र एका ब्रह्मरूपतां न प्रकाशयति; एकातु जगद्रूपा विषयता" इति. इह "ब्रह्मतारूपतां न प्रकाशयति" इति उक्त्या, "ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि" (भाग.पुरा.२।९।२३) इत्यत्र "अर्थो न प्रतीयते" इति यद् उक्तं तद् उपपादितम्. "एकातु जगद्रूपा विषयता" इति उक्त्या "अर्थम् ऋते यत् प्रतीयेत" इति पूर्वं यद् उक्तं तत् समर्थितम्. "'जगद्रूपा विषयता' = 'जगदिव सत्यमिव रूपं यस्याः सा' जगद्रूपा" इति समासो ज्ञेयः. एतदेव "यथाऽऽभासो यथा तमः" इति दृष्टान्तेन मूले विवेचितम्. नच *'जगद्रूपा विषयता' इति उक्त्या दृश्यमानस्य जगतो विषयतात्वं स्वीक्रियताम्** इति वाच्यं, "विषयो भगवान्—विषयता मायाजन्या" इत्यनेन विषयरूपस्य जगतो विषयतायाः पृथक्त्वस्वीकारात्. अन्यथा ब्रह्मणो विषयत्वस्य वक्तुम्

अशक्यत्वात्, जगतः च विषयतारूपत्वाङ्गीकारे[१८], "विषयो भगवान्" इति उक्तिरेव बाधिता स्यात्. अतो "जगद्रूपा विषयता" इत्यस्य अस्मदुक्तएव अर्थो ज्ञेयः. प्रापञ्चिकनीलवस्तुसदृशं विषयतारूपं नीलं तमः प्रतीयते, इयमेव जगद्रूपा विषयता.

[द्विविधायाअपि विषयतायाः पुनः धर्मधर्मिरूपद्वैविध्यम्*]

इदन्तु विशिष्य ज्ञेयं : मायाहि कुत्रचिद् विषयतारूपं धर्मं सृजति,कुत्रचिद् धर्मिणं विषयतारूपम्. भ्रमरिकादृष्ट्या गृहीते घटे भ्रमणधर्ममात्रं[१९] विषयतारूपं, तेजोऽभावेतु धर्मी विषयतारूपो अन्धकारः. एवम् उभयविधापि[२०] विषयता जगत्समानाकारा. अतएव 'जगद्रूपा' इति उच्यते. एवञ्च विषयतया पदार्थानाम् अन्यथाभानं नतु पदार्थाः अन्यथा इति निष्कर्षः.

[एतादृशस्य प्रपञ्चस्य भाने अधिकारभेदः]

यतो विषयताद्वयम् आच्छादिका[२१]न्यथाप्रतीतिहेतु-रूपम् ब्रह्मज्ञानेन नाश्यते, तद् उक्तं सुबोधिन्याम् अत्रैव "तदुभयव्यावृत्त्यर्थं सर्वाणि प्रमाणानि इति भावः"-इति, अयं प्रपञ्चो अधिकारिभेदेन त्रिधा भासते :—

(१)तत्र ब्रह्मभूतानां ब्रह्मात्मकएव शुद्धो भासते; यथा, यस्मिन् क्षणे [२२]यएव शुक्लः पटो हरितकाचोपनेत्रयुतदृष्टिना पुंसा तादृशवर्णयुतो गृह्यते तादृगुपनेत्रोपाधिरहितेन तस्मिन्नेव क्षणे[२२] सएव शुक्लो गृह्यते तद्वत्.

(२)शास्त्रोत्पन्नज्ञानिनान्तु ब्रह्मधर्म-मायाधर्म-युक्तः तत्तद्धर्म-सत्यत्व-मिथ्यात्व-विवेकपूर्वकं भासते; यथा, पटस्वरूपौपाधिक[२३]हरितत्वस्वरूप-ज्ञानिना[++] हरितकाचोपनेत्रयुतदृशा[२३] हरित्वयुक्ते पटे गृहीतेऽपि पटगताकृत्यादीनां सत्यत्वं हरितताया: मायिकत्वं (च!) बुध्यते, तद्वत्.

(३)अविवेकिनान्तु ब्रह्मधर्म-मायाधर्म-युक्तः तत्तद्धर्माणाम् एकरूपज्ञानपुरःसरं भासते; यथा, हरितकाचोपनेत्रयुतचक्षुषा बालेन गृहीतः पटः तद्गताकृत्यादेः औपाधिकहरितत्वादेः च सत्यत्वावबोधपूर्वकं भासते तथा.

एवं सति भानएव भेदो न स्वरूपे. अतः प्रपञ्चस्य ब्रह्माभिन्नत्वात् सत्यत्वम् अङ्गीकार्यं श्रुतिशरणैः.

ये पुनः उत्पत्ति-विनाश-कुत्सितत्व-भेदादयो धर्माः प्रतीयन्ते ते मायिकाः इति सुधिभिः आकलनीयम्.

[भगवन्मूर्त्यादिप्रत्यक्षे प्रकारभेदोपपादनम्]

भगवन्मूर्त्यादौतु भिन्नः प्रकारः. तथाहि भगवन्मूर्तिं पश्यतो भक्तिरहितस्य पुंसो[२४] बुद्धौ माया विषयतां सृजति, नतु भगवन्मूर्तौ विषयतां प्रक्षिपति, तत्र भगवद्-गुणानाम् अभिव्यक्ततया मायायाः प्रक्षेपसामर्थ्याभावात्; किन्तु, तादृग्द्रष्टुः बुद्धौ आवरणस्य विद्यमानत्वाद् भगवन्मूर्तौ अन्यथा भानम्. वस्तुतस्तु तत्र भगवत्त्वम् निर्दुष्टमेव. अतएव,

[२५]"विष्णोर(र्च!)र्चायां शिलाधीर्गुरुषु नरमतिर्वैष्णवे जातिबुद्धिः
विष्णोर्वा वैष्णवानां कलिमलमथने पादतीर्थेऽम्बुबुद्धिः।
श्रीविष्णोर्नाम्नि मन्त्रे पुरुकलुषहरे शब्दसामान्यबुद्धिः
विष्णौ सर्वेश्वरेशे तदितरसमधीर्यस्य वा नारकी सः॥"[२५]
( )

इत्यादिवाक्यैः अन्यथाबुद्धेः निन्दितत्वं श्रूयते. "शिलाबुद्धिर्न कार्या च तत्र नारद! कर्हिचित्, ज्ञानानन्दात्मको विष्णुः यत्र तिष्ठत्यचिन्त्यकृद्"

*एवंहि विषयतायाः चातुर्विध्यं भवति. तथाहि : [१]धर्माच्छादिका, [२]धर्म्याच्छादिका, [३]अन्यथाधर्मप्रतीतिहेतुभूता, [४]अन्यथाधर्मिप्रतीतिहेतुभूता च इति(गो.श्या.म.).

**पटस्वरूपं च औपाधिकहरितत्वस्वरूपं च इति उभयं यो जानाति स उभयस्वरूपज्ञः, तादृशेन पटस्वरूपौपाधिकहरितत्वस्वरूपज्ञानिना इति अर्थो ज्ञेयः (गो.श्या.म.).

(   ) इत्यादिवचोभिः तत्र भगवदावेशकथनात् प्रपञ्चवैलक्षण्यम् अङ्गीकार्यं, ''मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चनम्'' (भाग.पुरा.११।११।३४) इति एकादशवाक्यात्, ''पूजनं प्रतिमायान्तु उत्तमं परिकीर्तितम्'' (विष्णुधर्मो.पुरा.?) इति कालनिर्णयदीपिकास्थविष्णुधर्मवाक्यात् च. निबन्धेच ''तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्र च स्थितम्'' (त.दी.नि.२।२२८) इत्यस्य व्याख्याने ''वस्तुविचारे सर्वस्यापि भगवद्रूपत्वाद् विशेषस्तु अयम्, 'एनं उद्धरिष्यामि' इति तदा मृदादेः प्रादुर्भूतः'' (त.दी.नि.प्र.२।२२८) इत्यादिना प्रपञ्चवैलक्षण्यस्य उपपादितत्वाच्च. अतएव महता प्रबन्धेन मूर्तिपूजनं श्रीमद्भागवतैकादशस्कन्धे भगवता श्रीमदुद्धवं प्रति उक्तम् इति दिक्.

[भगवन्मूर्ताविव अन्यत्रापि क्वचित्क्वचित् लौकिकविषयताबुद्धिनिषेधः]

एवमेव यमुनागङ्गादिजलेषु तुलसीगोपीचन्दनादिषु तादृशभगवद्भक्तेषु[२६] साधारणवस्तुभ्यो[२७] वैशिष्ट्यम् आप्तवाक्यबलेनैव आदरणीयम्. तत्तत्सेवकैः तत्र-तत्र उद्धृत्युपयोगिधर्माणाम् उपलभ्यमानत्वात्. अतएव भगवन्मूर्त्यादिसम्बन्धाद् बहूनां भगवत्प्राप्तिः पुराणादौ स्मर्यते. वाचनिके शास्त्रे वाचनिक्येव व्यवस्थेति न शुष्कतर्कैः भ्रमितव्यम् इति अलं लेखेन[२८].

[सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वे देहाद्यात्मबुद्धेः अनिन्द्यत्वशङ्कायाः समाधानम्]

ननु सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वे सर्वान्तःपातिनो देहस्यापि तथात्वेन तत्र जायमानायाः आत्मबुद्धेः प्रमात्वापातः. नच इष्टापत्तिः, देहात्मबुद्धेः श्रीमद्भागवतादौ निन्दितत्वाद् इति चेत्, सत्यम्! अजातब्रह्मज्ञानस्य देहं विकारवत्त्वेन पश्यतो मायामोहवशाद् जातायाः देहात्मबुद्धेरेव सर्वत्र शास्त्रेषु[२९] निन्दा. सर्वत्र ब्रह्मत्वेन पश्यतः स्वदेहेऽपि तथा भानाद् भवन्ती आत्मबुद्धिः प्रमारूपैव. तथा आह भगवान् भाष्यकारः ''आत्मकृतेः...'' (ब्र.सू.१।४।२६) इति सूत्रे[३०] ''देहात्मबुद्धिरस्तु सत्यां विकारबुद्धौ दोषः'' (ब्र.सू.भा.१।४।२३) इति.

ननु ''त्वय्यद्वितीये भगवन्नयं भ्रमः'' (भाग.पुरा.१०।५६।३०) इत्यादिवाक्यानां का गतिः? इति चेद्, अहन्ता-ममतात्मकस्य संसारस्य मिथ्याभूतस्य एतादृशवाक्यविषयत्वम् इति बोद्धव्यम्.

तथाच प्रपञ्चो ब्रह्मात्मकः, संसारस्तु अहन्ता-ममतात्मको मिथ्याभूतएव. एतच्च सुष्ठूपपादितं निबन्धादिष्विति विशेषजिज्ञासायां ततो अवधेयम् इति दिक्.

[प्रकरणोपसंहारतया प्रपञ्चसंसारयोः भेदः शाङ्करवेदान्तेऽपि स्वीकार्यएव इति आपादानम्]

[३१]एवमेव पञ्चदश्यामपि भगवत्कृतप्रपञ्चस्य अबाधकत्वं साधकत्वं च उक्तम्.

तथाहि चित्रदीपे —

तुच्छानिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा।
ज्ञेया माया त्रिभिर् बोधैः श्रौत-यौक्तिक-लौकिकैः॥
(पञ्चद.६।१३०) इति उक्तम्.

द्वैतविवेके(?) —

विद्यादृष्ट्या श्रुतं तुच्छं तस्य नित्यनिवृत्तितः॥
(पञ्चद.६।१२९) इति उक्तम्.

अनेन येषां शुद्धब्रह्मदृष्टिः तेषां ग्रन्थकृदाशयः सिद्ध्यति. तत्रैव अन्यदपि —

ननु ज्ञानानि भिद्यन्ताम् आकारस्तु न भिद्यते।
योषिद्वपुष्यतिशयो न दृष्टो जीवनिर्मितः॥

मैवं मांसमयी योषित् काचिदन्या मनोमयी।
मांसमय्या अभेदेऽपि भिद्यते हि मनोमयी॥
(पञ्चद.४।२४-२५).

निरूपितम् अग्रेच —

भाष्यवार्त्तिककाराभ्याम् अयम् अर्थ उदीरतः॥
मूषासिक्तं यथा ताम्रं तन्निभं जायते तथा।
रूपादीन् व्याप्नुवत् चित्तं तन्निभं दृश्यते ध्रुवम्॥
(पञ्चद.४।२७-२८) इति उपपादितम्.

अन्यच्च —

अबाधकं साधकं च द्वैतमीश्वरनिर्मितम्।
अपनेतुम् अशक्यञ्चेत्यास्तां तद् द्विष्यते कुतः?॥
(पञ्चद.४।४२).

इति उक्तेः भगवत्कृतबहुत्वस्य अबाधकत्वं साधकत्वं च अवादि.

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां धीमयो जीवबन्धकृत्।
सत्यस्मिन सुखदुःखे स्तः तस्मिन्नसति न द्वयम्॥
(पञ्चद.४।३२).

इति उक्त्या धीमयस्यैव 'संसार' पदवाच्यस्य बन्धकारणत्वम् अभाणि, सुखदुःखयोः तत्कृतत्वं च. "अतः सर्वस्य जीवस्य बन्धकृन्मानसं जगद्" (पञ्चद.४।३५) इति अग्रिमेण वाक्येन तदेव निर्धार्य उक्तम्. अतएव जीवकृतस्यैव बाधकत्वम् उक्तम्.

अग्रे —

ईक्षणादि-प्रवेशान्ता सृष्टिः ईशेन कल्पिता।
जाग्रदादि-विमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः॥
(पञ्चद.६।२१३) इति.

इह ईशकार्यस्य सृष्टित्वं जीवकार्यस्य संसारत्वम् इति प्रपञ्चसंसारयोः भेदो दर्शितः. सच निबन्धसुबोधिन्योः प्रतिपादितस्य प्रपञ्चसंसारभेदस्य अनुगतएव. एवम् अस्मिन् विषये अस्मन्मत-तन्मतयोः न कश्चिद् विरोधो भासते इति बोध्यम्. ये पुनः श्रुत्यर्थम् अन्यथा बुद्ध्वा भगवदात्मकस्य प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं जल्पन्ति ते मायावादिनः आसुराः "असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्" (भग.गीता.१६।१८) इति भगवद्वाक्यात् तेषामेव मोहनार्थं शङ्कराचार्याः श्लिष्टानि वाक्यानि उक्तवन्तो नतु आचार्याणां तथा हार्दम्. अतएव "आनन्दादयः प्रधानस्य" (ब्र.सू.३।३।१२) इत्यादिसूत्रव्याख्यानेषु अमायिकान् भगवद्धर्मान् अङ्गीकृतवन्तः. अतः शिष्टानां एतादृशएव अर्थो भासते अन्येषान्तु अन्यथा भासते इति सर्वम् अनवद्यम्.

इति श्रीमद्गोवर्द्धनधर-श्रीवल्लभाचार्य-श्रीविट्ठलेश्वर-चरणानुचरसेवकेन
लालूभट्टोपनाम-बालकृष्णेन कृते प्रमेयरत्नार्णवे
प्रपञ्चविवेकः सम्पूर्णः



॥पाठभेदतालिका॥

१. श्रीविट्ठलेशम् इति छ पाठः. २. एतत्संख्यांकितोंशः ङ-छ-ज पाठेषु अधिकः. ३. स आत्मानम् इति क ख ग घ ङ च छ ज मु-१ मु-२ पाठेषु, मुद्रितायामुपनिषदि 'तद्' इत्येव उपलभ्यते. ४. भगवत्कार्यः इति ङ छ शेषेषु 'ब्रह्मकार्यः' इति. ५. प्रागभावादिचतुष्टयम् इति मु-१-२-३. ६. 'ज्ञेयम्' इति छ ज मु-१-२-३ शेषेषु 'विज्ञेयम्' इति. ७. एतत्संख्यांकितोऽशः छ ज पाठयोः उपलभ्यते. ८. रूपस्य इति क ख ग घ ङ छ ज पाठो अयं मु-१-२-३ च पाठेषु नोपलभ्यते. ९. अत्र

‘भावः’ इति अधिकं छ पाठे. १०. ‘भगवता’ इंति छ पाठे. ११. इह ‘वस्तुग्रहणेन’ इति छ पाठः शेषेषु ‘वस्तुग्रहे’ इति. १२. एतत्संख्यांकितो वचनांशो ख ग पाठतः. १३. “त्वय्यैव...सदिवावभाति” इति श्लोकपूर्वार्धोऽपि ख पाठे. १४. अयं ग घ ङ छ ज पाठानुरोधेन, “अन्यथा भ्रमदृष्ट्या...भ्रमरूपमेव स्याद्” इति क ख मु-१-२-३ पाठेषु. १५. “विषये विषयता” इति मु-१-२-३ ख च पाठेषु. १६. एतत्संख्यांकितोंशः ख च मु-१-२-३ पाठेषु सञ्जातपंक्तिक्रमव्यत्यासबहुलः संशोधितस्तु क ग घ ङ छ ज पाठानुरोधेन. १७. एतत्संख्यांकितोंऽशः क ख ग घ ङ छ ज पाठानुरोधेन. १८. अङ्गीकारे इति घ ङ छ ज पाठानुरोधेन क ख ग च मु-१-२-३ पाठेषुतु ‘अङ्गीकाराद्’ इति. १९. ‘भ्रमणधर्ममात्रम्’ इति ङ छ पाठाभ्यां, ‘भ्रमणम्’ इतितु क ख ग घ च मु-१-२-३ पाठेषु, ‘यथा मायिकभ्रमणमात्रम्’ इति ज पाठे. २०. ‘अपि’ ख मु-१-२-३ पाठेषु नास्ति. २१. ‘आच्छदकान्यथाप्रतीतिहेतुरूपम्’ इति मु-१-३ पाठयोः ‘आच्छादिकान्य-’ इति मु.२ पाठे. २२. एतावानंशो क ग ङ छ ज पाठेषु उपलभ्यमानः ख घ च मु-१-२-३ पाठेषु त्रुटितो भाति. २३. एतावानंशः क ग घ ङ छ ज पाठेषु उपलभ्यमानो ख च मु-१-२-३ पाठेषु त्रुटितो भाति. २४. ‘पुंसो’ इति ज पाठात्. २५. सम्पूर्णोऽयं श्लोकः क ग घ ङ पाठेषु उपलभ्यते शेषेषु ख च छ ज मु-१-२-३ पाठेषुतु द्वितीयमेव चरणं केवलम्. २६. ‘तादृशभगवद्भक्तेषु’ इति छ ज पाठयोः अन्येषु ‘तादृशभक्तेषु’ इति. २७. “-वस्तुभ्यो वैशिष्ट्यम्” इति छ ज पाठयोः अन्येषु ‘-वस्तुवैशिष्ट्यम्’ इति. २८. ‘लेखेन’ इति क ख छ ज मु-१-२-३ पाठेषु अन्येषु ‘लेखनेन’ इति. २९. ‘सर्वत्र शास्त्रेषु’ इति छ ज पाठयोः अन्येषु ‘सर्वशास्त्रेषु’ इति. ३०. ‘इति सूत्रे’ इति छ ज पाठयोः अन्येषु ‘इत्यत्र इति. ३१.इत आरभ्य प्रकरणसमाप्तिं यावदंशो छ स्वहस्तारीयाद्यमातृकाव्यतिरिक्ते नैकस्मिन्नपि पाठे उपलभ्यते.



❋ जीवविवेकः ❋

[जीवरूपप्रमेयनिरूपणप्रतिज्ञा]

अथ जीवस्वरूपं विविच्यते[१]. तत्र :—

“तत्त्वमसि श्वेतकेतो” (छान्दो.उप.६।८।७)
“एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः”(मुण्ड.उप.३।१।९)
“ममैवांशो जीवलोके” (भग.गीता.१५।७)
“नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेत् नेतराधिकारात्” (ब्र.सू.२।३।२१)
“न नौ पश्यन्ति कवयश्छिद्रं जातु मनागपि” (भाग.पुरा.४।२८।६२)

इति श्रुति-गीता-व्याससूत्र-समाधिभाषा-वाक्यैः “ब्रह्माभिन्नो अणुः ब्रह्मांशो जीवः” इति राद्धान्तः.

[तादृग्जीवस्य अवस्थात्रयम् इति निरूपणम्]

तस्यच अवस्थात्रयं : (१)शुद्ध-(२)संसारि-(३)मुक्त-भेदात्.

[जीवानां शुद्धावस्थायाः निरूपणम्]

(१)तथाहि कारणभूताद् अक्षरब्रह्मणः सकाशाद् “यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुल्लिङ्गाः व्युच्चरन्ति” (बृह.उप.२।१।२०) इति श्रुतेः सच्चिदानन्दात्मको अणुः अंशो निःसरति. व्युच्चरणानन्तरं कारणरूपाक्षरगतस्य “विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तम्” (भाग.पुरा.१०।२४।४) इत्यादिप्रमाणसिद्धस्य भगवद्धर्मात्मकस्य विशुद्धसत्त्वस्य अंशभूतेन तादृक्सत्त्वेन भगवदिच्छया प्रबलीकृतेन आनन्दांशः तिरोभवति. तदा निरुपाधिको अणुरूपो अक्षरांशः चित्प्रधानः तिरोहितानन्दो ‘जीव’ शब्दवाच्यो भवति. तद् उक्तं वेदस्तुतिसुबोधिन्यां

"स्वकृतपुरेष्वमीषु" (भाग.पुरा.१०।८४।२०) इत्यत्र "जीवो नाम भगवतः चिदंशः" (सुबो.१०।८४।२०) इति. स्फुटीकृतञ्च भाष्ये "आनन्दांशस्तु पूर्वमेव तिरोहितो येन जीवभावः" (ब्र.सू.भा.३।२।५) इति. अत्र 'पूर्वमेव' इत्यस्य भगवदैश्वर्याद्यंशभूतैश्वर्यादितिरोभावात् पूर्वम् इति अर्थः. निबन्धेच "ततः साकाराः भगवद्रूपाअपि उच्चनीचभावेच्छया निर्गताइति निराकाराः जाताः" (त.दी.नि.१।२७) इति उक्तम्. इह 'आकार' शब्देन आनन्दाकारः उच्यते, "आनन्दो ब्रह्मवादे आकारसमर्पकः" (त.दी.नि.१।४४) इति तत्र निर्णयात्.

ननु व्यापकाद् ब्रह्मणो व्युच्चरणं न सम्भवति! इति चेत्, न, व्यापकत्वेऽपि विरुद्धधर्माश्रयतया "यथाग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिङ्गाः व्युच्चरन्ति" (बृह.उप.२।१।२०) इति श्रुतिसिद्धस्य व्युच्चरणस्यापि[२] अङ्गीकारात्. एवं सति "व्युच्चरणोपादानभूताद् ब्रह्मणः सकाशाद्[३] व्युच्चरतो ब्रह्मभूतस्य ब्रह्मभूते प्रदेशे ब्रह्मभूतं व्युच्चरणम्" इति उक्ते न कश्चिद् दोषः, "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छान्दो.उप.३।१४।१) इति श्रुतेः. तथैव उक्तं भगवता[४](भागवते!) "यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यदा, स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः" (भाग.पुरा.१०।८२।४) इति. अतो व्युच्चरणे सति आनन्दांशतिरोधानाद् जीवत्वम्[५]. व्युच्चरणोत्तरम् आनन्दांशतिरोधाने सति अविद्यासम्बन्धात् पूर्ववर्तिन्याम् अवस्थायां शुद्धजीवः इति व्यवहारः, "शुद्धसत्त्वव्यवस्थितिः" (ल.तं.१३।३७) इति लक्ष्मीतन्त्रात्. जीवे शुद्धत्वन्तु अविद्यासम्बन्धराहित्यम्.

[जीवानां बद्धावस्थायाः निरूपणम्]

(२)ततो अस्मिन् जीवरूपे भगवदंशे भगवदैश्वर्यादि-षड्गुणांशभूतानाम् ऐश्वर्यादीनां हरीच्छया तिरोभावः, "पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ" (ब्र.सू.३।२।५) इति तत्त्वसूत्रात्. तदा तेषां मध्ये केषुचिद् जीवेषु, रमणेच्छया विचारितस्य बहुत्व(बहु!)भवनस्य[६] सिद्धये उच्चभावेच्छा-विषयीभूतं मुक्त्यधिकाररूपं सूक्ष्मसद्वासनाविशिष्टं दैवत्वं सम्पादयति भगवान्, ते दैव[७]जीवाः मुक्तियोग्याः भवन्ति, "दैवी सम्पद् विमोक्षाय" (भग.गीता.१६।५) इति भगवद्वाक्यात्. ततोहि अविद्यासम्बन्धाद् बन्धो "बन्धोऽस्याविद्ययानादिः" (भाग.पुरा.११।११।४) इति वाक्यात्. अनादित्वन्तु कार्यान्तरापेक्षया अमरेषु अमरत्ववत्, तद् उपपादितं विद्वन्मण्डने. ततो (१)देहे(२)न्द्रिय(३)प्राणा(४)ऽन्तःकरणाध्यासाः[८] (५)स्वरूपविस्मृतिः च इति अविद्यायाः पञ्चपर्वाणि. तैः बद्धो [९]दुःखित्वम् अनीशतृत्वादिकम् अवास्तवधर्मपुञ्जं प्राप्नोति, "तच्छक्त्या विद्यया तु[९] अस्य जीवसंसार उच्यते" (त.दी.नि.१।२३) इति निबन्धाद्, "उच्यते नतु जायते, अभिमत्यात्मकत्वात्" (त.दी.नि.प्र.१।२३).

[जीवानां मुक्तावस्थायाः निरूपणम्]

(३)ततः सूक्ष्म-स्थूल-देह-सम्बन्धात् सांसारिकधर्मान्[१०] जन्ममरणादीन् अनुभवन् भगवत्कृपया सत्सङ्गादि लब्ध्वा पञ्चपर्वात्मिकां विद्यां प्राप्य परमानन्दलक्षणां मुक्तिं लभते, "वैराग्यं साङ्ख्ययोगौ च तपो भक्तिश्च केशवे, पञ्चपर्वेति विद्येयं यया विद्वान् हरिं विशेद्" (त.दी.नि.१।४५-४६) इति वाक्यात्. तत्र, यावत् पञ्चपर्वात्मिकां विद्यां प्राप्नुयात् तावत् 'संसारी' इति व्यवहारः, तदग्रे 'मुक्तः' इति शास्त्रीयो व्यवहारः.

[मुक्तेः प्रकारचतुष्टयं : (१)ऐहिकी जीवन्मुक्तिः, (२)पारलौकिकी दिव्यलोकेषु स्थितिः, (३)परममुक्तिः, (४)नित्यलीलाप्रवेशः च इति]

सच मुक्तजीवो द्विविधो : (१)जीवन्मुक्तो (२)मुक्तः चेति—

(१)तत्र सनकादयो गताविद्याः ते 'जीवन्मुक्ताः' उच्यन्ते.

(२)येतु व्यापिवैकुण्ठेतर-भगवल्लोक-वासिनः ते 'मुक्ताः' इति उच्यन्ते.

(३)ततः परमकृपया परममुक्तिः तत्रतु शुद्धब्रह्मत्वमेव इति निर्णयः.

(४)केचिद् उत्तमाः दैवास्तु सत्सङ्गादि प्राप्य मार्गरुचि-जन्य-श्रवणादि-समुद्भूत-स्वतन्त्र-भक्त्या फलरूपया नित्यलीलायां

प्रविशन्ति. स तेषां मोक्षः. [११]ते पुष्टिमार्गीया जीवाः.[११]

[आसुरजीवानां [१]स्वरूप-[२]सृष्टिस्थिति-[३]मुक्तीनां निरूपणम्]

(१)येतु दैवजीवेभ्यो व्यतिरिक्ताः तेषां षड्गुणतिरोधानानन्तरम् अविद्यासम्बन्धे नीचभावेच्छायाः[१२] विषयीभूतं मुक्तिप्रतिबन्धकम् असद्वासना-विशिष्टम् आसुरत्वं सम्पादयति भगवान्, तदा ते 'आसुरजीवाः' उच्यन्ते. तेहि असद्वासनावशात् तादृशं स्थूलदेहं प्राप्य निन्दितकर्मनिरताः सन्तो नीचयोनिगाः भवन्ति.

(२)ते सर्वदा संसारिणएव, "क्षिपाम्यजस्रमशुभान् आसुरीष्वेव योनिषु, आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि, मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्" (भग.गीता.१६।१९-२०) इति वाक्यात्.

(३)तेषान्तु तदैव अविद्याकार्यनाशो यदा भगवान् आत्मरतीच्छुः भवति. तदा भगवान् अविद्याकार्यं संसारं सर्वत्र स्थितं स्वयमेव जीवकृतसाधनानपेक्षो नाशयति. तदा तेषाम् आसुराणां सर्वदोषनाशात्[१३] पुनः शुद्धजीवत्वं भवति. ततः[१४] सर्वत्र जड़जीवात्मक-प्रपञ्चे[१५] तिरोधानकृत-वैजात्यनाशार्थं चिदानन्दौ प्रकटयति तदा पूर्वोक्तजीवेष्वपि अंशद्वयप्राकट्यम्.

[चिदानन्दांशतिरोधानेन प्रकटितजडजीवात्मकप्रपञ्चे पुनः तदंशयोः प्रादुर्भावे महाप्रलयः]

ततः प्रपञ्चो भगवति लीयते. तदा एकएव भगवान्, अक्षरस्यापि पुरुषोत्तमाभिन्नतया स्थितिः, "योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्" (भाग.पुरा.२।९।३२) इति भगवद्वाक्यात्, "भवानेकः शिष्यतेऽशेषसंज्ञः" (भाग.पुरा.१०।३।२५) इति श्रीदेवकीवाक्यात् च; सुबोधिन्यां तथैव व्याख्यातत्वात् च. अतएव "कृष्णस्यात्मरतौ त्वस्य लयः सर्वं सुखावहः" (त.दी.नि.१।२४) इति निबन्धे

उक्तम्.

[दैवजीवावान्तरभेदरूपाणां पुष्टिजीवानां निरूपणम्]

इदम् अत्र ज्ञेयम् : जीवाः द्विविधाः दैवाः आसुराः च. तत्र दैवाअपि द्विविधाः मर्यादामार्गीयाः पुष्टिमार्गीयाः च, "तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्नाएव न संशयः"(पु.प्र.म.१२) इति पुष्टिप्रवाहमर्यादानिरूपण[१६]ग्रन्थात्. भेदकस्तु बीजरूपो निरुपाधिको भावः. सच भगवता अविद्यासम्बन्धात् पूर्वं दैवत्वसम्पादनानन्तरं मर्यादामार्गीयजीवेभ्यो भेत्तुं [१७]विशेषानुग्रहेण पुष्टिमार्गीयत्व-सिद्धये स्थापितः. सच भावो भगवदिच्छया वृद्धः सन् पुष्टिमार्गीयफलं प्रापयिष्यति इति. एतत्तु[१७] उत्तरत्र *अधिकारविवेके* विवेचयिष्यते.

[दैवजीवावान्तरभेदरूपाणां मर्यादामार्गीयजीवानां मुक्त्युपायभेदमूलकाः पुनः अनेके उपभेदाः]

मर्यादामार्गीयाः जीवास्तु ज्ञान-भक्ति-कर्म-योगादिभिः सच्छास्त्रप्रतिपा-दितैः यथायथं मिलिताः बहुविधाः ज्ञेयाः. तेऽपि मुक्तौ अधिकारिणः.

अतो मुक्तिः पुष्टिमार्गीयाणां मर्यादामार्गीयाणां च भवति[१८], "अतएवेतरौ भिन्नौ सान्तौ मोक्षप्रवेशतः"(पु.प्र.म.११) इति आचार्यवाक्यात्; परन्तु, [१९]परममुक्तौतु भगवद्रूपतया वैलक्षण्याभावः, "परमानन्दलक्षणस्य मोक्षस्य वैजात्याभावाद्" (त.दी.नि.?) इति निबन्धाद्. अवान्तर[१९]मुक्तौ यो भेदः स उत्तरत्र प्रपञ्चयिष्यते.

[जीवानाम् अणुपरिमाणत्वोपपत्तिः]

ननु इदं सर्वं जीवस्य अणुत्वे सम्भवेत्! तत्तु सर्वदेहव्यापि-चैतन्योपलब्ध्यन्यथानुपपत्ति-सिद्धेन व्यापकत्वेन बाधितम् इति चेत्, न, "अविरोधश्चन्दनवद्" (ब्र.सू.२।३।२३) इति तत्त्वसूत्रे चन्दनदृष्टान्तेन अणुत्वेऽपि सर्वशरीरव्यापि-चैतन्योपलब्धेः साधितत्वात्. *ननु चन्दनस्य एकदेशवर्तित्वं

प्रत्यक्षेण गृहीत्वा तच्छैत्यं सकलशरीरे लभमानः तद्बलेन एकदेशस्थस्यापि चन्दनस्य तादृक् सामर्थ्यं कल्पयति. जीवेतु शरीरैकदेशवर्तित्वस्य प्रत्यक्षेण अनिर्द्धाराद् दृष्टान्तवैषम्येण तादृशसामर्थ्यसिद्ध्यभावात्, न पूर्वोक्तसमाहितिः* इति चेत्, न, प्रमाणवर्याभ्यः "कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः" (बृह.उप.४।३।७), "स वा एष आत्मा हृदि" (छान्दो.उप.८।३।३), "हृदि ह्येष आत्मा" (प्रश्नोप.३।६), इत्यादिश्रुतिभ्यः एकदेशस्थायित्वस्य निश्चयात्. एतद् आह सूत्रकारः "अवस्थितिवैशेष्याद् इति चेत्, न, अभ्युपगमाद् हृदि हि" (ब्र.सू.२।३।२४) इति[२०]. किञ्च "यथा वृक्षस्य संपुष्पितस्य दूराद् गन्धो वाति; एवं पुण्यस्य कर्मणो दूराद् गन्धो वाति" (महा.नारा.उप.८।२) इति श्रुतेः गन्धस्य द्रव्याधिकदेशवर्तित्वम्[२१], एवं चैतन्यगुणोऽपि अधिकदेशवर्तीति[२२], जीवस्य शरीरैकदेश-हृदय-स्थायित्वेऽपि सर्वदेहे चैतन्योपलम्भो भवत्येव. तदेतद्[२३] आह सूत्रकृत् "व्यतिरेको गन्धवद्" (ब्र.सू.२।३।२६) इति. नच *चम्पकाद्यवयवानां सूक्ष्माणां दूरदेशे प्रसृतत्वात् तत्र गन्धोपलब्धिः सुवचा* इति वाच्यं, हिङ्ग्वादेः अनेक-चर्मपुटादि-वेष्टितत्वेन अवयवनिर्गमनाभावेऽपि गन्धग्रहणात्, लशुनस्पृशि करादौ बहुधा क्षालनेन अवयवाभावेऽपि गन्धानपायात् च. एतच्च सुष्ठूपपादितं प्रभुचरणैः विद्वन्मण्डने.

[जीवानां व्यापकत्वनिराकरणम्]

नच *"स वा एष महानज आत्मा" (बृह.उप.४।४।२२) इति श्रुतेः व्यापकत्वम्* इति वाच्यं, "नाणुरतच्छ्रुतेः इति चेत्, न, इतराधिकारात्" (ब्र.सू.२।३।२१) इति तत्त्वसूत्रेण ब्रह्म अधिकृत्य इयं श्रुतिः प्रवृत्ता इति प्रदर्श्य अणुत्वस्यैव साधितत्वात्. *ननु "नित्यः सर्वगतः स्थाणुः अचलोऽयं सनातनः" (भग.गीता.२।२४) इति भगवद्वाक्याद् व्यापकत्वम्* इति चेत्, न, "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" (मुण्ड.उप.३।२।९) इति श्रुतेः ब्रह्मभावे सति भगवद्धर्माविशे जायमानस्य व्यापकत्वस्य भगवद्वाक्यविषयत्वात्. तद् उक्तं निबन्धे "व्यापकत्वश्रुतिस्त्वस्य भगवत्त्वेन युज्यते" (त.दी.नि.१।५३) इति. तर्हि व्यापकतायाम् अणुत्वस्य निवृत्तेः अवास्तवम् अणुत्वम्! इति चेत्, न, ब्रह्मणो विरुद्धधर्माश्रयत्वेन अणुरूपेऽपि व्यापकतायाः अदोषात्.

एतद् उपपादितं निबन्धे "अण्वपि ब्रह्म व्यापकं भवति. यथा कृष्णो यशोदाक्रोडे स्थितोऽपि सर्वजगदाधारो भवति" (त.दी.नि.प्र.१।५४) इत्यन्तेन. अतो जीवो अणुरेव. तस्य चैतन्याख्यो गुणः सर्वदेहं व्याप्नोति. तद् उक्तं नारदपञ्चरात्रे लक्ष्मीतन्त्रे त्रयोदशाध्याये "चैतन्यमस्य धर्मो यः[२४] प्रभा भानोरिवामला, तया स्फुरति जीवोऽसौ स्वतएवानुरूपया" (ल.तं.१३।२५-२६) इति. "यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुल्लिङ्गाः व्युच्चरन्ति" (बृह.उप.२।१।२०) इति श्रुतिः स्पष्टमेव अंशत्वं ब्रूते. सूत्रकारोऽपि "अंशो नानाव्यपदेशात् अन्यथा चाऽपि दाशकितवादित्वमधीयत एके" (ब्र.सू.२।३।४३) इत्यनेन अंशतां स्फुटं निरणयदिति पूर्वोक्तं अखिलम्[२५] अनवद्यम्.

इति श्रीमद्गोवर्द्धनधर-श्रीवल्लभाचार्य-श्रीविट्ठलेश्वर-चरणानुचरसेवकेन
लालूभट्टोपनाम-बालकृष्णेन कृते प्रमेयरत्नार्णवे
जीवविवेकः समाप्तिम् अगात्



।।पाठभेदतालिका।।

१. 'निरूप्यते' इति छ पाठः, 'विविच्यते' इति ज पाठः, मु१-२-३पाठस्तु 'विचार्यते' इति. २. 'अपि' इति क ख घ ङ च छ ज पाठेषु, ग मु-१-२-३ पाठेषु नोपलभ्यते. ३. 'सकाशाद्' इति ज . ४. 'भगवता' इति निखिलेषु मु-३ व्यतिरिक्तेषु. ५. 'जीवत्वे' इति क ग घ. ६. 'बहुत्वभवनस्य' इति निखिलेषु मु-३ व्यतिरिक्तेषु पाठेषु. ७. 'तदेव जीवाः' इति निखिलेषु क ङ व्यतिरिक्तेषु पाठेषु. ८. इह 'देहेन्द्रियान्तःकरणाध्यास'पदे 'प्राण' शब्दः ग घ व्यतिरिक्तेषु सर्वेष्वपि पाठेषु त्रुटितो भाति. ९. क ग घ ङ छ ज पाठस्थितोयमंशः अन्येषु त्रुटितो भाति. १०. 'संसारिधर्मान्' इति ख च मु-१-२-३ पाठेषु. ११. एतत्संख्यांकितोंऽशः ज पाठे अधिकः. १२. '-भावेच्छया' इति छ पाठः. १३. 'सर्वदोषनाशाद्' इति छ ज पाठयोः, 'सर्वदोषाणां नाशाद्' इति निखिलेष्वपि मु-१-२-३ पाठेषु. १४. 'ततः' इति छ ज पाठयोः, 'तत्र' इति एतद्व्यतिरिक्तेषु सर्वेषु. १५. 'प्रपञ्चतिरोधानतिरो-' इति ग पाठः.

१६. 'निरूपकग्रन्थात्' इति ङ पाठः. १७. एतत्संख्यांकितोंऽशः क ग घ ङ छ ज पाठेषु, "विशेषानुग्रहेच्छया पुष्टिमार्गीयफलं प्रापयिष्यति. सतु उत्तत्र" इति मु-१-२ पाठौ, "प्रापयिष्यामि इत्येवं सतु उत्तत्र" इति पाठान्तरेण मु-३ पाठे. "प्रापयिष्यति एवं तत्तु उत्तत्र" इति ख च पाठौ. १८. 'भवति' इति ङ पाठः. १९. एतत्संख्यांकितोंऽशः छ पाठे अधिकः. २०. 'इति' शब्दो मु-३ पाठे त्रुटितः. २१. 'द्रव्याधिकदेशसमवर्तित्वम्' इति मु-३ व्यतिरिक्तेषु नोपलभ्यते. २२. 'अधिकदेशवर्तीति' इति छ ज पाठयोः. २३. "तदाह सूत्रकृद्" इति निखिलेषु मुद्रितेषु. २४. '-धर्मोहि' इति मु-१-२-३ पाठेषु. २५. 'निखिलम्' इति निखिलेषु मु-३ व्यतिरिक्तेषु.



❊ मूलरूपविवेकः ❊

[प्रकरणोपक्रमः]

अथ मूलरूपं विचार्यते.

तत्र :—

'कृषिर्' 'भू'वाचकः शब्दो[१] 'ण'श्च 'निर्वृति' वाचकः।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म 'कृष्ण' इत्यभिधीयते॥
(गो.पू.ता.उप.१।१)

ॐ तत् सत् परं ब्रह्म कृष्णात्मको नित्यानन्दैकस्वरूपः
सोऽहम्, ॐ तद् गोपालएव परं सत्यम् अबाधितम्.
(गो.उ.ता.उप.१५) इति,

परं ब्रह्म एतद् यो ध्यायति रसति भजति[२] सोऽमृतो
भवति[२].
(गो.पू.ता.उप.१।१) इत्यादिश्रुतेः,

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय!
(भग.गीता.७।७),

अक्षरादपि चोत्तमः.
(भग.गीता.१५।१८) इति भगवद्वाक्यात् च,

श्रीकृष्णः परं ब्रह्म इति निष्कर्षः.

[१.श्रीकृष्णोहि परब्रह्म परमानन्दरूपः पुरुषोत्तमः प्राकृतगुणधर्माकारादिरहितो अप्राकृतगुणधर्माकारादिरूपः च]

(१)अतएव "परं ब्रह्मतु कृष्णोहि" (सिद्धा.मुक्ता.३) इति मुक्तावल्यां श्रीमदाचार्यैः उक्तम्. सच "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता" (श्वेता.उप.३।१९), "अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः" (मुण्ड.उप.२।१।२) इत्यादिश्रुतेः प्राकृतपाणिपादादिर-

हितः सच्चिदानन्दविग्रहः. "आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्" ( ) "सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकर्मणे नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे" (गो.उ.ता.उप.१) "सर्वतः पाणिपादान्तम्[३]" (श्वेता.उप.३।१६) इत्यादिश्रुतेः "आनन्दमूर्तिमजहादतिदीर्घतापम्" (भाग.पुरा.१०।४५।७) "आनन्दमात्रकरपा-दमुखोदरादिः" ( ) इत्यादिपुराणतन्त्राभ्याम् आनन्दात्मक-कर-चरणादि-रूपः. "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं" (श्वेता.उप.६।१९) "सर्वकामः सर्वगन्धः" (छान्दो.उप.३।१४।२) "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते [४]स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च[४]" (श्वेता.उप.६।८) इत्यादिश्रुतिभिः अप्राकृतधर्माधारः. तद् उक्तं निबन्धे "सर्वाधारं वश्यमायमानन्दाकारमुत्तमं प्रापञ्चिकपदार्थानां सर्वेषां तद् विलक्षणम्" (त.दी.नि.१।६७) इति. तथाच निषेधकश्रुतीनां प्रातीतिक-प्राकृत-धर्मविषयत्वं धर्मविधायकोपनिषदान्तु अप्राकृत-नित्य-श्रौत-धर्म-विषयत्वम् इति व्यवस्थयाहि[५] अविरोधो अस्मत्सिद्धान्ते, यद् आह भगवान् भाष्यकारः "प्रतीतञ्च निषेध्यं, नाप्रतीतं, न श्रुतिप्रतीतम्" (ब्र.सू.भा.१।१।२) इति. [६*]ननु निषेधानां प्राकृतधर्मविषयत्वं न सम्भवति, प्रकृतेः भगवदात्मकत्वाद्[*] इति चेत् सत्यं! प्रकृतिः=माया, "मायान्तु प्रकृतिं विद्याद्" (श्वेता.उप.४।१०) इति श्रुतेः. प्रकृत्या=मायया उत्पादिताः= प्राकृताः, प्राकृताश्च ते धर्माश्च=प्राकृतधर्माः, ते ब्रह्मणि निषिध्यन्ते. तथाच, मायायाः शक्तित्वेन सत्यत्वेऽपि, मायोत्पादितानां मिथ्यात्वाद् मायया घटादौ उत्पादिताः विषयतारूपाः धर्माः प्राकृतधर्माः, ते ब्रह्मणि न सन्त्येव[६]. सच परमकाष्ठापन्नः 'पुरुषोत्तम' शब्दवाच्यः कृष्णः. सदा प्रकटालौकिकसर्वधर्मा नित्यसर्वलीलो, "दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्" (भाग.पुरा.२।१०-।२) इति शुकवाक्याद्, "यस्य लीला नवविधाः[७] स शुद्धः पुरुषोत्तमः" (त.दी.नि.३।१२।७), इति निबन्धात्, "श्रीकृष्णं परमानन्दं दशलीलायुतं सदा" (त.दी.नि.३।१।१) इति स्पष्टमेव श्रीभागवतार्थ प्रकरणारम्भे निरूपितत्वात् च.

[तस्यैतस्य श्रीकृष्णस्य बहुविधानि रूपाणि सन्ति]

सहि द्विभुज-चतुर्भुजादिरूपैः बृहद्वन-वृन्दावन-व्यापिवैकुण्ठादिषु तत्तद्भ-

क्तैः सह रममाणः सर्वदा विजयते, "परिपूर्णतमः कृष्णो वैकुण्ठे गोकुले स्वयं चतुर्भुजश्च वैकुण्ठे गोकुले द्विभुजः स्वयम्" (ब्र.वै.पुरा.) इति ब्रह्मवैवर्तात्. अतएव परमानन्दः "रसो वै सः" (तैत्ति.उप.२।७), "एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति" (तैत्ति.उप.२।८) इत्यादिश्रुतेः, "आनन्द-मयोऽभ्यासात्" (ब्र.सू.१।१।११) "पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः" (भाग.पुरा.१०।८४।१७) इति तत्त्वसूत्र-श्रीभागवतीयश्रुतिस्तुतिभ्यां च. एतच्च भाष्य-सुबोधिन्योः स्फुटम्. अतएव "आत्मानन्दसमुद्रस्थं कृष्णमेव विचिन्तयेद्" (सिद्धा.मुक्ता.१५) इति मुक्तावल्याम् उक्तम्.

[२. निखिलप्रपञ्च-कारणकारणभूत-स्वरूपम् अक्षरब्रह्मापि श्रीकृष्णस्यैव रूपान्तरम्]

(२)तस्यैव "बहु स्यां प्रजायेय" (तैत्ति.उप.२।६) इति श्रुत्युक्तया इच्छया सकलकारणकारणभूतं रूपान्तरम् आविर्भवति. तस्मिन् रूपे भगवद्धर्मात्मक-सत्त्वेन आनन्दांशः तिरोहितइव भवति, तदा तद् रूपम् 'अक्षरब्रह्म'[९] शब्दवाच्यं भवति. तद् अक्षरं ब्रह्म अधिकारिभेदेन द्विधा स्फुरति.

[२/क. भगवद्भक्तिभास्यम् अक्षरस्य प्रथमं स्वरूपम्]

(२/क)तत्र भक्तानां पुरुषोत्तमधाम-व्यापिवैकुण्ठाद्यात्मकत्वादि-धर्मवत् प्रतीयते —

अव्यक्तो 'ऽक्षर' इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥
(भग.गीता.८।२१) इति गीतावाक्यात्,

दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम्।
सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म ज्योतिः सनातनम्॥
(भाग.पुरा.१०।२५।१४-१५)इति श्रीभागवतवाक्यात्[१०] च.

अतएव उक्तं निबन्धे "प्रभुत्वेन हरेः स्फूर्तौ लोकत्वेन तदुद्भवः" (त.दी.नि.२।१०२) इत्यादि. भक्तप्रत्यक्षविषयीभूते अस्मिन् अक्षररूपे केषाञ्चिद् गुणानां प्राकट्यम् अन्येषां भगवद्गुणानां तिरोधानमेव इति ज्ञेयम्.

नच *तिरोभावस्य अज्ञानमूलकतया न ब्रह्मणि सः* इति वाच्यम्, "आविर्भाव-तिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिणः" (   ) इति वाक्याद् [११]भगवच्छक्तित्वेन अज्ञानमूलकत्वाभावात्[११]. *ननु विद्यमानस्य प्रतीत्यविषयता तिरोभावः, तथा सति[१२] सर्वज्ञे ब्रह्मणि न सम्भवः तस्य. तदानीं जीवस्य अभावात्, तद्बुद्ध्यभिप्रायेणापि न वक्तुं शक्यः!* इति चेत्, न, "सतः पदार्थस्य स्वकार्याकारित्वं तिरोभावः" इति लक्षणात्. अतएव ब्रह्मनिष्ठस्य प्रलयकर्तृत्वादेः[१३] प्रपञ्चस्थित्यवसरे[१४] स्वकार्याकारित्वरूपएव तिरोभावो अङ्गीक्रियते. एवं सर्वत्र बोध्यम्. "सद्विषयकप्रतीत्यभाव"रूपस्तु तिरोभावो मायाकृतो बद्धजीवधर्मः एतद्भिन्नः इति दिक्.

[२/ख.ब्रह्मज्ञानभास्यम् अक्षरब्रह्मणो अपरं स्वरूपम्]

प्रकृतं वदामः —

(२/ख)ज्ञानिनान्तु तद् अक्षरं[१५] सच्चिदानन्दत्व-देशकालापरिच्छिन्नत्व-स्वयंप्रकाशत्व-गुणातीतत्वादि-स्वरूपं भासते, "व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वात् नतूपलब्धिवद्" (ब्र.सू.३।३।५४) इत्यत्र भाष्ये अक्षरस्य द्वेधा स्फूर्तिनिरूपणात्. अतो ज्ञानिनां प्रकाशमाने अक्षरे ब्रह्मणि सर्वेषां धर्माणां तिरोभावाद् एकस्याः तिरोधानशक्तेरेव प्राकट्यात् निर्धर्मकम् इति शास्त्रे[१६] व्यवह्रियते, "संसुप्तवच्छून्यवदप्रतर्क्यं तन्मूलभूतं पदमामनन्ति" (भाग.पुरा.१२।४।२१), "शब्दो न यत्र पुरुकारकवान् क्रियार्थो माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना, तद्वै पदं भगवतः परमस्य पुंसो 'ब्रह्मे'ति यद् विदुरजस्रसुखं विशोकम्" (भाग.पुरा.२।७।४७-४८) इत्यादिवाक्यात्, नतु श्रुत्युक्तधर्मशून्यं, तथा सति असतः सत्ता स्याद्. तत्रैव[१७] "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखः" (श्वेता.उप.३।३)

इत्यादिश्रुत्युक्तधर्मस्वीकारे[१८] औपाधिकपक्षो वा स्यात्. अतो वेदोक्त-कर्तृत्वादि-धर्माणां[१९] तिरोभावएव नतु अभावो, "अभावास्तु अस्मन्मते तिरोभावातिरिक्ताः न भवन्ति" (सुबो.२।९।३२) इति द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्याः[२०].

नच *एवं 'ब्रह्मणि दुःखं नास्ति' इति उक्तौ[२१] दुःखतिरोभावस्वीकाराद् दुःखसत्तापत्तिः* इति वाच्यं, दुःखस्य मायिकत्वेन मिथ्यात्वात् तदभावस्यापि मिथ्यात्वस्वीकारात्. अतएव कैश्चिद् निर्धर्मक[२२]वादिभिः स्थूलत्वाद्यभावानां मिथ्यात्वम् अङ्गीकृतम्, अन्यथाहि अभावनिरूपितं द्वैतं स्यादिति. अतो मायिकधर्माणां भ्रान्तप्रतीतिमात्रसिद्धानां दुःखादीनां मिथ्यात्वेन तदभावस्यापि मिथ्यात्वं, वन्ध्यासुत-तदभाव-वत्. श्रुत्युक्तधर्मप्रतियोगिकाः अभावास्तु तिरोभावात्मकाः इति विवेकः. अतः तिरोभावस्वीकारे न कश्चिद् दोषः.

तद् एवं तिरोहितसर्वशक्तिकं सर्वव्यवहारातीतम् एकं ब्रह्मणो रूपं "येत्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते, सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्" (भग.गीता.१२।३) इति गीतावाक्ये एतदेव स्वरूपम् उक्तम्.

तथाच 'पुरुषोत्तम' शब्दवाच्यं श्रीकृष्णस्वरूपम्[२३] एकम्, अक्षरं द्वितीयं, तच्च पूर्वोक्तरीत्या द्विविधमिति ब्रह्मणो रूपत्रयं दर्शितम्.

[३/क.जडसृष्टि-तदधिदेवानां नियमनार्थं पुरुषोत्तमस्यैव रूपान्तरं समष्ट्यन्तर्यामी नारायणः]

(३/क)पुरुषोत्तमस्य तस्यैव सर्वनियमनादि*[२४]कार्यसिद्ध्यर्थं सूर्यमण्डलादौ पृथिव्याम्[२५] अधिदैवादिषु स्थितं यद् रूपं तद् 'अन्तर्यामि' शब्दवाच्यं, "य आदित्ये तिष्ठन् आदित्याद् अन्तरो, यम् आदित्यो न वेद, यस्य आदित्यः शरीरं, य आदित्यम् अन्तरो यमयति, एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः" (बृह.उप.३।७।९) इति श्रुतेः, "भेदव्यपदेशाच्चान्यः" (ब्र.सू.१।१।२०) इति सूत्रात् च, "य इमं च लोकं परं च लोकं, सर्वाणि भूतानि अन्तरो यमयति" (बृह.उप.३।७।१) इति उपक्रम्य "यः पृथिव्यां तिष्ठन्

पृथिव्याः अन्तरो, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं, यः पृथिवीम् अन्तरो यमयति, एष त आत्मा अन्तर्यामी अमृतः'' (बृह.उप.३।७।३) इति श्रुतेः, ''अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशाद्'' (ब्र.सू.१।२।१८) इति तत्त्व[२६]सूत्रात् च.

अयं 'पुरुष' शब्देन उच्यते :—

विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि 'पुरुषा'ख्यान्यथो विदुः।
प्रथमं महतः स्रष्टृ, द्वितीयं त्वण्डसंस्थितम्।
तृतीयं सर्वभूतस्थं, तानि ज्ञात्वा विमुच्यते॥
( )इति वाक्यात्.

[समष्ट्यन्तर्यामिणः सर्वावतारमूलत्वम्]

अयंहि सर्वेषां लीलावताराणां मत्स्यादीनां मूलं ''लीलावतारान् पुरुषस्य भूम्नः'' (भाग.पुरा.२।६।४५) इति द्वितीयस्कन्धात्, ''तेच पुनः अवताराः कस्य? इति अपेक्षायां, यस्तु भूमा पुरुषो ब्रह्माण्डाद् अधिको अन्तर्यामिरूपो द्वितीयध्याने उक्तः, तस्य अवताराः'' (सुबो.२।६।४५) इति सुबोधिन्यां व्याख्यातत्वात् च. द्वितीयध्यानन्तु ''केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्'' (भाग.पुरा.२।२।८) इत्यत्र उक्तम्. एतद्व्याख्याने ''पुरुषाद् अतिरिक्तं रूपम् अतिरेकार्थं भजन्ते. अतिरिक्तमपि पुरुषाकारं वसन्तं तृतीयं पुरुषम्'' (सुबो.२।२।८) इति सुबोधिन्याम् उक्तम्. एवं सति ''तृतीयं सर्वभूतस्थम्'' इत्यत्र उक्तम् अन्तर्यामिरूपम् इति सूचितम्. अतएव ''यत्रोद्यतः क्षितितलोद्धरणाय बिभ्रद्'' (भाग.पुरा.२।७।१) इत्यस्य आभासे ''अन्तर्यामिस्व–रूपे 'प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्' (भाग.पुरा.२।२।८) इत्यादिपदैः यत् निरूपितं भगवत्स्वरूपं तस्य अत्र पदशो[२७] अवताराः उच्यन्ते'' (सुबो.२।७।१) इति सुबोधिन्याम् उक्तम्. ''एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'' (भाग.पुरा.१।३।२८) इत्यत्र एषएव अन्तर्यामी 'पुं' शब्देन उक्तः ''पुंसो नारायणस्य ब्रह्माण्डमूर्तेः अंशाः कलाः च''(सुबो.१।३।२८) इति व्याख्यातत्वात्. अतएव ''य आदित्ये तिष्ठन्'' (बृह.उप.३।७।९) इत्यारभ्य ''स त आत्मा अन्तर्यामी अमृतः'' (बृह.उप.३।७।९) इत्यत्र उक्तस्य अन्तर्यामिणो

नारायणत्वं स्मर्यते :—

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती
नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी
हारी हिरण्मयवपुः धृतशङ्खचक्रः॥
(आदि.हृद.५५) इति.

अतः पुरुषोत्तमस्य रूपान्तरम् 'अन्तर्यामि' संज्ञकम् एकम्, सर्वे तस्य अवताराः, ''एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'' (भाग.पुरा.१।३।२८) इति वाक्यात्[२८].

[३/ख.तत्तज्जीवनियमनार्थं पुरुषोत्तमस्यैव अपरं रूपं व्यष्ट्यन्तर्यामी]

(३/ख)अक्षरात् निर्गमनं येषाम् अन्तर्यामिणाम् उक्तं तेतु एतस्य मुख्यान्तर्यामिणो अंशाः बोध्याः. तेहि आनन्दप्रधानाः जीववत् प्रतिशरीरं भिन्नाः नियतनियामकत्वधर्माणः तत्तज्जीवमात्रनियामकाः. ''जडजीवान्तर्यामिषु एकैकांशप्राकट्याद्'' (ब्र.सू.भा.१।१।३) इति ''तत्तु समन्वयाद्'' (ब्र.सू.१।१-।३) इति तत्त्व[२९]सूत्रभाष्ये एतएव उक्ताः. अतः परं लीलावताराणां गुणावताराणां च स्वरूपं विविच्यते.

[पूर्वोक्तस्य समष्ट्यन्तर्यामिणो अलौकिकगुणनिरूपणपूर्विका (३/ग)लीलावताराणां (३/घ)गुणावताराणां च स्वरूपविवेचना]

तत्र :—

''विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तम्'' (भाग.पुरा.१०।२४।४), ''सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्तिः'' (भाग.पुरा.१०।८६।१८), [३०]''सत्त्वं विष्टभ्य विरजम्'' (भाग.पुरा.३।१५।१५)[३०], ''सत्त्वं विशुद्धं श्रयते भवान् स्थितौ'' (भाग.पुरा.१०।२।३४) इत्यादिवाक्येभ्यः, प्राकृतसत्त्वाद् इतरद् भगवद्धर्मात्मकं सत्त्वम् अस्ति. एवं प्राकृतरजस्तमोभ्याम् इतरे भगवद्धर्मात्मके रजस्तमसी-अपि

स्तः, "विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तम्" (भाग.पुरा.१०।२४।४) इत्यस्य सुबोधिन्यां त्रयाणामपि अप्राकृतत्वनिरूपणात्. "सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रयः" (भाग.पुरा.२।५।१८) इत्यत्र भगवद्-गुणत्वेन त्रयाणाम् उक्तेः, सुबोधिन्यां तथा व्याख्याततत्वात् च.

(३/ग)तत्र अप्राकृतसत्त्वे[३१] स्वचिकीर्षित-मत्स्याद्याकृतिं विधाय तत्र अयःपिण्डे वह्निरिव आविर्भूय तत्तत्कार्याणि करोति [३२]मत्स्याद्यवतारे, प्रथमस्कन्धतृतीयाध्यायसुबोधिन्यां "सत्त्वरूपशरीरेषु ब्रह्मणः संक्रमः स्मृतः" (सुबो.कारि.१।३।६।१) इति उक्तत्वात्. इदं वेदान्तसूत्रतृतीयाध्यायभाष्ये स्फुटम्. अतएव "यस्यावतारो भूतानां क्षेमाय च भवाय च" (भाग.पुरा.१।१।१५) इत्यस्य सुबोधिन्यां "अवतरणम्(=अवतारो)... अलौकिकतेजसः संक्रमणम्" (सुबो.१।१।१५) इति उक्तम्[३२].

(३/घ)अस्मिन् विशुद्धसत्त्वात्मके विग्रहे जगत्स्थिति-कार्यचिकीर्षया वह्न्ययोगोलकन्यायेन आविश्य 'विष्णु' संज्ञां भजते. स गुणावतारो विष्णुः. अप्राकृते रजसि विग्रहभूते वह्न्ययोगोलकन्यायेन प्रविष्टो[३३] 'ब्रह्म' संज्ञां भजते. अप्राकृते तमसि विग्रहभूते वह्न्ययोगोलकन्यायेन प्रविष्टः 'शिव' शब्दवाच्यो भवति. एते त्रयो गुणावताराः अप्राकृतदेहाअपि प्राकृतसत्त्वरजस्तमसां "सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्तः परः पुरुषः" (भाग.पुरा.१।२।२३) इत्यादिप्रमाणसिद्धानां पूर्वोक्तभगवद्धर्मसत्त्वादिभ्यो भिन्नानां नियामकतया 'सगुणाः' उच्यन्ते वस्तुतस्तु निर्गुणाः[३३]. अतएव एते पुराणादिषु परब्रह्मधर्मवत्त्वेन स्तूयन्ते, अंशिना कृष्णेन अभेदात्.

[त्रयाणामपि गुणावताराणां सर्वथा तौल्येऽपि विष्णोः कश्चन विशेषः]

अत्र एतावान् विशेषः — त्रयाणां गुणावतारत्वेऽपि विष्णौ चतुर्भुजाद्याकाराणां पीताम्बर-वनमालादीनां पुरुषोत्तमधर्माणां बहूनां प्रकटत्वेन ब्रह्मशिवापेक्षया उत्कृष्टत्वं ज्ञेयम्. अतएव "श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोः नृणां स्युः" (भाग.पुरा.१।२।२३) इति श्रीभागवते उक्तम्.

[प्रकरणार्थसंकलनम्]

एतावता ग्रन्थेन सिद्धम् एतद् : मूलरूपस्य चत्वारि रूपाणि —

(१)तत्र एकं पुरुषोत्तमस्वरूपं 'श्रीकृष्ण'शब्दवाच्यम्.
(२-३)एकम् अक्षरस्वरूपं, तच्च पूर्वोक्त(२/क+२/ख)रीत्या द्विविधम्.
(४)एकम् अन्तर्यामि(क-ख-ग-घ)रूपम्.

एवं चातुर्विध्यं ज्ञेयम्. इदम् अलौकिकं प्रमेयं वेदान्तप्रतिपाद्यं भगवत्कृपैकलभ्यं यथाबुद्धि मया निरूपितम्. विशेषजिज्ञासायान्तु भाष्य-सुबोधिनी-निबन्ध-विद्वन्मण्डनादयो ग्रन्थाः अवलोकनीयाः इति अलं लेखनेन.

इति श्रीमद्गोवर्धनधर-श्रीवल्लभाचार्य-श्रीविठ्ठलेश्वर-चरणानुचरसेवकेन लालूभट्टोपनाम-बालकृष्णेन कृते प्रमेयरत्नार्णवे मूलरूपविवेकः सम्पूर्णः



॥ पाठभेदतालिका ॥

१. 'प्रोक्तो' इति क ख ङ च ज मु-१-२-३ पाठेषु, 'शब्दो' इति ग घ पाठयोः. २. एतत्संख्यांकितोंऽशः घ ङ-व्यतिरिक्तेषु नोपलभ्यते. ३. सर्वास्वपि मातृकासु एवमेव पाठः उपलभ्यते मुद्रितायान्तु उपनिषदि "पाणिपादं तद्" इति उपलभ्यते. ४. एतत्संख्याकितोंऽशः छ पाठे अधिकः उपलभ्यते. ५. 'तु' इति मु-१-२-३ पाठेषु क ख ग घ ङ च छ ज पाठेषु 'हि' इत्येव. ६. एतत्संख्यान्तःश्लिष्टोंशः क ग घ ज व्यतिरिक्तपाठेषु त्रुटितः. ७. 'प्रोक्ताः' इति भागवतार्थनिबन्धे उपलभ्यमानः पाठः. ८. 'भागवतार्थ-' इति ज पाठात्. ९. 'अक्षरब्रह्मशब्दवाच्यम्' इति क ख

ग घ ङ च छ ज मु-१ मु-२ पाठेषु उपलभ्यमानं 'ब्रह्म'पदं मु-३ पाठे त्रुटितम्. १०. 'भागवताद्' इति मु-१-२-३ पाठेषु 'भागवतवाक्यात्' इति छ ज पाठानुरोधात्. ११. 'भगवच्छक्तित्वात्' इति मु-१-२-३ पाठेषु एतत्संख्यांकितोंशः ग घ ज पाठानुरोधेन. १२. 'तथाच' इति ज पाठे. १३. 'प्रलयकर्तृत्वस्य' इति क ग पाठयोः, 'प्रलयकर्तृत्वादेः' इति घ ङ च मु-१-२-३ पाठेषु. १४. 'स्थित्यवसरे' इति क ख ग ज मु-१-२-३ पाठेषु, 'स्थित्यादौ' इति घ ङ पाठयोः. १५. 'तद् अक्षरम्' इति ज पाठे अधिकम्. १६. 'शास्त्रे' इति छ पाठे. १७. 'तत्रैव' इति घ पाठानुरोधेन. १८. 'श्रुत्युक्तधर्मास्वीकारे' इति ख. १९. 'वेदोक्तकर्तृत्वादिधर्माणाम्' इति क ग घ ज पाठेषु, 'वेदोक्तधर्माणाम्' इति ख ङ च छ मु-१-२-३ पाठेषु. २०. 'सुबोधिन्याः' इति क ग घ ङ छ ज 'सुबोधिन्याम्' इति ख च मु-१-२-३ पाठेषु. २१. 'उक्तेः' इति क ख ग च मु-१-२-३पाठेषु 'उक्तौ' इति घ ङ छ ज पाठानुरोधेन. २२. 'निर्धर्मक'क घ ङ ज 'निर्धर्म' इति ख ग च छ मु-१-२-३. २३. 'श्रीकृष्णस्वरूपम्' इति ख घ ङ च छ ज मु-१-२-३पाठेषु, 'रूपम्' इति क ग पाठयोः. २४. 'स्वरूपनियमनादि...' इति मु-३ पाठो निर्मूलो भाति. 'सर्वनियमनादि...' इति क ग घ ङ छ ज पाठेषु. २५. 'पृथिव्याम्' इति क ख ग घ ङ च छ ज पाठेषु 'पृथिव्याः' इति मु-१-२-३ पाठेषु. २६. 'तत्त्व-' इति ज पाठे अधिकम् उपलभ्यते. २७. 'दशावताराः' इति ङ मु-१-२-३ पाठेषु, 'अंशावताराः' इति ख , 'पदशो' इति क ग घ छ ज, 'दपशो' इति च. २८. 'भागवतवाक्याद्' इति मु-३ पाठो निर्मूलो भाति. २९. 'तत्त्व-' इति छ पाठे अधिकम् उपलभ्यते. ३०. एतत्संख्यान्तःश्लिष्टोंशः मु-१-२-३ पाठेषु त्रुटितः. ३१. 'अप्राकृतसत्त्वम्' इति क ख ङ च छ ज मु-१-२-३ पाठेषु, 'अप्राकृतसत्त्वे' इति ग घपाठयोः. ३२. एतत्संख्यांकितोंशः ग घ ज पाठेषु उपलभ्यमानः अन्येषु त्रुटितो भाति. ३३. 'प्रविश्य' इति मु-१-२-३ 'आविश्य' इति घ ङ छ ज पाठेषु, 'प्रविष्टः' इति क ग च 'प्रविष्टो-विष्णुः' इति ख पाठे. ३४. 'वस्तुतस्तु निर्गुणाः' इति घ पाठः.



❊ पुष्टिविवेकः ❊

[प्रकरणोपक्रमः]

अथ इदं विचार्यते का पुष्टिः, कः च पुष्टिमार्गः ? इति.

[पुष्टिर्हि भगवदनुग्रहात्मको गूढो भगवन्निष्ठः स्वांशरूपजीवात्मविषयको धर्मः]

तत्र "पोषणं तदनुग्रहः"(भाग.पुरा.२।१०।४) इति शुकवाक्यात्, "कृष्णानुग्रहरूपाहि पुष्टिः कालादिबाधिका" (त.दी.नि.३।६।२) इति निबन्धोक्तत्वात् च अनुग्रहरूपो भगवद्धर्मः पुष्टिः. साच विलक्षण[१]-लौकिकालौकिक-फलसाधिका. अतो अधिकारिविशेषे निःसाधने श्लाघ्यफलं जनयन्ती तेनैव अनुमीयते. तद् उक्तं निबन्धे "अनुग्रहो लोकसिद्धो गूढभावाद् निरूपितः" (त.दी.नि.३।६।२) इति. अर्थस्तु : गूढभावाद् अनुग्रहस्य गूढत्वात् लोकसिद्धो लोके उत्तमफलजननेन प्रकटीभूतो अनुग्रहो निरूपितः षष्ठस्कन्धे वर्णितः. तत्कार्यं विवेचितम् अजामिलादिषु, यतो निन्दितकर्मनिरतः संकेतितभगवन्नाम्ना मोचितो, विश्वरूप-दधीचि-वृत्राणां कर्मि-ज्ञानि-भक्तानां हन्ता अनिष्टफलभोगयोग्यः शक्रोऽपि पुष्ट्या रक्षितः, दितिगर्भो वज्रहतोऽपि न मृतः, प्रत्युत बहुत्वं सम्पन्नम्. अतएव उक्तम् "एवमिन्द्रे महापुष्टिः सर्वबाधा निरूपिता, सर्वबाधकरूपा हि दैत्ये पुष्टिरथोच्यते" (त.दी.नि.३।६।११) इति. महापुष्टित्वन्तु बलवत्प्रतिबन्ध-निवृत्तिपूर्वक-स्वपादावाप्ति-साधकत्वम्. 'सर्वबाधा' इत्यत्र 'सर्व' शब्देन कालकर्मस्वभावाः ग्राह्याः. तद् इह कुत्सितकर्मणाम् अनिष्टफलाजनकत्वेन तद्बाधः इन्द्रे स्पष्टः. दितिगर्भप्रसङ्गे वज्रप्रहारस्य प्राणवियोग-साधकत्वस्वभाव-बाधो ज्ञेयो, "न ममार दितेर्गर्भः श्रीनिवासानुकम्पया, बहुधा कुलिशक्षुण्णो द्रौण्यस्त्रेण यथा भवान्" (भाग.पुरा.६।१८।६५) इति वाक्यात्. एवम् अन्यत्रापि बोध्यम्[२].

[(१)सामान्यपुष्टेः चतुर्विधपुमर्थसाधकता (२)विशेषपुष्टेस्तु भगवत्स्वरूपा-

(१)इयञ्च पुष्टिः चतुर्विधपुमर्थान् साधयति. अतएव दशम[३]सुबोधिन्याम् उक्तम् "सहस्रार्जुनो भगवदंशः पुष्ट्या राजा बभूव" (सुबो.१०।१।२७) इति. निबन्धे (त.दी.नि.३।३।१६४-२०६) देवहूतिमुक्तिश्च पुष्टिकारणिका निरूपिता, योगादीनान्तु व्यापारत्वमेव[४], अजामिलादिषु नामादीनामिव. तद् उक्तं निबन्धे "नामध्यानार्चनादिकं पुरस्कृत्य हरेः वीर्यं नामादिषु निरूप्यते" (त.दी.नि.३।६।३) इति. इदं सामान्यानुग्रहस्वरूपम्.

(२)पुष्टिविशेषस्तु केवलं भगवत्स्वरूपफलिकां भक्तिं साधयति. अतः तज्जन्या भक्तिः 'पुष्टिभक्तिः' इति उच्यते. तद् उक्तं सिद्धान्तमुक्तावल्याम् "अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः" (सिद्धा.मुक्ता.१८) इति. पुष्टिमार्गे पुष्टिभक्तिमार्गे इति अर्थः. "तदनुग्रहैकलभ्यां भक्तिं च नुमस्तदीयांश्च" (भ.हे.नि.१) इति भक्तिहेतुनिर्णयेऽपि. अतएव भक्त्या कार्यरूपया पुष्टिविशेषो अनुमीयते. तद् उक्तं पुष्टिप्रवाहमर्यादानिरूपणे "भक्तिमार्गस्य कथनाद् पुष्टिरस्तीति निश्चयः" (पु.प्र.म.२) इति. अयमर्थः — "मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ" (भाग.पुरा.३।२९।११) इत्यारभ्य "सएव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः" (भाग.पुरा.३।२९।१४) इत्यन्तं ग्रन्थादौ भागवते, भक्तिमार्गस्य निर्गुणस्य निरूपणाद् भक्तिसत्तायां सिद्धायां, तादृश्या भक्त्या तत्कारणीभूता पुष्टिः अनुग्रहरूपा जीवविशेषविषया[५] भगवति अस्ति इति निश्चयः इति अर्थः. सापि 'ईशानुकथा' शब्देन नवमस्कन्धे व्यवह्रियते. ईशस्य अनुगामिनां भक्तानां[६] कथा भगवच्छ्रवणादिरूपं चरित्रम् इति अर्थः. तच्च द्विविधं मर्यादाभक्तिरूपं पुष्टिभक्ति[७]रूपं च.

तत्र विशेषानुग्रहजन्या या भक्तिः सा पुष्टिभक्तिः. तल्लक्षणन्तु "भगवत्स्वरूपातिरिक्त-फलाकाङ्क्षारहितत्वे सति भगवत्स्वरूपात्मक-फलाकाङ्क्षावत्त्वम्." अतएव "अक्षण्वतां फलम्" (भाग.पुरा.१०।१८।७) इत्यत्र स्वरूपस्यैव फलत्वं निरणायि. अतः पुष्टिमार्गीयाः न तदितिरिक्तं कामयन्ते, "न योगसिद्धिरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनाऽन्यत्"

(भाग.पुरा.११।१४।१४) इति भगवद्वाक्यात्. एतच्च[८] "वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्रि" (भाग.पुरा.१०।२६।३९) इति पुष्टिभक्तव्रजसुन्दरीवाक्ये स्पष्टं, भक्तिहंसे च निरूपितं "भक्तौच न स्वरूपातिरिक्तफलकत्वम्" (भ.हं.) इत्यनेन.

[पुष्टिभक्तेः चातुर्विध्यम्]

सा पुष्टिभक्तिः चतुर्धा[९] : (१) प्रवाहपुष्टिभक्ति-(२) मर्यादापुष्टिभक्ति-(३) पुष्टिपुष्टिभक्ति-(४) शुद्धपुष्टिभक्ति-भेदात्,

पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रियारताः।
मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धाः प्रेम्णाऽतिदुर्लभाः॥
(पु.प्र.म.१४) इति वाक्यात्.

पुष्ट्या इत्यादि, ये पुष्टिभक्ताः पुनः पुष्ट्या विमिश्राः अनुग्रहान्तरेण भजनोपयोगिज्ञानजनकेन युक्ताः ते सर्वज्ञाः भवन्ति. 'सर्व'शब्देन प्रभु-तल्लीला-तत्परिकर-प्रपञ्चस्वरूपादि ग्राह्यम्. सर्ववस्तूनां यथोक्तस्वरूपं विदित्वा ये भजन्ते ते पुष्टिपुष्टिभक्ताः[१०] इति अर्थः. प्रवाहेण इति, प्रवाहस्य अहन्ता-ममतात्मक-संसारप्रधानत्वात् तद्धर्मेण केवलं कर्मरुचयः पुष्टिभक्तत्वात् च भगवदुपयोगिक्रियायां ये[११] प्रवर्तन्ते ते[१२] प्रवाहपुष्टिभक्ताः. मर्यादया इति, मर्यादाहि जीवस्य रागतो विषयप्रवृत्तिं निराकृत्य निवृत्तिमार्गीयधर्मेषु योजयति. अतो मर्यादया मिश्रणाद् विषयासक्तिम् अविभाव्य भगवत्कथाश्रवणादौ ये प्रवर्तन्ते ते मर्यादापुष्टिभक्ताः. शुद्धाः प्रेम्णा इति, ये[१३] केवलं प्रेमप्रधानाः परिचर्यागुणगानादिकं स्नेहेनैव कुर्वन्ति ते अत्यन्तं दुर्लभाः सर्वोत्कृष्टाः इति अर्थः.

"स्नेहोत्पत्त्यनन्तरं स्वव्यसनतः क्रियमाणः श्रवणादिः उत्तमः पुष्टिभक्ति(रूपः)" (भ.हं.) इति भक्तिहंसे तेषामेव भक्तेः स्वरूपम् उक्तं

ननु सामान्यतः पुष्टिभक्तिस्वरूपं, स्नेहानन्तर्यकथनाद् 'उत्तम' पदप्रयोगात् च.

[पुष्टिभक्त्या भगवान् भक्ताधीनो भवति]

इदम् अत्र ज्ञेयम् : जीवैः पुष्टिपुष्टिभक्त्यर्थं यतनीयम्. भगवद्भक्त्युपयोगिज्ञानं[१४] सम्पाद्य भगवान् भजनीयः. चतुर्थी शुद्धपुष्टिभक्तिस्तु भगवद्दत्ता प्राप्यते "भक्तिः शुद्धा स्वतन्त्रा च दुर्लभेति न सोच्यते" (त.दी.नि.२।१९६) इति निबन्धात्. नच *अनुग्रहे वैलक्षण्याभावात् तज्जन्यभक्तौ कथं नानात्वम् ?* इति शङ्क्यं, "नेमं विरिञ्च्यो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया, प्रसादं लेभिरे गोपी यत् तत् प्राप विमुक्तिदात्" (भाग.पुरा.१०।९।२०), "नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः, रासोत्सवेऽस्य भुजदण्ड-गृहीतकण्ठ-लब्धाशिषां य उदगाद् व्रजवल्लवीनाम्" (भाग.पुरा.१०।४४।६०) इत्यादिवाक्यैः तथा अवधारणात्. अतो अनुग्रहविशेषेण पुष्टिभक्तिः लभ्यते, तया भगवान् तदधीनो भवति, "वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या" (भाग.पुरा.९।४।६६) इत्यादिवाक्यैः, "कृष्णाधीनातु मर्यादा स्वाधीना पुष्टिरुच्यते"(त.दी.नि.३।५।२६) इति निबन्धोक्तेः च. इह 'पुष्टि' शब्देन पुष्टिभक्तिः, "यत्रच भक्तस्य स्वातन्त्र्यं तदिच्छानुसारेण भगवत्कृतिः यथा दामोदरलीलायां सा पुष्टिः" (त.दी.नि.३।५।२६) इति व्याख्यास्वारस्यात्. "पुष्टिः स्वार्था परार्थातु भक्तिः सानवमे मता" (त.दी.नि.३।६।१३) इत्यादिवाक्येषु 'पुष्टि' शब्देन अनुग्रहएव ग्राह्यो न पुष्टिभक्तिः, तथैव ग्रन्थार्थसिद्धेः.[१५]

तद् एवं सुबोधिनी-निबन्धादिषु 'पुष्टि' शब्देन, क्वचिद् अनुग्रहः क्वचित् तज्जन्या भक्तिः उच्यते, सएव च पुष्टिमार्गः, इति सहृदयैः विभावनीयम्.

[पुष्टिभक्तिलक्षणोपपत्तिः]

नच *'भगवत्स्वरूपातिरिक्त-फलाकाङ्क्षारहितत्वं' प्रवाहपुष्टिभक्त्यादौ

अव्याप्तं, तादृग्भावस्य शुद्धपुष्टिभक्तेष्वेव प्रसिद्धेः* इति वाच्यं, शुद्धपुष्टिभक्तेतर-पुष्टिभक्तेष्वपि मोक्षान्त-फलाकाङ्क्षा-विरहस्य सिद्धत्वात्, "नारायणपरा लोके न कुतश्चन बिभ्यति, स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः" (भाग.पुरा.६।१७।२८) इति वाक्याद्, इदं वाक्यं न शुद्धपुष्टिभक्त[१६]परम्, "एतादृशस्तु पुरुषः कोटिष्वपि सुदुर्लभः" (त.दी.नि.२।२१९) इत्यस्य व्याख्याने निबन्धे ज्ञानमिश्रत्वनिर्णयात्[१७]. "न योगसिद्धिरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे" (भाग.पुरा.६।११।२५) इति वृत्रवाक्याद् वृत्रस्य शुद्धपुष्टिभक्तत्वाभावात्[१८]. अतो लक्षणं सुस्थम्.

[श्रीहरिरायचरणकृत-'पुष्टिमार्गलक्षणानि'-ग्रन्थार्थावगाहनम्]

श्रीहरिरायैस्तु शुद्धपुष्टिभक्तेरेव स्वरूपं कारिकाभिः विवृतं, नतु पुष्टिः लक्षिता, विचारे क्रियमाणे तथैव अर्थस्फूर्तेः; अन्यथा, "सर्वसाधनरहित्या" दिधर्माणां प्रवाहपुष्टिभक्तौ अव्याप्तेः च. अतो न इदम् साधारणलक्षणं[१९] किन्तु शुद्धपुष्टिभक्तेः धर्माणां निरूपणम् इति ज्ञेयम्.

तथाहि :—

सर्वसाधनराहित्यं फलाप्तौ यत्र साधनम्॥
फलं वा साधनं यत्र पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥१॥

सर्व... इत्यादि, यत्र फलस्य भगवतः आप्तौ लाभे[२०] सर्वसाधनाभावो हेतुः, सः शुद्धपुष्टिभक्तिमार्गः कथ्यते इति अर्थः. तामसप्रकरणीयफलप्रकरणे अन्वेषण-गुणगानादि-साधनानि त्यक्त्वा, रोदनेन दैन्ये प्रकटीकृते व्रजवधूनां भगवदाप्तिकथनात्. एवं सति साधनाभावस्यापि साधनतायां न निःसाधनफलत्वं प्रभौ सिद्ध्यतीति अरुच्या पक्षान्तरम् आहुः **फलं वा** इत्यादिना, फलरूपो भगवानेव स्वरूपात्मकफलाप्तौ साधनम् इति अर्थः. अतएव श्रीमदाचार्यैः उक्तम् "ततो भगवान् ब्रह्मा विष्णुः रुद्रः च भूत्वा पुनः कृष्णएव जातः इति आह" (सुबो.१०।२९।२) इति.

अनुग्रहेणैव सिद्धिः लौकिकी यत्र वैदिकी॥
न यत्नाद् अन्यथा विघ्नः पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥२॥

अनुग्रहेण इत्यादि, साधनान्तरनिरपेक्षेण अनुग्रहेणैव[२१] यत्र लौकिक-वैदिक-सिद्धिः स शुद्धपुष्टिमार्गः. अतएव व्रजस्थानां तथैव वैकुण्ठप्राप्तिः "अह्न्यापृतं निशि शयानमतिश्रमेण लोकं विकुण्ठगतिमुपनेष्यति गोकुलं स्वम्" (भाग.पुरा.२।७।३१) इति ब्रह्मवाक्यात्. यत्ने कृतेतु विघ्नएव भवेद्, एतच्च श्रीनन्दादीनाम् अम्बिकावनयात्राप्रसङ्गे (भाग.पुरा.१०।३४।१-१९) स्पष्टम्.

यत्राङ्गीकरणे नैव योग्यतादिविचारणम्॥
अविलम्बः प्रभुकृतः पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥३॥

यत्र इत्यादि, प्रभुः जीवयोग्यताविचारम् अकृत्वैव यत्र शीघ्रम् अङ्गीकरोति सः शुद्धपुष्टिमार्गः, "केवलेनहि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः" (भाग.पुरा.११।१२।८) इति वाक्यात्. स्वरूपविचारेतु शास्त्रस्य पुरुषाधिकारकत्वेन पश्वादीनां मोक्षसम्भावनैव नास्ति इति ज्ञेयम्.

स्वरूपमात्रपरता तात्पर्यज्ञानपूर्वकम्॥
धर्मनिष्ठा यत्र नैव पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥४॥

स्वरूप...इत्यादि, यत्र धर्मविधायकवाक्यानां भगवत्सम्बन्धे तात्पर्यम् अवगत्य फलाप्त्यवसरे तत्प्रतिबन्धकधर्मान् हित्वा धर्मिपरतया स्थीयते सः शुद्धपुष्टिभक्तिमार्गः. अतएव "श्रवणाद् दर्शनाद् ध्यानात् मयि भावोऽनुकीर्तनाद्" (भाग.पुरा.१०।२९।२७) इति वाक्यतात्पर्यम् अवगत्य स्वरूपपरतयैव स्थितं, नतु तद्विरुद्धं गृहगमनम् आचरितम्.

यत्र प्रभुकृतौ नैव गुणदोषविचारणम्॥
तत्कृतावुत्तमत्वज्ञा पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥५॥

यत्र इत्यादि, यत्र रोदन-चौर्यादिरूपे चरित्रे हीनत्वबुद्ध्या न अनुपादेयत्वरूपदोषदृष्टिः, नवा कालीयदमन-दावाग्निमोक्षणादिषु

माहात्म्यबोधकेषु[२२] चरित्रान्तरेभ्यो वैशिष्ट्यबुद्धिः; किन्तु, भगवत्कृतिमात्रे उत्तमत्वज्ञानं सर्वत्र सः शुद्धपुष्टि(भक्ति!)मार्गः.

न लोकवेद-सापेक्ष्यं सर्वथा यत्र वर्तते॥
सापेक्षता स्वामिसुखे पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥६॥

न लोक...इत्यादि, यत्रतु प्रभुसुखार्थमेव[२३] अखिलचेष्टितं, न ऐहिक-पारलौकिक-यत्नः सः शुद्धपुष्टिभक्तिमार्गः, "दिष्ट्या पुत्रान् पतीन् देहान् स्वजनान् भवनानि च हित्वा वृणीत यूयं यत् कृष्णाख्यं पुरुषं परम्" (भाग.पुरा.१०।४४।२६) इति वाक्यात्.

वरणे दृश्यते यत्र हेतुर्नाणुरपि स्वतः॥
वरणं च निजेच्छातः पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥७॥

वरणे इत्यादि, स्वीयत्वेन अङ्गीकृतौ जीवकर्तृकसाधनानां यत्र न कारणता सः शुद्धपुष्टिमार्गः, यतो अतिसाधन[२४]सम्पन्नेष्वपि न तत् फलं यद् अत्यन्तायोग्येषु पुलिन्द्यादिषु दीयते. "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" (कठोप.१।२।२३/मुण्ड.उप.३।२।३) इति श्रुतिरपि अत्र अनुसन्धेया.

यत्र स्वतन्त्रता भक्तेराविर्भावानपेक्षणात्॥
सर्वानुभवरूपत्वं पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥८॥

यत्र इति, यत्र वियोगावस्थायां गुणगानादिरूपायाः भक्तेरेव स्वरूपानन्दात्मकफलदाने स्वतन्त्रता, न स्वरूपाविर्भावस्य संयोगरससम्बन्धिनः आकाङ्क्षा, प्रेमभरेण जायमानस्य श्रवणकीर्तनादेरेव सर्वसुखानुभवरूपत्वम्. [२५]इयमेव भक्तेः स्वतन्त्रता[२५]. सच शुद्धपुष्टि(भक्ति!)मार्गः.

लोकवेदभयाभावो यत्र भावातिरेकतः॥
सर्वबाधकतास्फूर्तिः पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥९॥

लोकवेद...इत्यादि, यत्र भावातिरेकतः भगवद्भावाधिक्यात् पतिपुत्रादिभयं पारलौकिकभयं च नास्ति. भगवद्भावे सर्वस्य कालकर्मस्वभावादेः

"बाधको अयम्" इति स्फूर्तिः सः शुद्धपुष्टिभक्तिमार्गः इति अर्थः. अतएव "अस्वर्ग्यम् अयशस्यं च" (भाग.पुरा.१०।२६।२६) इत्यादिवाक्यैः वेदभयं, "विचिन्वन्ति ह्युपपश्यन्तः" (भाग.पुरा.१०।२६।२०) इत्यादिभिः लोकभयं च न उत्पन्नम्.

सम्बन्धः साधनं यत्र फलं सम्बन्धएव हि॥
सोऽपि कृष्णेच्छया जातः पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥१०॥

सम्बन्धः इत्यादि, यत्र जीवानां भगवता सह देहज-भावजान्यतर-सम्बन्धः फले साधनम्. यत्रच सम्बन्धः सर्वेन्द्रियाणां प्रभुणा सङ्गमः, सएव फलं स शुद्धपुष्टिमार्गः, "भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य च" (सुबो.कारि.१०।२१।७।३) इत्यादि[२६]वाक्यात्. किञ्च सम्बन्धोऽपि यत्र कृष्णेच्छया कृष्णस्य भक्तविषयिण्या इच्छया जातः सः तथा, "मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि" (भाग.पुरा.९।४।६८) इति वाक्यात्.

तत्सम्बन्धिषु तद्भावः तद्भिन्नेषु विरोधिता॥
उदासीनेषु समता पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥११॥

तत्सम्बन्धिषु इति, यत्र प्रभुसम्बन्धिषु भगवद्बुद्धिः, भिन्नोदासीनयोः विरोधि-समत्व-बुद्धिः सः पुष्टि(शुद्धपुष्टिभक्ति!)मार्गः. अतएव उद्धवदर्शने परमोत्साहः "इति स्म सर्वाः परिवव्रुरुत्सुकाः तमुत्तमश्लोकपदाम्बुजाश्रयम्" (भाग.पुरा.१०।४४।२) इति वाक्यात्.

विद्यमानस्य देहादेर्न स्वीयत्वेन भावनम्॥
परोक्षेऽपि तदर्थित्वं पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥१२॥

विद्यमानस्य इति, यत्र देहादेः न स्वीयत्वबुद्धया रक्षणादिकम् अपितु भगवदीयत्वबुद्धया सः पुष्टि(शुद्धपुष्टिभक्ति!)मार्गः. किञ्च परोक्षेऽपि विरहावस्थायामपि भगवदुपयोगं भाविनम् आलोच्य शरीरादिरक्षा सः तथा, "त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते" (भाग.पुरा.१०।२८।१) इति वाक्यात्, "त्वदर्थमेव प्राणानां धारणम्" (सुबो.१०।२८।१)इति व्याख्यानात्.

भजने यत्र सेव्यस्य नोपकारकृतिः क्वचित्॥
पोषणं भावमात्रस्य पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥१३॥

भजने यत्र इत्यादि, **यत्र सेव्यस्य उपकारकृतिः** सेव्यकर्तृका उपकारकृतिः[२७] अपेक्ष्यत्वेन नास्ति, यत्रच सेव्यकर्तृकं सेवकाधिकरणकं भावपोषणं सः शुद्धपुष्टि(भक्ति!)मार्गः. अतएव गोवर्द्धनमखप्रसङ्गे अन्यभजनात् निवृत्य स्वभजनयोजनेन भाववृद्धिं कृतवान् प्रभुः इति ज्ञेयम्.

भजनस्यापवादो न क्रियते फलदानतः॥
प्रभुणा यत्र तद्भावात् पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥१४॥

भजनस्यापवादः इत्यादि, यत्र प्रभुणा भजनस्य फलदानेन अपवादो न क्रियते सः शुद्धपुष्टिमार्गः. अयम् अर्थो : विरहानुभवार्थं भगवता वियोगे सम्पादिते गोपिकाः तज्जन्यं तापं भूयांसं प्राप्तवत्यः[२८]. यदि तदवस्थायां गुणगानादिना अन्तरेव प्रकटीभूय सुखं दद्याद्, ज्ञानम् उत्पाद्य ज्ञानिनामिव वा सुखं दद्यात्, तदा पूर्णतापानुभवाभावेन उत्तरदलादानमेव स्यात्. अतो भगवान् न तथा करोति प्रत्युत तापमेव वर्धयति, "कृष्णावेशात्मविक्लवम्" (भाग.पुरा.१०।४४।५७) इति वाक्याद्, "इहागतोऽहं विरहातुरात्मा" (भाग.पुरा.३।४।२०) इति प्राप्तोपदेशोद्धववाक्यात् च.

यत्र वा सुखसम्बन्धो वियोगे सङ्गमादपि॥
सर्वलीलानुभवतः पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥१५॥

यत्र इत्यादि, यत्र वियोगावस्थायां संयोगावस्थातोऽपि अधिकं सुखं क्षणेनैव[२९] आन्तर्लीलान्तरप्राकट्यात्, कस्याश्चित् लीलायाः भावनेन प्रकटीभूतायाः अनुभवे पुनः अन्यस्याः लीलायाः दिदृक्षया तत्प्राप्तिसौकर्यात्. अतएव सुबोधिन्याम् उक्तम् "आन्तरन्तु परं फलम्" (सुबो.कारि.१०।२९।१-।५) इति.

फले च साधने चैव सर्वत्र विपरीतता॥
फलं भावः साधनं स पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥१६॥

फले च इत्यादि, यत्र साधनफलयोः वैपरीत्यं सः शुद्धपुष्टिभक्तिमार्गः.

तमेव स्पष्टयन्ति **फलम्** इत्यादिना, यत्र **भावो** निरुपधिस्नेहः **फलम्** प्राप्तव्यम् इति अर्थः, स्वरूपानन्दप्राप्तिसाधनस्यापि भावस्य पूर्वं[३०] प्रार्थनीयत्वेन फलत्वात्. सच भावो भगवद्दत्तएव प्राप्यतइति सः फलरूपो, भगवानेव तत्र साधनमिति स्फुटमेव साधनफलयोः वैपरीत्यम् इति भावः.

पश्चात्तापः सदा यत्र तत्सम्बन्धिकृतावपि॥
दैन्योद्बोधाय सततं पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥१७॥

पश्चात्तापः इत्यादि, यत्र भगवत्सम्बन्धिकृतौ भगवल्लीलायाम् अनुभूयमानायामपि पश्चात्तापः सः शुद्धपुष्टि(भक्ति!)मार्गः. अयम् अर्थो : भगवतो व्रजगमनादौ या व्रजभक्तानुगुणा कृतिः तदानन्दम् अनुभवन्त्यो वनकृतलीलान्तराननुभवजन्यं पश्चात्तापं कुर्वन्ति, तेनच दैन्यम् आविर्भवति, नतु मानादि. अयञ्च एको विलक्षणो अनुभवः[३१], "पीत्वा मुकुन्द" (भाग.पुरा.१०।१२।४३) इत्यस्य व्याख्याने स्पष्टः.

आविर्भावे न सापेक्षं दैन्यं यत्र हि साधनम्॥
फलं वियोगजं दैन्यम् पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥१८॥

आविर्भावे इत्यादि, यत्र जीवाधिकरणकं दैन्यम् अन्यनिरपेक्षं भगवदाविर्भावे कारणं स शुद्धपुष्टि(भक्ति!)मार्गः. वियोगे मिलनार्त्या तदसम्भवजं यद् दैन्यं तद् यत्र **फलं** प्रार्थनीयम् अवान्तरफलम्. विरहोहि दैन्यम् उत्पादयति, संयोगो मानमिव, तद्दैन्यं च भगवन्तम् आविर्भावयति. अतः प्रार्थनीयत्वात् फलत्वम्. अतएव श्रीगोकुलनाथैः उक्तम् "तां कृपा कुरु राधेश! यया तद् दैन्यमाप्नुयाम्" (श्रीगोकु.विज्ञ.१) इति.

समस्तविषयत्यागः सर्वभावेन यत्र हि॥
समर्पणं च देहादेः पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥१९॥

समस्त...इत्यादि, यत्र सकललौकिकविषयाणां **त्यागः** सानुरागग्रहणाभावः सः शुद्धपुष्टि(भक्ति!)मार्गः. **सर्वभावेन** सर्वात्मना देहादेः यत्र समर्पणम्. अतएव व्रजवरवधूभिः उक्तं "सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलं प्राप्ताः" (भाग.पुरा.१०।२६।३१) इति.

विषयत्वेन तत्त्यागः स्वस्मिन् विषयता स्मृतेः॥
यत्र वै सर्वभावेन पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥२०॥

विषयत्वेन इत्यादि, यत्र विषयत्वेन विषयाणां त्यागो ममताविरहो, भगवदीयत्वेन ग्रहणं स पुष्टि(शुद्धपुष्टिभक्ति!)मार्गः, कृतात्मनिवेदनानां तावदंशस्यैव त्याज्यत्वात्, "**क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत् कृतं ते स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः**" (भाग.पुरा.८।२२।२०) इति वाक्यात् पदार्थमात्रस्य भगवदीयत्वेन उत्तमत्वं, तथा सति ममतामात्रस्यैव संसारत्वेन अनादरणीयत्वम्. किञ्च **स्वस्मिन्** इत्यादि, यत्र **सर्वभावेन** सर्वात्मना **स्वस्मिन्** जीवे **भगवत्स्मृतेः विषयता** स शुद्धपुष्टिमार्गः. अयम् अर्थो : भक्तोहि यदि भगवत्कर्तृकस्मृतिविषयो भवति तदा भक्तेः साफल्यं, "यदनुस्मर्यते काले स्वबुद्ध्याऽभद्ररन्धन!" (भाग.पुरा.४।३०।२८)इति प्रचेतोवाक्यात्. एतच्च "नामभिः दूरगान् पशून्, क्वचिद् आह्वयति प्रीत्या" (भाग.पुरा.१०।१२।१२) इत्यस्य व्याख्याने स्पष्टम्.

एवम् उक्त्वा उपसंहरन्ति :—

एवंविधैः विशेषेण प्रकारैस्तु सदाश्रितैः॥
हृदि कृत्वा निजाचार्यान् पुष्टिमार्गोहि बुद्ध्यताम्॥२१॥

एवम्...इत्यादिना, **एवमेव**[३२] अन्यैरपि पुष्टिमार्गीयैः शुद्धपुष्टौ श्रद्धाधिक्यात् प्रायः तत्स्वरूपमेव उच्यते, नतु सामान्यतः पुष्टिभक्तिरूपम्. सामान्यलक्षणन्तु पूर्वोक्तमेव निबन्धादिषु[३३] सिद्धम् इति कोविदाएव विदांकुर्वन्तु.

इति श्रीमद्गोवर्धनधर-श्रीवल्लभाचार्य-श्रीविट्ठलेश्वर-चरणानुचरसेवकेन लालूभट्टोपनाम-बालकृष्णेन कृते प्रमेयरत्नार्णवे पुष्टिविवेकः समाप्तिम् अगमत्



।।पाठभेदतालिका।।

१.'विलक्षणा' इति मु-१-२-३ आदिपाठेषु, 'विलक्षण-' इति छ ज पाठानुरोधात्. २. 'बोध्यः' इति क ग घ ङ च छ मु-१-२-३ पाठेषु. ३. 'दशम' इति छ पाठे. ४. 'व्यापारत्वमेव' इति छ ज पाठयोः, 'व्यापारत्वम् उक्तमेव' इति मु-१-२-३ आदिपाठेषु. ५. 'जीवविशेषविषया' इति ज पाठे, 'जीवविषया' इति घ पाठे. ६. 'भक्तानाम्' इति क ख ग घ ङ च छ ज पाठः मु-१-२-३ पाठेषु नास्ति. ७. 'पुष्टिभक्तिरूपम्' इति क ख ग घ ङ च मु-१-२ पाठः मु-३ पाठे मुद्रणे त्रुटितः. ८. 'एतच्च' इति क ख ग घ ङ च छ ज मु-१-२ पाठः मु-३ पाठे त्रुटितः. ९. "द्विविधा शुद्धमिश्रभेदाद्" इति ङ पाठे. १०. 'पुष्टिभक्ताः' इति ख च मु-१-२-३ पाठेषु. ११. 'ये' इति घ पाठः. १२. 'ते' इति क घ छ पाठेषु. १३. 'ते' इति क ख ग घ ङ च छ ज पाठेभ्यः, मु-१-२-३ पाठेषु त्रुटितः. १४. 'भक्त्युपयोगि' इति ज पाठात्, 'भजनोपयोगि' इति क ग छ पाठेषु, 'भक्तोपयोगि' इतितु च पाठे. १५. "तथैव ग्रन्थार्थसिद्धिः तथाहि पुष्टिः न अनुग्रहः, सातु स्वार्था, स्वस्य=भगवतः चिकीर्षितकार्या=ऽर्था इति अर्थः. येन पुंसा यादृशं कार्यं चिकीर्षति भगवान् तस्मिन् अनुग्रहं कृत्वा कार्यं साधयति इति हार्दम्. भक्तिस्तु परार्था=जीवार्था इति अर्थः. भगवद्भक्त्याहि जीवार्थः सिद्ध्यति. यतो भगवानपि जीवस्य वशे भवति अतः परार्थत्वम्" इति ग पाठे अधिकम् उपलभ्यते. १६. 'भक्त' इति क ख ग च छ ज मु-१-२-३ पाठेषु 'भक्ति' इतितु घ ङ पाठयोः. १७. 'ज्ञानमिश्रत्वनिर्णयाद्' इति छ पाठः. १८. 'शुद्धपुष्टिभक्तत्वाभावाद्' इति छ ज पाठयोः, 'शुद्धपुष्टित्वाभावाद्' इति शेषेषु. १९. "साधारणलक्षणम्" इति क ख ग घ ङ च छ ज पाठेषु 'असाधारणं लक्षणम्' इतितु मु-१-२-३ पाठेषु. २०. 'लाभे' इति छ पाठात्. २१. अनुग्रहणैव' इति ज पाठात्. २२. '...बोधकेषु' इति ग घ ङ छ ज पाठेषु, '...बोधनादिषु' इति क ख च मु-१-२-३ पाठेषु. २३.'प्रभुसुखार्थमेव' इति छ ज पाठयोः, 'स्वामिसुखार्थमेव' इति मु-१-२-३ आदिषु. २४. 'अतिसाधन-' इति छ पाठात्, मु-१-२-३ आदिषु 'अति' इति नोपलभ्यते. २५. एतत्संख्यांकितोंऽशः ख पाठएव तद्भिन्नेषु कुत्रापि नोपलभ्यते. २६. 'इत्यादिवाक्याद्' इति क ख ग घ ङ च छ ज मु-१-२ पाठेषु वर्तते परं मु-३ पाठे त्रुटितः. २७. 'सेव्यकर्तृका उपकारकृतिः

इति छ पाठात्. २८. 'प्राप्तवत्यः' इति छ ज पाठाभ्यां, 'प्राप्नुवत्यः' इति मु-१-२-३ आदिसकलेषु. २९. 'क्षणेनैव' इति क ख ग घ ङ छ ज पाठेषु तथैव च पाठेऽपि किन्तु आद्यसम्पादकेन मु-१ पाठसंशोधनावसरे स्वयमेवोट्टंकितइति तथैव मु-२-३ पाठयोरपि अनुवर्तते. ३०. 'पूर्वम्' इति छ ज पाठानुरोधात्, 'पूर्वप्रार्थनीय-' इति मु-१-२-३ आदिषु. ३१. 'अनुभावः' इति घ ङ पाठयोः. ३२. 'एवमेव' इति छ ज पाठयोः, 'एवम्' इति मु-१-२-३ आदिषु. ३३. 'निबन्धादिषु' इति ज 'निबन्धादिसिद्धम्' इति मु-१-२-३ आदिषु.



❊ पुष्टिभक्त्यधिकारविवेकः ❊

[भगवत्कृपाविशेषवान् पुष्टिभक्त्यधिकारी इति प्रकरणोपक्रमः]

अथ पुष्टिभक्तिमार्गाधिकारो विमृश्यते. तत्र : "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया न बहुना श्रुतेन, यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" (कठोप.१।२।२३/मुण्ड.उप.३।२।३)इति श्रुतेः, यस्मिन् भगवत्कृपा सो अधिकारी.

[तत्र (१)कृपासद्भावनिश्चायकहेतोः (२)कृपाधिकारिणः च निरूपणम्]

(१)तत्र कृपायाः अप्रत्यक्षत्वात् तत्कार्यरूप-पुष्टिमार्ग-रुच्या सा अनुमीयते. यतः कृपां विना पुष्टिमार्गे रुचिः न उदेति. तद् उक्तं निबन्धे "कृपायुक्तस्य तु यथा सिध्येत् कारणमुच्यते" (त.दी.नि.२।२२६) इति व्याख्याने "कृपापरिज्ञानञ्च मार्गरुच्या निश्चीयते" (त.दी.नि.प्र.२।२२६) इति.

एवं च —

(२)पुष्टिमार्गीय-फलदित्सा-समुद्भूत-भगवत्कृपाजन्य-पुष्टिमार्गविषयक-रुचिमान् अधिकारी इति ज्ञेयम्.

[तादृशरुच्युत्पत्तिप्रकारः]

तादृशरुच्युत्पत्तौ प्रकारः उच्यते. तथाहि : दैवजीवेषु यं जीवं पुष्टिमार्गे अङ्गीकर्तुं हरिः वाञ्छति तस्य प्रभुकृपया सत्सङ्गे सति तत्कृपया परिचर्यादिना तत्प्रसङ्गाद् यथासम्भवं श्रवण-तनुजवित्तज[१]सेवनादिरूप-भजनानुभवाद् एतन्मार्गे रुचिः आविर्भति, "एवं प्रवृत्तस्य विशुद्धचेतसः तद्धर्मएवात्मरुचिः प्रजायते" (भाग.पुरा.१।५।२५) इति वाक्यात्. एतादृशरुचिमान् अधिकारी पुष्टिमार्गे.

[ततः चित्तशुद्ध्याद्यवस्था(१-९)नवकम्]

(१.चित्तशुद्धिः)
ततो मार्गरुच्या क्रियमाणे श्रवणादौ चित्ते भगवदावेशः, ततः[२] चित्तशुद्धिः.

(२.परोक्षभगवद्रुचिः)
ततः श्रवणाद्यनुवृत्तिः. तद् उक्तं द्वितीयस्कन्धे "प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहं, धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरद्, धौतात्मा पुरुषः कृष्णपादमूलं न मुञ्चति" (भाग.पुरा.२।८।५-६) इति. एवं श्रवणाद्यावृत्तौ भगवति रुचिः उत्पद्यते "ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद् रुचिः" (भाग.पुरा.१।५।२६) इति वाक्यात्. इयं अननुभूतविषया 'परोक्षरुचिः' इति उच्यते[३]. इयंहि श्रवणादिना सत्पुरुषादरदर्शनादिना रुचिः आविर्भवतीति प्रथमकक्षापन्ना ज्ञेया. "यदनुध्यासिना युक्ताः[४]" (भाग.पुरा.१।-२।१५) इति श्लोकव्याख्याने "सर्वत्र अलौकिकेषु पदार्थेषु माहात्म्यश्रवणाद् रुचिः उत्पद्यते" (सुबो.१।२।१५) इति सुबोधिन्याम् इयमेव रुचिः उक्ता इति बोध्यम्. सा भक्तिरेव, "रुचिः श्रवणादिः प्रेम च इति भक्तिः त्रिविधा" (सुबो.१।२।६) इति प्रथमस्कन्धसुबोधिन्याम् उक्तेः.

(३.बीजभावः)
ततो अननुभूतविषयया भगवद्रुच्या श्रवणादिरूपे भजने भक्तिवर्धिनीप्रकरणोक्तदिशा बीजरूपो भावः सूक्ष्मभक्तिः वृद्धिं प्राप्नोति. स भावो भगवता पूर्वमेव दैवजीवत्व[५]सम्पादनोत्तरं पुष्टिमार्गीयत्वसिद्धये सूक्ष्मरूपः स्थापितः इति ज्ञेयम्. स 'बीजभावः' इति उच्यते.

(४.अपरोक्षरुचिः)
सएष भावः परोक्षरुच्या श्रवणादिसहकृतो अन्तर्भगवत्स्फूर्तिं करोति, "श्रवणादिनातु स्वाभाविको भगवान् आविर्भवति" (त.दी.नि.३।२।१६।) इति द्वितीयस्कन्धनिबन्धात्. तथा सति अन्तर्भगवत्स्फूर्तौ यत्किञ्चिदनुभवाद् रुचिविशेषः उत्पद्यते. सच 'अपरोक्षरुचिः' इति उच्यते.

(५.प्रेम)

तया सएव भावो बीजरूपः श्रवणादिसाधनैः वृद्धः सन् प्रेमरूपो भवति. सच स्नेहो हरीतरविषयकरागनिवर्तकः, "स्नेहाद् रागविनाशः स्याद्" (भ.व.४) इति भक्तिवर्धिनीग्रन्थाद्, "भगवद्भिन्नरागनिवर्तको भगवद्भावः स्नेहः" इति कार्यलक्षणम्[७].

(६.आसक्तिः)

ततः सेवा-श्रवणावृत्त्या वर्धमानः सएव आसक्तिरूपो भवति. सतु भगवत्सम्बन्धरहितपदार्थेषु बाधकत्वं भासयति, "आसक्त्या स्याद् गृहारुचिः" (भ.व.४) इति भक्तिवर्धिनीप्रकरणात्. अरुचिः न रुच्यभावः किन्तु रुचिविरुद्धो भावो, विरोधार्थे 'नञः' स्मरणाद्, "गृहस्थानां बाधकत्वम् अनात्मत्वञ्च भासते" (भ.व.५) इति तत्रैव विवरणात्. तथाच "भगवदितरविषयक-बाधकत्वस्फूर्ति-सम्पादको भावः आसक्तिः" इति लक्षणम्.

(७.व्यसनम्)

ततः सएव उत्तरोत्तरं वृद्धो व्यसनत्वं प्राप्नोति. "विशेषेण अस्यन्ते क्षिप्यन्ते दैहिकाः धर्माः अनेन" इति व्यसनम्. सा व्यसनभावं प्राप्ता भक्तिः "मानसी सेवा" इति उच्यते, "सा परानुरक्तिः ईश्वरे" (शाण्डि.भ.सू.२) इति भक्तिसूत्रात्, "यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि" (भ.व.५) इति भक्तिवर्धिन्यां, "चेतः तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा" (सिद्धा.मुक्ता.२) इति मुक्तावलीप्रकरणे तदर्थस्यैव स्फुटीकरणात्, मुक्तावलीप्रकाशे एतद्विवृतौ "ता नाविदन् मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदम्" (भाग.पुरा.११।१२।१२) इति एकादशवाक्योपन्यासात् च, "मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ, लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्" (भाग.पुरा.३।२९।११) इति तृतीयस्कन्धे तादृग्भक्तेः लक्षितत्वात् च. अतएव एतद्व्याख्याने "यथा कायिकगतिः गोपिकानाम्" (सुबो.३।२९।११) इत्यनेन मुख्यभक्ताएव उदाहृताः. अतो व्यसनपर्यन्तं साधनाचरणम्.

अतएव सुबोधिनी-निबन्धयोः प्रमाण-प्रमेय-साधनाख्यैः त्रिभिः प्रकरणैः प्रेमासक्तिव्यसनानि निरूप्य अग्रे फलं निरूपितम्. अतः श्रीमद्भागवतादौ

श्रीमदाचार्योक्तौ श्रीमद्विठ्ठलेशोक्तौ च यत्र-यत्र साधनानां प्रेमावधिकत्वं दृश्यते तत्र-तत्र प्रेमव्यसनयोः अभेदम् आदाय उक्तम् इति ज्ञेयम्. "प्रेम सेवातएव स्याद् विशिष्टव्यक्तिरुत्तमा" (त.दी.नि.२।९२) इत्यादावपि 'प्रेमसेवा' शब्देन मानसी सेवा 'व्यसन'शब्दवाच्या ज्ञेया.

एवं सति भगवद्रुच्युत्पत्त्यनन्तरं क्रियमाणैः श्रवणादिभिः साध्यायाः प्रेमभक्तेः प्रथमावस्था 'प्रेम'शब्दवाच्या, ततो मध्यमावस्था आसक्तिः, परिपाकावस्था 'व्यसन'शब्दवाच्या, इत्येवम् अभेदात् कुत्रचित् 'प्रेम'शब्देन आसक्तिः, कुत्रचिद् व्यसनम् अभिधीयते इति अर्थस्वारस्याद् बोध्यम्[८]. मुख्यफलन्तु व्यसनोत्तरमेव, "यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि" (भ.व.५) इत्यत्र 'एव'कारेण अन्ययोगव्यवच्छेदात्. इयं व्यसनात्मिकैव भक्तिः भगवता देवहूतिं प्रति आत्यन्तिकीत्वेन उक्ता, "अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे, सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वम-प्युत, दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः, सएव 'भक्तियोगा'ख्य आत्यन्तिक उदाहृतः" (भाग.पुरा.३।२९।१२-१४) इति तृतीयस्कन्धात्. व्याख्यातञ्च आचार्यैः "अत्यन्तप्रेमोत्पत्तौ एवं भवति" (सुबो.३।२९।१२-१४) इति. अतः प्रेमपरिपाकावस्था व्यसनम्.

(८.सर्वात्मभावः)

ततो व्यसनवशात् सर्वत्र पुरुषोत्तमबुद्धौ सर्वत्रैव उत्कटस्नेहो भवति. स 'सर्वात्मभाव'शब्दवाच्यः. तत्सिद्धौ पुरुषोत्तमाविर्भावो बाह्याभ्यन्तरभेदेन निरन्तरं सिद्ध्यति.

(९.अलौकिकसामर्थ्यम्)

ततः फलावसरे सेवाफलप्रकरणोक्तरीत्याहिं अलौकिकसामर्थ्यरूपं[९] फलं भविष्यति इति अलं विस्तरेण.

एवम् अनेन प्रकारेण शुद्धपुष्टिभक्तानाम् अधिकारः फलसहितो निरूपितः.

[सर्वात्मभावापन्नायाः भक्तेः फलावस्थास्वरूपम्]

फलन्तु 'नित्यलीलान्तःप्रवेश'लक्षणम्, तदेव सेवाफलविवरणे

'अलौकिकसामर्थ्य' शब्देन उच्यते. आनन्दमयाधिकरणभाष्ये भगवता सह 'सर्वकामाशना[१०]'ख्यं यत् फलम् उक्तं[११] तद् इदम्. पुष्टिप्रवाहमर्यादानिरूपणग्रन्थे "भगवानेव हि फलम्" (पु.प्र.म.१७) इत्यनेन स्वरूपस्यैव फलत्वम् उक्तं तदपि नित्यलीलान्तःप्रवेशरूपम्. तच्च बहुप्रकारकं ज्ञेयं : नित्यलीलायांहि केचन भक्तरूपेण, गो-पशु-पक्षि-वृक्षादिरूपेण, गोपरूपेण[१२], नद्यादिरूपेण, पुरुषोत्तमात्मकं फलं निरवध्यानन्दात्मकम्, आनन्दमयाधिकरणभाष्योक्तरीत्या, तादृशम् अलौकिकं देहं प्राप्य देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवेषु भगवदानन्दप्राकट्यात् तादृशाः भूत्वा अनुभवन्ति. अतएव "अहो अमी देववरामरार्चितम्" (भाग.पुरा.१०।१२।५) इत्यादिभिः भगवता स्वलीलापरिकरस्वरूपं तादृशमेव निरूपितम्. पुष्टिमार्गीयो जीवस्तु फलदशायां तत्परिकरमध्ये अन्यतमः कश्चिद् भविष्यति. तत्र भगवदिच्छा नियामिका.

[स्वरूपतः ऐक्येऽपि प्रकारतः चतुर्विधपुष्टिभक्तिरिव नित्यलीलाप्रवेशस्य स्वरूपतः ऐक्येऽपि तत्र लीलानुभूतीनां प्रकारतो नैकविधता]

पुष्टिभक्तिः चतुर्विधा : (१)शुद्धपुष्टि-(२)पुष्टिपुष्टि-(३)मर्यादापुष्टि-(४)प्रवाहपुष्टि-भेदात्. तत्र पुष्टिभक्तित्वेन रूपेण ऐक्येऽपि प्रकारभेदाद् भेदः. एवम् एतत्फलस्यापि नित्यलीलान्तःप्रवेशत्वेन ऐक्येऽपि प्रकारभेदो भक्त-गो-पशु-वृक्षादिरूपेण बोध्यः, एतदेव तारतम्यं च. तथा सति सर्वेषां प्रवाहादिभेदभिन्नानां पुष्टिस्थानाम् एकमेव अलौकिकसामर्थ्यरूपं फलं 'नित्यलीलान्तःपातित्व' शब्दवाच्यं, "तदापीतेः संसारव्यपदेशात्" (ब्र.सू.४।२।८) इति तत्त्वसूत्रे "तदा नित्यलीलान्तःपात–लक्षण–पुष्टिमार्गीय–मुक्ति[१३]दशायाम्" (ब्र.सू.भा.४।२।८) इति भाष्योक्तेः. नित्यलीलाश्च शुद्धपुष्टिस्थाः व्रजसम्बन्धिन्यो ज्ञेयाः. तादृशनित्यलीलान्तःपाते सति पुनः प्रकारविशेषस्तु इष्टएव, "आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्" (भाग.पुरा.१०।४७।६१) इति वाक्यात्. अतः आधिदैविके बृहद्वन-वृन्दावनादौ भक्तरूपेण गोपादिरूपेण वा स्थित्वा रसानुभवः.

[आधुनिकजीवानां फलानुभूतौ प्रकारभेदः]

आधुनिकानामपि पुष्टिमार्गस्थितानां `तादृग्-भगवत्-कृपया पर्यवसाने फलरूपभावोत्पत्तौ नित्यलीलान्तःपातो भविष्यति. तत्र ये आधुनिकाः हीनाधिकारिणः पुष्टिमार्गीयाः तेषां चरमजन्माभावाद् बहुभिः जन्मभिः तादृशभावोत्पत्तौ नित्यलीलाप्रवेशो भावी इति बोध्यम्. तृतीयस्कन्धे "देवानां गुणलिङ्गानाम्" (भाग.पुरा.३।२५।३२) इत्यत्र सुबोधिन्याम् "अन्येषान्तु यथाकथञ्चित् क्रियमाणा भगवति खण्डशो वृत्तिः, अक्षय्यत्वाद् बहुभिः जन्मभिः पुष्टिंगता अन्तिमजन्मनि भक्तिरूपां वृत्तिं जनयिष्यतीति न कापि अनुपपत्तिः" (सुबो.३।२५।३२) इति उक्तेः.

निबन्धे सेवाप्रकरणे "भक्तिमार्गेऽमुख्यानां फलम् आहः" (त.दी.नि.प्र.-२।२१८) इति उक्त्वा ये व्याख्याताः ते सर्वे मर्यादाभक्तिमार्गीयाएव. "अधुनातु" (त.दी.नि.२।२१२) इत्यारभ्य "सायुज्यं कृष्णदेवेन" (त.दी.नि..-२।२१८) इत्यन्तेन गौणमुख्यभेदेन मर्यादाभक्तानां फलं सायुज्यावधि निरूपितम्. अतएव "मर्यादाभक्तिमार्गस्य काष्ठा गङ्गा परा स्मृता" (त.दी.नि..३।९।६५) इति निबन्धाद् गङ्गायाः मर्यादाभक्तिरूपायाः सेवनात् सायुज्यं भवतीति "सायुज्यं वाऽन्यथा तस्मिन् गङ्गातीरे न संशयः" (त.दी.नि.३।९।७०) इति नवमनिबन्धे उक्तम्. सायुज्यञ्च एकत्वरूपं 'भगवत्प्रवेश' शब्दवाच्यं, "ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्" (भग.गीता.१८।२५) इत्यादिवाक्यसिद्धम्. अग्रे "तदभावे स्वयं वाऽपि मूर्तिं कृत्वा" (त.दी.नि..२।२२८) इत्यारभ्य "गृहस्थस्य प्रकीर्तितम्" (त.दी.नि..२।२४६) इत्यन्तेन पुक्तिभक्तिमार्गीयप्रकारः उक्तः. विवरणेतु "एवं कुर्वन् सकुटुम्बो भगवत्सायुज्यम् अश्नुते" (त.दी.नि.२।२४६) इत्यत्र 'सायुज्य' शब्देन अलौकिकसामर्थ्यमेव. अतएव "आदिमूर्तिः कृष्णएव सेव्यः सायुज्यकाम्यया" (त.दी.नि.१।१३) इत्यस्य व्याख्याने " 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तैत्ति.उप.२।१-।१) इत्यत्र यत् सायुज्यं मुख्यतया निरूपितं तत्कामनायां कृष्णएव सेव्यः" (त.दी.नि.प्र.१।१३) इत्यनेन मर्यादामार्गीयसायुज्याद् भेदं निरूप्य अलौकिकसामर्थ्यरूपतैव प्रदर्शिता. एतच्च आनन्दमयाधिकरणभाष्ये स्पष्टतमम्

उपलभ्यतइति ततो अवधेयम्.

सेवाफलग्रन्थव्याख्याने "अलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु" (से.फ.वि.१) इत्यनेन फलत्रयम् उक्तं, तत्र अलौकिकसामर्थ्यं पुष्टिमार्गीयाणां फलं, शिष्टं फलद्वयन्तु मर्यादाभक्तानाम् इति ज्ञेयम्. मूलेऽपि "यादृशी सेवना प्रोक्ता" (से.फ.१) इत्यत्र 'सेवना' शब्देन मर्यादासेवा पुष्टिसेवा च उक्ता[*] इति बोद्धव्यम्. विवृतौ फलत्रयं सेवाद्वयस्य उक्तम्. तत्र प्रथमं पुष्टिसेवायाः, शिष्टं फलद्वयं मर्यादासेवायाः इति विवेकः. अतएव सायुज्यं सेवोपयोगिदेहप्राप्तिः च अन्यत्रापि मर्यादाभक्तस्य उक्ता "देहभावे दृढेतु स्याद् भक्तानां कृष्णदासता, सायुज्यं वान्यथा तस्मिन् गङ्गातीरे न संशयः" (त.दी.नि.३।९।७०) इति नवमस्कन्धनिबन्धे. तदविरोधाद् अत्रापि तत्फलद्वयं मर्यादाभक्तस्यैव इति निश्चयः.

विद्यायाः पञ्चपर्वमध्ये या भक्तिः उक्ता सा मार्यादिक्येव इति "यया विद्वान् हरिं विशेद्" (त.दी.नि.१।४६) इति निबन्धात्.

क्वचित् मार्यादिक्यां भक्तौ 'प्रेम' शब्दव्यवहारो दृश्यते, तत्र भगवति

---

[*] इदमत्र वक्तव्यं भवति : षोडशग्रन्थेषु उभयोः पुष्टिभक्ति-मर्यादाभक्त्योः निरूपणाङ्गीकारेतु श्रीयमुनाष्टकस्तोत्राद् आरभ्य सेवाफलं यावत् परिदृश्यमाना श्रीकृष्णसेवास्वरूपविषयिणी उपक्रमादिषड्विधतात्पर्यलिङ्गोपबृंहिता एकवाक्यता नूनं खण्डिता भवेद्! "यादृशी सेवना प्रोक्ता" इति वचनेऽपि 'यादृशी' पदेन किं सिद्धान्तमुक्तावल्यामेव प्रोक्तायाः आहोस्वित् तदारभ्य निरोधलक्षणग्रन्थं यावत् प्रोक्तायाअपि सेवनायाः परामर्शः? आद्ये ग्रन्थकृदभ्युपगतायाः पुष्टिमार्गीयफलरूपसेवनायाः मानस्याअपि साधिका सिद्धान्तमुक्तावल्युक्ता मर्यादामार्गीया सेवना स्यात्, "तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा" इति कण्ठोक्तनिरूपणात्. अन्त्येतु सर्वथैव असम्भवदुक्तिकः पक्षः कण्ठे पतति! तस्मात् सेवाफलग्रन्थे 'अलौकिसामर्थ्यं' पदं पुष्टिमार्गीयफलरूपायाः सिद्धान्तमुक्तावल्युक्तायाः मानस्याः सेवाभक्तेः निरूपकम्. 'सायुज्य' पदन्तु पुष्टिमार्गीयफलरूपायाः व्यसनभावापन्नायाः भक्तिवर्धिन्युक्तायाः कथाभक्तेः पुष्टिमार्गीयसायुज्यरूपस्य फलस्य निरूपकम्. 'सेवोपयोगिदेहो वैकुण्ठादिषु' इतितु आगामिनि 'फलविवेका' ख्ये प्रकरणे ग्रन्थकृदुपपादितयैव सरण्या 'नित्यलीलाप्रवेशा'-ख्यस्य फलस्य निरूपकम् इति बलवद्बाधकोपलब्धिं यावत् मे मनःप्रत्ययः.(*गो.श्या.म.*).

मोचकत्वबुद्ध्या प्रेम अस्तीति तत् सोपाधि प्रेम, नतु पुष्टिमार्गीयाणामिव निरुपाधिकं, तद् उक्तं तृतीयाध्याये "गतेरर्थवत्त्वमुभयथा अन्यथाहि विरोधः" (ब्र.सू.३।३।२९) इति तत्त्वसूत्रीयभाष्ये "मर्यादापुष्टिभेदेन अङ्गीकारे वैलक्षण्याद् आद्यायाम् अङ्गीकृतानां मुमुक्षयैव श्रवणादौ प्रवृत्तिः, तद्वदातृत्वेनैव भगवति प्रेमापि, नतु निरुपाधिः" (ब्र.सू.भा.३।३।२९)इति.

"आसन्यस्य हरेर्वापि सेवया" (त.दी.नि.१।३५) इत्यस्य व्याख्याने "सायुज्यब्रह्मभावौ हरिसेवयैव भवतो नान्यसेवया" इत्यत्रापि सेवा मार्यादिकी इति ज्ञेयम्. अतएव मर्यादास्थानामेव सायुज्यं फलं, पुष्टिस्थास्तु "दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः" (भाग.पुरा.३।२९।१३) इत्यादिवाक्येभ्यो न आद्रियन्ते सायुज्यान्तमुक्तिम्. एतच्च "वीक्ष्यालकावृतमुखम्" (भाग.पुरा.१-०।२६।३९) इत्यस्य सुबोधिन्यां स्पष्टम्. तत्रहि "प्रथमं सारूप्यं सालोक्यं सामीप्यं सायुज्यम् इति मोक्षभेदाः" (सुबो.१०।२६।३९) इति उक्त्वा अग्रे अलकादिस्वरूपं तत्फलं च व्याख्याय "हसितावलोकम्" (भाग.पुरा.१०।२६।-३९) इत्यस्य व्याख्याने "ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानां न भक्तिविलासः" (सुबो.१०।२६।३९) इत्यारभ्य "अनुभवरसोहि भिन्नतया स्थितौ भवति" (सुबो.१०।२६।३९) इत्यन्तेन, सायुज्यं न आकाङ्क्षितम् इति उपपादितम्. अतः सायुज्यं प्राप्तानां "सायुज्येतु रसाधिक्यं भेदेनानुभवात् सदा" (त.दी.नि.३।४।१५५) इति वाक्याद् भवन्नपि परमानन्दानुभवः स्वस्वरूपेणैव, नतु अलौकिकसामर्थ्यं प्राप्तानामिव सर्वेन्द्रियैः आत्मना च "ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानाम् आत्मनैव सुखप्रमा" (त.दी.नि.१।५०) इति निबन्धात्. अतः सायुज्यं स्वरूपान्तःपातः, स न अपेक्षितः पुष्टिभक्तानां; किन्तु, नित्यलीलान्तःपातएव इति सुधीभिः विभावनीयम्.

[प्रकरणोपसंहारः]

एतद्भक्त्यधिकारो विशेषानुग्रहसाध्यः, "यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावितः, स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्" (भाग.पुरा.४।२९।४६) इति वाक्यात्. एतद्भक्तिप्रवर्तकाः व्रजभक्ताएव,

"भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा, भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा" (भाग.पुरा.१०।४४।२५) इति वाक्यात्, व्याख्यातं च श्रीमदाचार्यैः "एतेन शास्त्रप्रसिद्धायां भक्तौ दानादिसाधनानि श्रूयन्ते अस्यान्तु प्रसिद्ध्यभावात् साधनमपि न पश्यामः इति भावः सूचितः" (सुबो.१०।४४।२५) इति. अतः सर्वोत्तमा इयं पुष्टिभक्तिः इति भाग्यवद्भिः ज्ञेयम्.

[१४]यद्यपि मर्यादा-मार्गीय-भक्तेरपि अलौकिकफल-साधकानुग्रह-जन्यत्वम् अस्ति; तथापि, अलौकिकफलसाधक-सामान्यानुग्रह-जन्यत्वात् 'पुष्टिभक्ति' संज्ञां न लभते. तस्माद् अलौकिक-विशेषानुग्रह-जन्यायाः 'पुष्टिभक्तिः' इति संज्ञा. अस्याः पुष्टिभक्तेः साधकस्य मार्गरुचिजन्य-श्रवणादिसमुद्भूत-भगवद्रुचि-जातश्रवणादिना प्रेमोत्पत्तौ यावद् व्यसनम् उत्पद्यते. तदन्तर्वर्तिश्रवणादिकं रागानुगा भक्तिः इति केचिद् वैष्णवाः मन्यन्ते.

तद् उक्तं भक्तिसन्दर्भे—

यस्य पूर्वोक्ते रागविशेषे रुचिरेव जातास्ति नतु रागविशेषएव स्वयं, तस्य तादृशराग-सुधाकर-कराभास-समुल्लसितहृदय-स्फटिकमणेः शास्त्रादिश्रुतासु तादृश्याः रागात्मिकायाः भक्तेः परिपाटीष्वपि रुचिः जायते. ततः तदीयं रागं रुच्या अनुगच्छन्ती सा रागानुगा तस्यैव प्रवर्तते.

(भक्तिसन्द.९९६)

इह, रागविशेषो न जातो रागसामान्यन्तु जातम्," इति अर्थो ज्ञातव्यः. तथाच प्रेमोत्पन्नं व्यसनं न उत्पन्नम् इति विवेकः. यदा व्यसनम् उत्पत्स्यते तदा 'रागात्मिका-भक्तिः' इति व्यवहारो, व्यसनस्य 'रागविशेष' शब्दवाच्यत्वात्.[१४]

इति श्रीमद्गोवर्धनधर-श्रीवल्लभाचार्य-श्रीविट्ठलेश्वर-चरणानुचरसेवकेन लालूभट्टोपनामबालकृष्णेन कृते प्रमेयरत्नार्णवे

पुष्टिभक्त्यधिकारविवेकः समाप्तिम् अगात्



॥पाठभेदतालिका॥

१. 'तनुजवित्तजसेवनादि' इति क ख ग ङ छ ज '-सेवादि' इति घ 'तनुजसेवनादि' इति मु-१-२-३ . २. 'तदा' इति मु-३ पाठे, तद्व्यतिरिक्तेषु सर्वेषु 'ततः' इति. ३. 'उच्यते' इति छ ज पाठयोः. 'अभीधीयते' मु-१-२-३ आदिषु. ४. 'यक्ता' इति मु-३ पाठे मुद्रणाशुद्धिः. ५. 'दैवजीवत्वम्' क ख घ ङ छ ज पाठेषु, 'जीवत्वम्' इति ग च मु-१-२-३ पाठेषु. ६. 'अनुभावाद्' इति ङ पाठे. ७. 'लक्षणम्' इति क ग घ ङ छ ज पाठेषु, 'लक्षणाद्' इति ख च मु-१-२-३ पाठेषु. ८. 'बोध्यः' इति मु-१-२-३ शेषेषु 'बोध्यम्' इति. ९. 'सामर्थ्यरूपम्' इति घ ङ छ ज पाठेषु, 'अलौकिकसामर्थ्यम्' इति मु-१-२-३ पाठेषु. १०. 'सर्वकामशनाख्यम्' इति ङ. ११. इह "जीवस्य अत्यनुगृहीतस्य" इति च ङ मु-१-२-३ पाठेषु अधिकम् उपलभ्यते. १२.'गोपरूपेण' इति छ ज पाठयोः उपलभ्यते नान्यत्र. १३. 'मुक्ति' शब्दो मु-३ पाठे त्रुटितः. १४. एतत्संख्यान्तःश्लिष्टों-ऽशो ग्रन्थकृतैव पश्चाद् योजितो भाति सोऽयं छ पाठएव उपलभ्यते नान्येषु.



✽ सर्वात्मभावविवेकः ✽

[प्रकरणोपपक्रमः]

पुरुषोत्तम-लाभे यो मुख्यहेतुतयोदितः।
तस्य सर्वात्मभावस्य स्वरूपमिह वर्ण्यते॥

[सर्वात्मभावस्य स्वरूप-प्रमाणयोः निरूपणम्]

भगवद्विषयको निरुपधि[१]स्नेहो भक्तिविशेषः सर्वात्मभावः.

तथाहि 'भावो' नाम रतिः, "रतिर् देवादिविषया भाव इत्यभिधीयते" (द्र.: का.प्रका.४।३५) इति वाक्यात्. आत्मनो भावः आत्मभावः. यथा स्वात्मनि स्वात्मनो[२] भावो निरुपधिरेव[३], "नवा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति" (बृह.उप.२।४।५-४।५।६) इत्यादिश्रुतेः, "नृप स्वात्मैव वल्लभः" (भाग.प्रक्षि.१०।१४।५०) इत्यादिवाक्यात् च. अतो यथा आत्मनि शुद्धः स्नेहः तथा भगवति कर्तव्यः इति श्रुतितात्पर्यम्[४]. अतएव "स त आत्मान्तर्याम्यमृतः" (बृह.उप.३।७।३,२३) इत्यादिना आत्मत्वं बोधयति. "तत्त्वमसि" (छान्दो.उप.६।८।७) इत्यत्रापि तथैव आशयः. एतच्च तत्त्वदीपे शास्त्रार्थप्रकरणे (त.दी.नि.१।४१-४२) उपपादितम्. भगवता ब्रह्माणं प्रति इदमेव अभाणि "अहमात्मात्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि, अतो मयि रतिं कुर्याद् देहादिर् यत्कृते प्रियः" (भाग.पुरा.३।९।४२) इति. अनेन भगवद्वाक्येन श्रुतावपि आत्मत्वकथनं स्नेहार्थमेव इति निर्णीयते, "अतो मयि रतिं कुर्याद्" (भाग.पुरा.३।९।४२) इति हेतुकथनपूर्वकोपदेशात्. निर्णीतञ्च विधिना, तद् उक्तं द्वितीयस्कन्धे "भगवान् ब्रह्म कात्स्न्र्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया, तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन्यतो भवेद्" (भाग.पुरा.२।२।३४) इति. अतः आत्मभावो[५] भगवद्विषयको[६] अत्यादरेण सम्पादनीयः. तस्मिन्[७] सिद्धौ तिरोधाननाशे सर्वत्र पदार्थमात्रे वस्तुतोऽपि भगवद्रूपे परमानन्दरूपस्य

पुरुषोत्तमस्य स्फूर्तौ सर्वात्मभावो[८] भवति.

['सर्वात्मभाव' पदस्य व्युत्पत्तिः]

तथाच " 'सर्वस्मिन्' + 'आत्मभावः' = 'सर्वात्मभावः' " इति फलितम्. "तव परि ये चरन्ति" (भाग.पुरा.१०।८४।२७) इत्यस्य सुबोधिन्यां, " 'तव' इति षष्ठ्या त्वत्सम्बन्धिनं पदार्थं यं कञ्चन परिचरन्ति परं सर्वात्मभावो अपेक्ष्यते, 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (बृह.उप.४।४।१९) इति भेददर्शनएव मृत्युपराक्रमश्रवणाद्" (सुबो.१०।८४।२७) इति उक्तम्. एतेन 'सर्वात्मभाव' पदे सप्तमीतत्पुरुषः. भगवत्स्फूर्तिः अभेदेनैव आदृता इति अध्यवसीयते. 'आत्म' पदेन भगवत्प्रीतिः अभेदावगाहिनी नतु अधिष्ठानभेदसंसृष्टा तन्त्रान्तरवद्; यतः, आत्मनि जायमानो भावो, ज्ञानमपि, अभेदेनैव वस्तुमहिम्ना उत्पद्यते. 'भाव' पदेनच "चिन्तयानो हृषीकेशम् अपश्यत् तन्मयं जगद्" (भाग.पुरा.१०।२।२४) इति वाक्योक्ते तादृग्भगवत्स्फुरणे न अतिप्रसक्तिः, द्वेषप्रयुक्ततया[९] भावत्वाभावात्. तदेव उक्तं श्रीधरस्वामिभिः, "सर्वात्मभावः एकान्तभक्तिः" (भाग.श्रीध.   ) इति, "एकान्तभक्तिर् गोविन्दे यत् सर्वत्र तदीक्षणम्" (भाग.पुरा.७।७।५५) इति तल्लक्षणाद्, अस्मदुक्त्या सह ऐक्यं ज्ञेयम्. तथा सति " *'सर्वस्मिन्' + 'आत्मभावः' = 'सर्वात्मभावः'* " इति निष्कर्षः.

[तस्यैतस्य (१)मर्यादा-(२)पुष्टि-भेदेन स्वरूपद्वैविध्यम्]

सच मर्यादा-पुष्टि-भेदेन द्विविधः.

तत्र (१)आद्यो नवमस्कन्धे अम्बरीषस्य उक्तः "सर्वात्मभावं विदधन् महीमिमां तन्निष्ठविप्राभिहितः शशास ह" (भाग.पुरा.९।४।२१) इति.

(२)द्वितीयस्तु शुद्धपुष्टिभक्तिमार्गीयाणां व्रजसुन्दरीणां दशमे निरूपितः. विप्रयोगदशायां विगाढभावेन सर्वत्र भगवत्स्फूर्तौ सर्वात्मभावः सिद्ध्यति.

एतावान् विशेषः पूर्वस्माद् : एतासां श्रीकृष्णे शृङ्गार-रस-सम्बन्धि-भावानां बहूनां सम्भवात् तत्तद्भाव-समानाधिकरणः सर्वात्मभावो भजनानन्दानुभावने अत्यन्तं निपुणइति शुद्धपुष्टिमार्गीयैः तोष्टूय्यते. तद् आह भगवान् भाष्यकारो "लिङ्गभूयस्त्वात् तद्धि बलीयस्तदपि" (ब्र.सू.३।३।४४) इति सूत्रे "एतेन सर्वात्मभावस्वरूपमेव विवृतं भवति. तत्र विरहभावे अतिविगाढभावेन सर्वत्र तदेव स्फुरतीति, 'सएव अधस्ताद्' (छान्दो.उप.७।२५।१) इत्यादिना उक्त्वा कदाचित् स्वस्मिन्नेव भगवत्त्वस्फूर्तिरपि भवतीति, 'अथातो अहङ्कारादेशः' (छान्दो.उप.७।२५।१) इत्यादिना ताम् उक्त्वा, एतेषां व्यभिचारिभावत्वेन अनियतत्वं ज्ञापयितुं पुनः सर्वत्र भगवत्स्फूर्तिम् आह, 'अथात आत्मादेशः' (छान्दो.उप.७।२५।२) इत्यादिना" (ब्र.सू.भा.३।३।४४) इत्यादि.

[शुद्धपुष्टिभक्तिमार्गीयस्य सर्वात्मभावस्य शृङ्गारात्मकत्वम्]

अयं पुष्टिमार्गीयः सर्वात्मभावः शृङ्गाररसमध्यपाती. एतत्प्राप्तौ शुद्धपुष्टिभक्तानामेव अधिकारः. भाष्येतु अयमेव विशिष्य विवृतः. मर्यादामार्गीयस्तु श्रुतिस्तुतिसुबोधिन्युक्तदिशा अम्बरीषादिभक्तगम्यः. उभयविधोऽपि उभयत्र परमकाष्ठापन्नभक्तिरूपः इति कोविदाः विदाङ्कुर्वन्तु.

[तत्र अनुपपत्तिशङ्कापरिहारौ]

नच *भ्रमरगीतीयस्य "सर्वात्मभावोऽधिगतो[10] भवतीनामधोक्षजे" (भाग.पुरा.१०।४४।२७) इति श्लोकस्य विवृतौ "सर्वोऽपि आत्मनो भावः" (सुबो.१०।४४।२७) इति विवृतत्वात्, न पूर्वोक्तं लक्षणम्* इति वाच्यम्, उद्धवोक्तौ पूर्वोक्तसर्वात्मभावस्य अभावात्; किन्तु, "सर्वोऽपि आत्मनो अन्तःकरणस्य भावो भवतीनां मम ज्ञानविषयो अभूद्" इति अर्थात्. यद्यपि एताः पूर्वोक्तपुष्टिमार्गीयसर्वात्मभाववत्यः तथापि उद्धवैः स न ज्ञातः किन्तु तदुक्त-शृङ्गाररस-सम्बन्धि-भावमात्रं बुद्धम् इति ज्ञेयं, "मधुप कितवबन्धो मा स्पृशांघ्रिं सपत्न्याः" (भाग.पुरा.१०।४४।१२) इत्यादिवाग्विलासैः घोषभूषणसीमन्तिनीभिः तदतिरिक्तस्यैव स्फुटीकरणात्.

नच * "मामेकमेव शरणम् आत्मानं सर्वदेहिनाम्, याहि सर्वात्मभावेन यास्यसे ह्यकुतोभयम्" (भाग.पुरा.११।१२।१५) इत्यत्र "सर्वात्मभावेन मां शरणं याहि" इति उक्तत्वात् शरणसाधनीभूतस्य सर्वात्मभावस्य न पूर्वोक्तरूपता * इति वाच्यं, "सर्वदेहिनाम् आत्मानं शरणं शरणभूतं मां सर्वात्मभावेन याहि" इति अभिप्रायात्. सूत्रभाष्ये 'अथवा...' (ब्र.सू.भा.३।३।४३) इति पक्षान्तरेण अस्यैव अर्थस्य आदृतत्वात्.

[सर्वात्मभावस्वरूपनिरूपणोपसंहारः]

एवं सति सर्वात्मभावस्य पूर्वोक्तएव महिमा, लक्षणं च पूर्वोक्तमेव, इति अलं विस्तरेण.

[11]श्रीमद्वल्लभविठ्ठलेश्वरपादाम्भोजप्रसादान्मया
भावोऽयं विशदीकृतो व्रजपतेः सर्वात्मभावाभिधः ॥
प्रोद्यत्पूर्णतमः प्रतापतरणे राजाधिराजप्रभोर्
देवश्रीजयसिंहभूपतिमणेर्धर्मेश्वरस्याज्ञया ॥[11]

इति श्रीगोवर्द्धनधर-श्रीवल्लभाचार्य-श्रीविठ्ठलेश्वर-चरणानुचरसेवकेन
लालूभट्टोपनाम-बालकृष्णेन कृते प्रमेयरत्नार्णवे
सर्वात्मभावविवेकः समाप्तः



॥ पाठभेदतालिका ॥

१. 'निरुपधि...' इति च छ ज मु-३ पाठेषु, 'निरुपाधि...' इति क ख ग घ मु-१-२ पाठेषु. २. 'स्वात्मनि स्वात्मनो' इति छ ज पाठयोः, 'आत्मनि आत्मनो' इति मु-१-२-३ आदिषु. ३. 'निरुपधि...' इति च छ ज मु-३ पाठेषु, 'निरुपाधि...' इति क ख ग घ मु-१-२ पाठेषु. ४. 'तात्पर्यम्' इति क ख ग घ छ ज 'तात्पर्यार्थः' इति मु-१-२-३. ५. 'आत्मभावः' इति छ ज पाठयोः,

'आत्मनोभावः' इति मु-१-२-३ आदिषु. ६. 'भगवद्विषयकः' इति छ ज पाठयोः, 'विषयः' इति मु-१-२-३ आदिषु. ७. 'तस्मिन्' इति छ ज पाठयोः, 'तस्य' इति मु-१-२-३ आदिषु. ८. 'सर्वात्मभावः' इति छ ज पाठयोः, 'सर्वत्र आत्मभावः' इति मु-१-२-३ आदिषु. ९. 'द्वेषप्रयुक्तायाः चिन्तायाः भगवद्भावत्वाभावाद्' इति ख . १०. 'अधिकृतः' इति पाठः श्रीभागवतकारिकाप्रतीकोपन्यासरहितायाः सुबोधिन्याः "सर्वोऽपि आत्मनो भावो भगवत्येव अधिकृतः" इति वचनांशेन शक्यो अनुमातुं; तथापि, श्रीलालूभट्टकृतेन सव्याख्यवचनोदाहरणेन सोऽयं वचनांशः कारिकास्थस्य "सर्वात्मभावोऽधिगतः" इति अंशस्य व्याख्यानरूपो अस्ति नवा इति अनुमातुं न शक्यते. ग्रन्थकारो यतो मूलकारिकां तत्सुबोधिनीं च एकहेलयैव उदाहरतीति तन्मते सुबोधिनीसम्मतोऽपि पाठः कदाचित् "सर्वात्मभावोऽधिगतः" इत्येव प्रतिभाति. ११. अयं श्लोकः ग घ ङ छ ज पाठेषु उपलभ्यमानो अन्यत्र त्रुटितः.



❋ पुष्टिमार्गीयफलविवेकः ❋

[प्रकरणोपक्रमः]

अथ पुष्टिमार्गीयाणां फलं विचार्यते.

[पुष्टिभक्तौ व्रजभक्तभावानुभावनस्य उपयोगितया तेषां फलानुभूतिप्रकारस्य निरूपणम्]

तत्र प्रथमं "भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा, भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा" (भाग.पुरा.१०।४४।२५) इति उद्धववाक्यात् मार्गप्रवर्तकत्वेन मुख्यत्वात् तेषां व्रजभक्तानां फलप्रकारो लिख्यते.

[भागवतदशमस्कन्धवर्णितानां व्रजभक्तानां फलं प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्तिरिति दशमस्कन्धार्थनिरूपणम्]

तत्र "निरोधोऽस्यानुशयनम् आत्मनः सह शक्तिभिः" (भाग.पुरा.२।१०-।६) इति द्वितीयस्कन्धीयशुकवाक्यात् शक्तिभिः सहितस्य भगवतः प्रपञ्चे क्रीडा निरोधः, 'आत्म' शब्दस्य भगवद्वाचित्वात्. 'अनुशयन' शब्देन तत्तल्लीलानुरूपा स्थितिः उच्यते, नतु निद्रा. 'पुरुष'शब्देन[1] पुरि शयनं पुरुषस्य उच्यते, "पुरि शेते" इति व्युत्पत्त्या; तत्र स्थितिरेव 'शीङ्' धातोः अर्थः, नतु निद्रा, एवम् इहापि. अतएव सुबोधिन्यां निबन्धे च, "निरोधोऽस्यानुशयनं प्रपञ्चे क्रीडनं हरेः, शक्तिभिर् दुर्विभाव्याभिः कृष्णस्येति हि लक्षणम्" (त.दी.नि.३।१०।१२-१५) इति उक्तम्.

[निरोधरूपायां भगवल्लीलायां त्रैविध्यम्]

सा भगवतो निरोधरूपा लीला त्रिविधा, निरोध्यभक्तानां तामस-राजस-सात्त्विक-भेदेन त्रिविधत्वात्. तत्तन्मनोरोचकतायै[2] क्रियमाणा

लोकानुसारिणी त्रिविधा भवति, "स्वभावस्यान्यथाभावो न वै शक्यः कथञ्चन, अतस् त्रिविधजीवेषु त्रिविधा भगवत्कृतिः" (सुबो.कारि.१०।५।१।६) इति सुबोधिन्याः[३]. तया त्रिविधलीलया क्रियमाणा भक्तानां प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्तिः, सापि 'निरोध' शब्दवाच्या, " 'नितरां रोधो'='निरोधः' " इति व्युत्पत्तेः.

['निरोध' पदकृत्यनिरूपणम्]

रोधः कस्य? इति अपेक्षायां भक्तानाम् इति पूर्वस्कन्धसङ्गत्या लभ्यते. अपादानापेक्षायां प्रपञ्चो ग्राह्यः. तथा सति प्रपञ्चाद् रोधः इति सिद्धं, "भक्ताः पूर्वत्र निर्दिष्टास्ते रोद्धव्या विमुक्तये" (त.दी.नि.३।१०।१६) इति निबन्धाद्, "हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे, ये निरुद्धास्तएवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम्" (निरो.लक्ष.११) इति निरोधलक्षणग्रन्थात् च. प्रपञ्चाद् रोधेऽपि, "कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्, इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते" (भग.गीता.३।६) इति न्यायेन प्रपञ्चस्मरणं चेत् न भगवल्लीलानुभवे मुख्यो अधिकारः स्याद्. अतः प्रपञ्चविस्मरणम् अपेक्षितम्. तद् उपसर्गेण लभ्यते : 'नि'तरां + रोधो = निरोधः इति, प्रपञ्चास्फूर्तिः इति यावत्. कस्मिन् निरोधः? इति अपेक्षायां भगवति निरोधः इति, "कृष्णे निरुद्धकरणा भक्ता मुक्ता भवन्ति हि" (त.दी.नि.३।१०।१६) इति निबन्धात्. सहि परम-रुच्युत्पादक-लीला-जन्यत्वेन परमसुखरूपत्वाद् आसक्तिरूपः. अन्यथा निग्रहमात्रं स्यात्, तत्तु न सुखकरं, "मनोनिग्रहकर्शिताः" (भाग.पुरा.११।२९।२) इति वाक्यात्. प्रपञ्चविस्मृतावेव भगवत्सुखानुभवाद् आसक्तिरूपत्वं सिद्धचति निरोधस्य. अतः प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्तिः 'निरोध' पद-वाच्या इति फलति[४],

"इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा।
कुर्वन्तो रममाणाश्च नाविन्दन् भववेदनाम्॥"
(भाग.पुरा.१०।११।५८).

"शय्यासनाटनालापक्रीडास्नानाशनादिषु[५]।
न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयः कृष्णचेतसः॥"
(भाग.पुरा.१०।८७।४६).
इत्यादौ तथैव निरूपितत्वात्.

[निरोधस्य (क)भगवद्धर्मरूपता (ख)जीवधर्मरूपता चेति द्वैविध्यम्]

तथाच—

(क)प्रपञ्च-विस्मृति-पूर्वक-भगवदासक्ति-सम्पादिका प्रपञ्चाधिकरणिका भगवल्लीला 'निरोध' पद-वाच्या[६]. सेयं भगवद्धर्मः.

(ख)तादृशलीलाजन्या प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवदासक्तिः 'निरोध' पद-वाच्या, सा जीवधर्मः.

तद् उभयं दशमस्कन्धे प्रतिपाद्यते "समुदायो जन्मवाची क्रीडायुक्तस्य वै हरेः, प्रपञ्चविस्मृतिः सक्तिर् भक्तानां चापि योगतः" (त.दी.नि.३।१०।२०) इति निबन्धात्.

[निरोधलीलायां प्रथमं तामसं प्रकरणम्]

तत्र प्रथमं तामसं प्रकरणम्.

व्रजस्थानां तामसत्वं त्रिविधम्—

(१)अविहितभक्तिरसानुभवसाधनरूपं पारिभाषिकम् एकम्.
(२)धर्मविशेषरूपं द्वितीयम्.
(३)भगवन्मायाकृतं तृतीयं च.

(१)तत्र आद्यन्तु स्वमनोरथानुकूल-लोकसदृश-भगवल्लीलारुचिमत्त्व-बाह्यदर्शनैकाभिलाषवत्त्व-वियोगासहिष्णुत्वादिरूपम्. तामसाःहि हठप्रधानाः, तेषां यत्र आग्रहः पतति स न गच्छति, ज्ञानरहिताः मुग्धाः च भवन्ति. ज्ञानराहित्यादेव लोकवेदोल्लङ्घनं कुर्वन्ति. व्रजस्थाअपि भगवति परमाग्रहवन्तो लीलानुपयुक्तज्ञानशून्याः, "एवं मदोर्थोज्झितलोकवेदस्वानाम्" (भाग.पुरा.१०।२९।२१) इति वाक्याद् भगवदर्थं लोकवेदोल्लङ्घनशीलाश्चेति एतावद्धर्मसाम्येन तामसत्वम् उच्यते परोक्षवादाय, "परोक्षप्रियाइव हि देवाः" (ऐत.उप.१।३।४) इति श्रुतेः, "परोक्षं मम च प्रियम्" (भाग.पुरा.११।२१।३५) इति भगवद्वाक्यात् च. इदं तामसत्वं तामसप्रकरणे सर्वेषु भक्तेषु अनुगतम्.

(२)द्वितीयन्तु यत्र-यत्र उद्गच्छति तत्र-तत्र तादृशकार्यं करोति. यथा, "शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा, सुरतनाथ ते शुल्कदासिका वरद निघ्नतो नेह किं वधः" (भाग.पुरा.१०।२८।२) इत्यादिवाक्यानि. इदं तामसत्वं भावविशेषरूपम्. एवं राजसत्वसात्विकत्वे-अपि भावविशेषरूपे [७]मायाकार्यभूतराजसतामसाभ्याम् अतिरिक्ते-एव[७]. अतएव तामसप्रकरणस्थाया-एव कस्याश्चिद् राजसीत्वम् अन्यस्याः सात्त्विकीत्वं कस्याश्चित् निर्गुणात्वम् उच्यते. अतो ज्ञायते इदं तामसत्वादिकं भावविशेषएव. [८]("स्वागतं वो महाभागाः" (भाग.पुरा.१०।२६।१८) इत्यस्य सुबोधिन्यां "तमोरजस्सत्त्वभेदाः स्वान्तपर्यवसानतः" (सुबो.कारि.१०।२६।१८।१) इति कारिकया इदमेव भावविशेषरूपं तामसत्वम् अगादि. एतट्टिप्पण्यां तथैवं उक्तम् "एतासु नायिकाभेदेन भावभेदो बोधनीयः. एवं क्वचिद् एकरूपाः, क्वचित् कदाचिद् मिश्राः, क्वचित् कदाचिद् उत्तरेण उपमर्दिताः, केचित् क्वचित् चिरंस्थिराः, केचित् किञ्चित्कालं, केचिद् आशुनाशिनः, इत्येवंरूपत्वं सत्त्वादिगुणेषु अस्ति इति दृष्टान्तेन बोधयितुं तावद्भिः श्लोकैः एताः निवार्यन्ते इति आशयेन आहुः तमोरज...इत्यादि. तथा सति उपचारेण भावाएव 'तम'आदिशब्देन उच्यन्ते" (सुबो.टिप्प.१०।२६।१८) इत्यन्तेन. अतो भावरूपत्वम्.)[८] अतएव "मधुप कितवबन्धो" (भाग.पुरा.१०।४४।१२) इत्यादौ एतस्य तामसत्वस्य अनुवृत्ती राजसप्रकरणेऽपि दृश्यते.

(३)तृतीयन्तु भगवन्मायाकार्यम्. माया अत्र लीलासृष्टिस्थ-जीव-सम्बन्धिनी ज्ञेया, "न वव्राथेऽपवर्गं मे मोहितौ मम मायया" (भाग.पुरा.१०।३।३९) इत्यत्र "इयं विशेषमाया" इत्यादिना सुबोधिन्याम् अतिरिक्तायाः प्रदर्शितत्वाद्, "वैष्णवीं व्यतनोन् मायाम्" (भाग.पुरा.१०।८।४३) इत्यत्र मूले 'वैष्णवी' पदात् च. अतः सा पशुपुत्रगृहाद्यासक्तिं जनयति. तत्कार्यं व्रजस्थेषु प्रतीयते, "अह्न्यापृतं निशि शयानमतिश्रमेण" (भाग.पुरा.२।७।३१) इति वाक्यात्. क्वचिद् भगवद्विस्मृतिञ्च जनयति, "नैवाशृणोद् वै रुदितं सुतस्य सा" (भाग.पुरा.१०।७।६) इति वाक्याद्, "अतृप्तमुत्सृज्य जवेन सा ययौ" (भाग.पुरा.१०।९।५) इति वाक्यात् च. क्वचित् मायिकधर्माणां भगवति प्रतीतिः, "मेहनादीनि वास्तौ" (भाग.पुरा.१०।८।३१) इत्यत्र निरूपिता. "यत् सम्परेतः पुनरेव बालकः" (भाग.पुरा.१०।७।३२) इत्यादिवाक्यान्यपि अज्ञानमूलानि विशेषमायाकार्यभूतेन तामसत्वेन. अतः एतस्य दोषरूपत्वम्.

[लीलौपयिकमायाकार्यभूतस्य तामसत्वस्य निवर्तनीयतया अग्रिमाग्रिमलीलासु तन्निवर्तनप्रकारः]

इदं मायाकार्यरूपं तामसत्वं भगवान् क्रमेण लीलाभिः नाशयति. अग्रे निवर्तनीयस्यापि पूर्वं स्थापनन्तु अत्यन्त-विरुद्ध-साधनवत्स्वपि ब्रह्मादि-दुराप-फल-दानेन पुष्टिमार्गीय-भगवन्महिम-ख्यापनार्थम् इति ज्ञेयम्. तामस-प्रकरणीय-लीला-समाप्तौ इदं मायाकार्यं तामसत्वं निवृत्तम्. एवं तामसानां निरोधे जाते अग्रिम-कार्यार्थं[९] चिकीर्षित-लीलाप्रतिबन्धकी-भूतस्य आद्यतामसत्वस्य वियोगासहिष्णुत्व-लोकेवेदोल्लङ्घनशीलत्वादिरूपस्य निवारणम्. अतएव "निवारयामः समुपेत्य माधवं किं नोऽकरिष्यन् कुलवृद्धबान्धवाः" (भाग.पुरा.१०।३६।२८) इति उक्त्वापि न कृतवत्यः, तामसभावस्य परिहृतत्वात्.

[निरोधलीलायां तामसत्वनिवर्तनान्तरं प्रकटितत्वेन निवर्त्यस्य राजसभक्तनिरो-

धलीलौपयिकस्य च राजसत्वस्य निरूपणम्]

ततो राजसभावः. सच, "विकुर्वन् क्रियया चाधिरनिर्वृत्तिश्च चेतसां[१०], गात्रास्वास्थ्यं मनोभ्रान्तं रज एतैर्निशामय" (भाग.पुरा.११।२५।१७) इति एकादशवाक्यात् मनोविक्षेपकर्ता. अतएव "भवतीनां वियोगो मे नहि सर्वात्मना क्वचिद्, आत्मत्वाद् भक्तवश्यत्वात् सत्यवाक्त्वात् स्वभावतः" (भाग.पुरा.सुबोधिन्यनुसारिपाठे.१०।४४।२९). इत्यादिसन्देशोपदिष्टात्मज्ञानम् एतासां जातम्. तेन "न अस्माकं भगवद्वियोगः" इति बुद्धं, "ततस्ताः कृष्णसन्देशैर् व्यपेतविरहज्वराः, उद्धवं पूजयाञ्चक्रुः ज्ञात्वात्मानमधोक्षजम्" (भाग.पुरा.१०।४४।५३) इति वाक्यात्. एवम् आत्मत्वेन ज्ञानानन्तरमपि "दृष्ट्वैवमादि गोपीनां कृष्णावेशात्मविक्लवम्" (भाग.पुरा.१०।४४।५७) इति वाक्याद् उपदिष्टज्ञानं तिरोभवति, रजोगुणेन विक्षेपकरणात्. तथा सति "भगवद्विरहो अस्ति" इति ज्ञानात् पुनः खेदः. एवम्[११] यावद् राजसभावः, तावद् उपदिष्टस्फूर्तौ विरहाभावज्ञानात् सुखम्, उपदिष्टविस्मृतौ विरहज्ञानाद् दुःखम् इति उभयं वर्तते इति ज्ञेयम्.

[निरोधलीलायां राजसत्वनिवर्तनान्तरं प्रकटितत्वेन निवर्त्यस्य सात्त्विकभक्तनिरोधलीलौपयिकस्य च सात्त्विकत्वस्य निरूपणम्]

ततो राजसभावस्यापि निवृत्तौ सत्त्वम् उर्वीरतं, तदा सात्त्विकाः उच्यन्ते.

तत्रहि "सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्" (भग.गीता.१४।१७) इति वाक्याद् उद्धवद्वारा[१२] उपदिष्टं ज्ञानं स्थिरम् अभूत्. अतएव कुरुक्षेत्रप्रसङ्गे "गेहञ्जुषामपि मनस्युदियात् सदा नः" (भाग.पुरा.१०।७९।४९) इत्येव प्रार्थितम्, अन्यथा पुरःस्थिते भगवति व्रजे भगवदागमनं प्रार्थयेयुः. अतो भगवच्छास्त्रप्रकारेण भगवन्मेलनं समीचीनं सार्वदिकं च इति ताभिः बुद्धम् इति अध्यवसीयते.

[निरोधलीलायां सात्त्विकत्वनिवर्तनानन्तरं प्रकटितस्य निर्गुणभक्तनिरोधलीलौपयिकस्य च निर्गुणत्वस्य निरूपणम्]

ततः सत्त्वनिवृत्तौ निर्गुणावस्था. ततो भगवद्रूपातायां नित्यलीलाप्रवेशो मुक्तिः, "मुक्तिर्हित्वाऽन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः" (भाग.पुरा.२।१०।६ – सुबो.कारि.११।१।१।४) इति लक्षणात्[१३]. ततो रमणादिकमपि सर्वं पुरुषोत्तमात्मकमिति आश्रयप्राप्तिः इति भगवदीयैः विभावनीयम्.

[अथ व्रजभक्तभावानुभावनकर्तृणाम् आधुनिकपुष्टिभक्तानां फलानुभूतिप्रकारः]

अथ आधुनिकानां पुष्टिमार्गीयाणां फलं लिख्यते.

तत्र श्रीमद्भागवते द्विधा बोधो अस्ति इति ज्ञेयम्.

तत्र—

(१)एको वाचनिकः.

(२)द्वितीयः आर्थिकः 'आध्यात्मिक' शब्द-वाच्यः.

(१)तत्र वाचनिकोहि शाब्दबोध[१४]मर्यादया जायते. (२)द्वितीयस्तु लीलातात्पर्यादिज्ञानानन्तरं ज्ञानविशेषो[१५] जन्यते.

(१)तत्र आद्यो यथा "अहं भक्तपराधीनः" (भाग.पुरा.९।४।६३) इति नवमस्कन्धे भगवद्वाक्यश्रवणाद् "भगवान् भक्ताधीनः" इति अवगत्यात्मकः.

(२)द्वितीयस्तु, "गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यद् भगवान्" (भाग.पुरा.१०।१-१।७) इति वाक्यात् तादृशलीलायाः तात्पर्यज्ञानानन्तरं पुष्टिभक्तपरवशत्वं[१६] भगवतो निर्धार्यते, तत्र ज्ञेयः.

यथावा (१)"योषित् सङ्गाद् यथा पुंसः" (भाग.पुरा.११।१४।३०)

इति वाचनिको (२)"वाचं दुहितरं तन्वीं स्वयम्भूर्हरतीं मनः" (भाग.पुरा.३।१२।२८) इत्यत्र आर्थिकः. एवं सर्वत्र उह्यम्.

सोऽयं सुबोधिनीनिबन्धयोः[१७] आध्यात्मिकः पक्षः तत्तल्लीलाप्रसङ्गे साधितो अस्ति.

एवं सति आधुनिकपुष्टिस्थानां कथं प्रभुप्राप्तिः[१८] ? इति जिज्ञासायाम्, "एवं धर्मैर् मनुष्याणाम् उद्धवात्मनिवेदिनाम्" (भाग.पुरा.११।१९।२४) इत्यादिभिः प्रकारलाभेऽपि, "माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते, स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते" (भग.गीता. १४।२६) इत्यादिवाक्यैः नैर्गुण्यावस्थानन्तरं[१९] फलप्राप्तिः इत्याद्याकारक-सिद्धान्तसिद्धावपि नैर्गुण्यानन्तरं फलम् इति आर्थिकोऽपि सिद्धान्तः सम्पद्यते. सोऽयं भागवतमूलकयोः सुबोधिनीनिबन्धयोः वर्ततइति, ततो बोधसौकर्याय उद्धृत्य लिख्यते.

तत्र येषु जीवेषु भगवता पारमार्थिक-फलविशेष-साधनार्थम् अलौकिकानुग्रहविशेषेण पुष्टिभक्तिः बीजरूपा स्थापिता अस्ति — ते पुष्टिमार्गीयाः. तेषां साधनैः फलं भविष्यतीति स[२०] प्रकारो निर्धार्यते. तत्र "त्रैगुण्यः सर्वएव हि" (भाग.पुरा.११।२५।३०) इति भगवद्वाक्यात् ते मायाकार्य-तामसादि-गुणैः व्याप्ताः सन्ति. यद्यपि सर्वेषु त्रयो गुणाः सन्ति तथापि "प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति" इति न्यायेन यस्मिन् यस्य गुणस्य आधिक्यं स तेन गुणेन व्यपदिश्यते. तत्र सात्त्विकानां सेवाश्रवणादिसाधनैः शीघ्रं प्रेमोत्पत्तिः. अतएव उक्तं निबन्धे "सात्त्विका भगवद्भक्ता ये मुक्तावधिकारिणः" (त.दी.नि.१।२) इति, निबन्धीय-सेवाप्रकरणे "सात्त्विकान् उपदिशति" (त.दी.नि.प्र.२।२२४) इति च. [२१]तेहि सात्त्विकसात्त्विकाः. अतः तेषां मुख्याधिकारः, शिष्टौ मध्यमहीनौ. तत्र सात्त्विकराजसाः मध्यमाः, सात्त्विकतामसाः हीनाः.[२१] अतएव भक्तिस्कन्धीयभक्तेषु हीनमध्यमोत्तमाः सर्वेऽपि कथिताः. "पुंसामीशकथा प्रोक्ता हरेश्चास्यानुवर्तिनाम्" (भाग.पुरा.२।१०।५) इत्यनेन सामान्यतः सर्वेषां भक्तत्वं सूचितम्. अधुनातु कलिकालदोषाद्

मोहलोभादियुताः [२२]सात्त्विकतामसाः (सात्त्विक!)राजसाः[२२] बहवः सन्ति. तेहि, पूर्वस्थापितस्य पुष्टिभक्तिबीजस्य अनश्वरत्वेन सत्त्वात्, भगवत्परिचर्याश्रवणा[२३]दि कुर्वाणाअपि दोषप्राबल्याद् न प्रेमलक्षणां भक्तिं लभन्ते, प्रतिबन्धकाभावस्य सर्वत्र कारणत्वात्. तेषाम्, "आदरः परिचर्यायाम्" (भाग.पुरा.११।१९।२१) इत्यादि-भगवदुक्त-सेवाश्रवणादि-साधनैः बीजदार्ढ्ये सति सेवयैव क्रमेण तमोरजस्सत्त्वानि निवर्तन्ते, "माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते[२४] स गुणान् समतीत्येतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते[२४]" (भग.गीता.१४।२६) इत्यादिवाक्यात्, तदेतद् गोकुलस्थानां प्रसङ्गे सूचितं च. यतः तेषां पूर्वं तमो निवृत्तं, पश्चाद् रजस्सत्त्वे, तद् उक्तं निबन्धे[२५] —

इतोऽपि चेद् हरिर्गच्छेद् नीत्वा सर्वस्य तामसम्।
राजसास्ते भविष्यन्ति गोकुलस्था न संशयः॥
उभये च ततस्त्वग्रे सात्त्विकास्त्वगुणास्ततः।
त्रयोऽपि सम्भविष्यन्ति मुक्तौ तेषां निरूपणम्॥
(त.दी.नि.३।१०।१२६-१२७) इति.

इतोऽपि चेद् इत्यादि, *ननु तामसप्रकरणीय-लीलासमाप्ति-पर्यन्तं गोकुलस्थानां तामसत्वं स्थितमेव पश्चाद् भगवन्मथुरागमनानन्तरं लीलानां बाह्यतः तिरोभावात् शास्त्रीयसाधनानां च गोकुलस्थेषु[२६] अभावात् कथं तामसभावनिवृत्तिः?* इति आशङ्क्य तन्निवृत्तिप्रकारम् आहुः इतोऽपि चेद् इत्यादिना. अयमर्थः — यद्यपि इह भक्तिशास्त्रीय-मर्यादा-विचारे तामसत्वनिवृत्तौ न किञ्चित् कारणं, कारणाभावेऽपि यदि कार्योत्पत्तिः तदा सर्वमर्यादोच्छेदः स्यात्, तथापि हरिः चेत् तामसत्वं स्वयं गृहीत्वा गच्छेत् तदा शास्त्रीयमर्यादायाः दुर्बलत्वात् तामसत्वं गच्छत्येव. अतः प्रमेयबलस्यैव मुख्यत्वं, न प्रमाणबलस्येति प्रमेयबलेन राजसाः ते भविष्यन्ति. अस्मिन् अर्थे संशयो नास्ति. अतो न कश्चिद् विरोधो, नवा

मर्यादाभङ्गः, प्रमाणबलविचारे तथात्वेऽपि प्रमेयबलविचारेण समाधानाद्[२७] इति कारिकार्थः फलितः.

यद्यपि लीलासृष्टिस्थभक्तास्तु "यो नन्दः परमानन्दो यशोदामुक्तिरूपिणी" (कृष्णोप.३) "गोप्यो गाव ऋचस्तस्य" (कृष्णोप.८) इत्यादिभिः कृष्णोपनिषत्सु अतिश्लाघितस्वरूपाः प्रापञ्चिकविलक्षणाः तथापि अंशविशेषे दृष्टान्तीकरणात् न दोषः.

नच *पुष्टिभक्तेः निर्गुणत्वात् तद्वतो राजसत्वं तामसत्वं च न सम्भवति* इति वाच्यं, वृत्रे तामसत्वदर्शनाद्, "रजस्तमःस्वभावस्य ब्रह्मन् वृत्रस्य पाप्मनः" (भाग.पुरा.६।१४।१) इति वाक्याद्, "अजातपक्षाइव मातरं खगाः" (भाग.पुरा.६।११।२६) इत्यादिवाक्यैः वृत्रस्य पुष्टिभक्तत्वनिर्धारात्. अतो भक्तेः निर्गुणत्वेऽपि भक्तानां सगुणत्वम् अस्त्येव. "अभिसन्धाय यो हिंसाम्" (भाग.पुरा.३।२९।८) इत्यादिवाक्यैः तादृक्कामजन्यायाएव भक्तेः सगुणत्वं, नतु अस्याः. अतः इयं भक्तिः निर्गुणैव. भक्तानान्तु त्रैविध्यं वर्ततएव.

अतः आधुनिकानां त्रिविध[२८]पुष्टिभक्तानां साधनसापेक्षत्वाद् आदितः[२९] आरभ्य सेवाश्रवणादिप्रकारः तामसादिगुणनिवृत्तिप्रकारः (च!) आध्यात्मिकरीत्या निरूप्यते.

तथाहि —

[आधुनिकपुष्टिभक्तानां भजनविधौ भगवत्प्रादुर्भावलीलानुभावनम्]

यथा लीलासृष्टौ तामसप्रकरणारम्भे प्रथमाध्याये भगवदाविर्भावोत्सवः तथा इहापि साधकस्य श्रीमूर्तेः आविर्भावोत्सवः. अतएव निबन्धे सेवाप्रकरणे, "'एनम् उद्धरिष्यामि' इति तदा मृदादेः प्रादुर्भूतः" (त.दी.नि.प्र.२।२२८) इति उक्त्वा[३०] मूर्तिरूपेण प्रभोः आविर्भावएव अङ्गीकृतः तथा अत्र.[३१]

[आधुनिकपुष्टिभक्तानां भजनविधौ भगवत्सेवाप्रतिबन्धकज्ञाने प्रतिबन्धनिवारकस्य गुरोः उपदेशानुसरणे वसुदेवकृतनन्दोपदेशलीलानुभावनम्]

यथा, "नेह स्थेयं बहुतिथं सन्त्युत्पाताश्च गोकुले" (भाग.पुरा.१०।५।३१) इत्यनेन प्रादुर्भूतभगवत्सुखानुभवप्रतिबन्धकज्ञाने वसुदेवस्य कारणता एवम् अत्रापि गुरोः सकाशाद् भक्तिमार्गप्रतिबन्धकज्ञानम्.

[आधुनिकपुष्टिभक्तानां भजनविधौ भगवत्स्वरूप-भगवन्माहात्म्य-बोधपूर्वक-भजनौपयिकाज्ञाननिवृत्तये पूतनामारणलीलानुभावनम्]

ततः पूतनामारणम्.[३२] साच अविद्यारूपा. [३३]अविद्यानिवृत्तावपि लेशभूता तिष्ठत्येव,[३३] "अविद्या पूतना नष्टा गन्धमात्रावशेषिता" (सुबो.कारि.१०।६।१४-।१) इति सुबोधिनी[३४] वाक्यात्.

नच *पूतनाबकादीनाम् अविद्यादम्भादिरूपत्वे मानाभावः* इति वाच्यं, "लोभक्रोधादयो दैत्याः" (कृष्णोप.९) इति कृष्णोपनिषद्भ्यः[३५] सर्वेषां दैत्यानां परिदृश्यमान-स्वरूपातिरिक्त-लोभादि-रूपत्वेन प्रतिपादनात्, "लोभक्रोधादयो दैत्याः" इत्यत्र 'आदि'शब्देन सर्वेषां संग्रहात्. एतदुपनिषन्मूलिकैव धेनुकादौ देहाध्यासत्वाद्युक्तिः सुबोधिन्याम् इति ज्ञेयम्.

एवं सति तत्र अविद्यारूपा पूतना नाशिता; तथा, इहापि भगवद्बहिर्मुखत्वसम्पादिका अविद्या सेव्यमानेन प्रभुणा नाश्यते, "सकृदिष्ट्वादिपुरुषम्" (भाग.पुरा.६।१८।६६) इति वाक्यात्. तत्र यथा वसुदेवमुखाद् उत्पातश्रवणे तन्निवृत्त्यर्थं श्रीनन्देन "हरिं जगाम शरणम्" (भाग.पुरा.१०।६।१) इति वाक्यात् शरणगमनं[३६] कृतं तथा इह साधकेन गुरुद्वारा भक्तिमार्गे प्रतिबन्धकानि श्रुत्वा तन्निवृत्तये हरिशरणगमनं[३७] कार्यम्. तद् उक्तं निबन्धे "आद्येन[३८] भगवन्मार्गे बाधकानि बहूनि हि, द्वितीये तदभावोहि कृष्णनैव[३९] भवेदिति" (त.दी.नि.३।१०।५२-५३).

[आधुनिकपुष्टिभक्तानां भजनविधौ गृहे भगवत्सेवानुपयोगिपदार्थानां भक्तिरूपभगवच्चरणेन उत्क्षेपणे शकटासुरोत्क्षेपणलीलानुभावनम्]

तत्र यथा पूर्वसञ्चित-स्वासक्तिविषयीभूत-भगवदनुपयुक्त-गृहरूप-शकटस्य भक्तिरूपचरणेन उत्क्षेपणम् ; एवं, साधकस्यापि भगवदनुपयुक्त-वस्तु-सम्बन्धो निवर्तते.

[आधुनिकपुष्टिभक्तानां भजनविधौ भगवत्साक्षात्कारप्रतिबन्धरूपस्य रजोगुणस्य निवर्तने तृणावर्तोपशमनलीलानुभावनम्]

तृणावर्तो भगवत्साक्षात्कारप्रतिबन्धरूपो रजोगुणात्मा हतः; एवम्, अस्यापि भजनप्रतिबन्धरूपो रजोगुणो नश्यति.

[आधुनिकपुष्टिभक्तानां भजनविधौ भगवन्मुखारविन्ददर्शने भगवन्माहात्म्यज्ञानाय श्रीयशोदायै विश्वरूपप्रदर्शनलीलायाः अनुभावनम्]

तत्र[४०] यथा श्रीयशोदायाः विश्वरूपदर्शनेन महिमज्ञापनं; तथा, इहापि साधकस्य सेव्यस्वरूपे स्वप्नादिद्वारा कश्चिद् अनुभवो ज्ञाप्यते[४१].

[आधुनिकपुष्टिभक्तानां भजनविधौ भगवदीयमुखाद् भगवद्गुणश्रवणे श्रीगर्गमुनिवर्णितभगवद्गुणश्रवणलीलानुभावनम्]

ततो गर्गेण एकान्ते भगवन्नामानि उक्तानि. तत्र रूपगुणलीलावैशिष्ट्यं निरूपितं "बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते, गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः" (भाग.पुरा.१०।८।१८) इत्यनेन, 'सन्ति' इति प्रयोगेण तेषां नामरूपगुणकर्मणां नित्यत्वं बोधितम्. तथाच सिद्धम् एतत् — साधकेन भगवदीयमुखाद् रूप[४२]-गुण-लीला-विशिष्टानां नाम्नां दुःसङ्गवर्जनपूर्वकं स्वरूपं[४३] श्रुत्वा तत्तल्लीलासंयुत-स्वरूपगुण[४४]स्मरण-पूर्वकं तन्नाम ग्राह्यं, यथा 'गोवर्द्धनोद्धरणधीरः' इति नामग्रहणे गोवर्द्धनोद्धरणात्मकलीलाविशिष्टं वामकरकमलधृतगोवर्धनं श्रीकृष्णस्वरूपं हृदि आनेयम् इति. एतच्च नामकरणप्रसङ्गसुबो-

धिन्यां विस्तृतं[४५] श्रीमदाचार्यचरणैः.

[आधुनिकपुष्टिभक्तानां भजनविधौ बहुविधासुरभावनिवर्तने जाणुरिङ्गण-लीलानुभावनम्]

ततो जानुरिङ्गणलीलायां "द्वे जानुनी सुतलं विश्वमूर्तेः" (भाग.पुरा.२।१।२७) इति वाक्याद् जानुनोः सुतलाधिदैविकत्वात्, तत्रच दैत्यानां निवासाद्, जानुभ्यां गमनेन गुप्ततयैव अलौकिकप्रकारेण दैत्यमर्दनम् आचरितं; तथा, इहापि सेव्यमानो भगवान् अनेकधा स्थितान् अज्ञातानपि बहून् आसुरभावान् दूरीकरोति.

[आधुनिकपुष्टिभक्तानां भजनविधौ भगवति दोषबुद्धिनिरसनाय श्रुतोपालम्भायाः मातुः दोषादर्शनलीलायाः अनुभावनम्]

चौर्यादिप्रसङ्गे, व्रजसुन्दरीभिः भगवतो दोषेषु निवेदितेषु महिमज्ञानाभावेऽपि, केवलस्नेहात्, न मातृचरणैः दोषाः गृहीताः, "न ह्युपालब्धुम् ऐच्छत्" (भाग.पुरा.१०।८।३१) इति वाक्याद्; एवमेव, भगवदीयो ज्ञानरहितोऽपि भजनस्वभावात् न भगवति दोषं गृह्णाति.

[आधुनिकपुष्टिभक्तानां भजनविधौ भक्त्यैव समर्पितं यत्किञ्चिद् भगवान् अश्नाति नतु बुभुक्षया इत्यत्र मृद्भक्षणलीलानुभावनम्]

ततो मृद्भक्षणप्रसङ्गे "नाहं भक्षितवान् अम्ब!" (भाग.पुरा.१०।८।३५) इत्यादिना "सर्वसाधारणरीत्या प्रतीतो अशनरूपो धर्मो मयि नास्ति", "क्षुत् खलु वै मनुष्यस्य भ्रातृव्यः" (   ) इति श्रुतेः "भक्षणकारणीभूतक्षुधायाः, मनुष्यासाधारणधर्मत्वेन, मयि अभावाद्" इति उक्तं हरिणा. तथाच क्षुधितः सन् न अश्नाति, भक्तिपूर्वकं भक्तेन दत्तम् अश्नात्येव, "पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति, तदहं भक्त्युपहृतम् अश्नामि प्रयतात्मनः" (भग.गीता.९।२६) इति वाक्यात्. अशनञ्च अत्र भोगो नतु भक्षणमात्रं, पुष्पादीनां संग्रहात्. तथाच सर्वमेव

वासोभूषणस्रगादि भक्त्या दत्तं स्वीकरोति. अतः इमं प्रकारं बुद्ध्वा नैवेद्यादि भक्त्यैव समर्पणीयम् इति लभ्यते स्म. एतत्तु मृद्भक्षणप्रसङ्गे[४६] टिप्पण्यां(सुबो.टिप्प.१०।८।३५) स्फुटम्.

[आधुनिकपुष्टिभक्तानां भजनविधौ भगवति लौकिकभावस्फूर्तौ भगवन्मुखे द्वितीयविश्वरूपप्रदर्शनलीलायाः अनुभावनेन तादृग्बुद्धिनिरसनानुभावनम्]

श्रीमातृचरणानां साधारणरीत्या अशनधर्मे प्रतीते मुखं व्यादाय विश्वरूपं प्रदर्श्य सर्वसाधारण-निखिल-धर्माभावो बोधितः. अग्रेतु "यन्मायायेत्थं कुमतिः स मे गतिः" (भाग.पुरा.१०।८।४२) इति वाक्यात्, स्नेहस्य सर्वथा तिरोधाने, "वैष्णवीं व्यतनोन्मायाम्" (भाग.पुरा.१०।८।४३) इति वाक्यात् लीलास्थजीव-नियामिकया वैष्णव्या मायया मोहयित्वा स्नेहं वर्धितवान्; एवम्, अस्यापि सेव्यस्वरूपे लौकिकभावस्फूर्तौ तन्निराकृतये भगवान् अर्थविशेषस्फुरणेन[४७] महिमानं बोधयति. तत्रापि अत्यन्तमहिमस्फूर्तौ स्नेहोपचारशैथिल्ये स्नेहिभक्तसङ्गादिना स्नेहोपचारश्रद्धां द्रढयति भगवान्.

[आधुनिकपुष्टिभक्तानां भजनविधौ भक्त्याविर्भाववृद्ध्योः महापुरुष-कृपाहेतुकत्वनिर्धारणलीलानुभावनम्]

ततो, "द्रोणो वसूनां प्रवरः" (भाग.पुरा.१०।८।४८) इत्यादि-प्रश्नोत्तराभ्यां श्रीनन्दयशोदयोः भक्तौ महापुरुषकृपैव कारणम् इति सिद्धान्तितम्; एवम्, इहापि श्रीमदाचार्यचरण-श्रीविठ्ठलेश्वरचरण-कृपातो भक्तिः भवति इति ज्ञेयम्.

[आधुनिकपुष्टिभक्तानां भजनविधौ गृहकार्यकरणे भगवद्गुणगानपरत्वे दधिमन्थनलीलानुभावनम्]

ततो मातृचरणानां दधिमन्थनावसरे भगवद्गुणगानं, "दधिनिर्मथने काले स्मरन्ती तान्यगायत" (भाग.पुरा.१०।९।२) इति वाक्याद्; एवं, साधकेनापि गुणगानादि कुर्वतैव व्यावृत्तिः[४८] कार्या.

[आधुनिकपुष्टिभक्तानां भजनविधौ सेवोपयोगिसामग्रीसम्पादने चित्तस्य भगवत्परतानिर्वाहे दधिमण्डभाजनभेदनलीलानुभावनम्]

ततो दधिमण्डभाजनभेदः, शिक्यस्थनवनीतस्य मर्कटेभ्यो दानम्. तद् उभाभ्याम् इदं सिद्ध्यति — भगवदावेशाभावदशायां भगवदितरभोगोपयोगबुद्ध्या सम्पादितान् पदार्थान् न अङ्गीकरोति भगवान्; एवं, सति समर्पणीयस्य वस्तुनः सम्पादनदशाम् आरभ्य भगवदुपयोगसमयावधि चित्तस्य कृष्णैकपरतैव रक्षणीया इति बोद्धव्यं साधकेन.

[आधुनिकपुष्टिभक्तानां भजनविधौ "नहि साधनसम्पत्त्या भगवान् स्ववशे भवति किन्तु भक्त्यैव" इत्यत्र दामोदरलीलानुभावनम्]

ततः [४९]श्रीयशोदया श्रीकृष्णं दाम्ना बद्धुं यतितं, तथापि न बद्धो[४९], यदा खेदं दृष्टवान् भगवान् तदा कृपया भक्तवश्यतां सूचयन् बद्धो अभूत्; तथा, साधकोऽपि अनेकसम्भृतसपर्यया न पुरुषोत्तमं वशीकर्तुं शक्नोति अपितु भक्त्यैव.

[आधुनिकपुष्टिभक्तानां भजनविधौ नैकविधदोषनिवृत्तौ दुःसङ्गत्यागपूर्वकभग-वदीयसङ्गस्य आवश्यकतायां यमलार्जुनलीलानुभावनम्]

ततो यमलार्जुनप्रसङ्गे भगवदीय-नारद-समागमेन श्रीमदरूप-महादोषजन्य-स्त्रीसङ्गादि-निवृत्तौ व्रजे वृक्षदेहं प्राप्य स्थितौ नलकूबरमणिग्रीवौ हरिः मोचितवान्. तत्रापि "तत् तथा साधयिष्यामि यद् गीतं तन्महात्मना" (भाग.पुरा.१०।१०।-२५) इति "भक्तानुगृहीतौ मोचयिष्यामि" इति उक्तवान् प्रभुः. अतो भक्तानां सङ्गमः सकलपुमर्थसाधकः इति सिद्धम्.

[आधुनिकपुष्टिभक्तानां भजनविधौ भगवति भक्तपारवश्यं ध्यातुं गोपीस्तोभितनृत्यलीलानुभावनम्]

ततः "गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यद्" (भाग.पुरा.१०।११।७) इत्यत्र

भक्तिवश्यत्वं स्फुटमेव.

[आधुनिकपुष्टिभक्तानां भजनविधौ मध्याह्ने वृन्दावने गोचारण-क्रीडानुभावनम्]

ततो वृन्दावनक्रीडा. तत्र "चारयामासतुर् वत्सान् नानाक्रीडापरिच्छदौ" (भाग.पुरा.१०।११।३८) इति वाक्याद् "भ्रमर-चक्र-सूक्ष्मदण्ड-काष्ठखण्ड-कृत्रिमरथ-वादित्राकर्षणादीनि क्रीडापरिच्छदानि" (सुबो.१०।११।३८) गृहीत्वा क्रीडति हरिः; एवं सति सेवायामपि तानि स्थापनीयानि, "एवं तौ लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिश् चेरतुर् वने" (भाग.पुरा.१०।१५।१६) इति पञ्चदशाध्याये वक्ष्यमाणत्वात् च, "यद्-यद् इष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः, तत्-तन् निवेदयेन् मह्यं तदानन्त्याय कल्पते" (भाग.पुरा.११।११।४१) इति भगवद्वाक्यात् च. विस्तृत[५०]ञ्च एतत् सेवाकौमुद्याम्.

[आधुनिकपुष्टिभक्तानां भजनविधौ सेवोपयोगिसामग्रीशोधने वत्सासुर-वधलीलानुभावनम्]

ततो वत्सासुरवधः. सहि वत्सचारण-सामग्री-रूपाणां वत्सानां दोषरूपः. तस्य निवारणेन वत्साः निर्दोषाः कृताः; एवम्, इहापि सेवोपयोगिसामग्री प्रभुणा शोध्यते.

[आधुनिकपुष्टिभक्तानां भजनविधौ लोभानृतदम्भादिदोष-निवारणाय बकासु-रवधलीलानुभावनम्]ग़े.१०तङ७०८ैक१४ेक१७तत्र यथा वयस्यानां भक्तानां दोषरूपो लोभानृतसहितदम्भात्मको बको नाशितः; तथा, इहापि लोभानृतसहितो दम्भादिदोषः सेवया नश्यति.

[आधुनिकपुष्टिभक्तानां भजनविधौ भगवत्प्रेमपरिपाकार्थं श्रीनन्दादि-कृतभगवत्कथागानवद् भागवतपाठादिरूपं गुणगानम्]

तत्र यथा "इति नन्दादयो गोपाः" (भाग.पुरा.१०।११।५८) इति

वाक्याद् गुणगानं प्रेम च सूचितं; तथा, अत्र भागवतपाठादिरूपं [५१] गुणगानम्.

[आधुनिकपुष्टिभक्तानां भजनविधौ पूर्णप्रेमसिद्धये भगवतः प्रमेयरूप-तानुभावनम्]

एवं प्रमाणप्रकरणसमाप्तौ यथा तेषां प्रेमपूर्णत्वसिद्धिः;[५२] तथा, अत्र साधकस्य एतावत्साधनसम्पत्तौ प्रेमपूर्णत्वम् उत्पद्यते. [५३]"**अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत् सदा ततः प्रेम**" (भ.व.२-३) इति भक्तिवर्धिनी ग्रन्थात्.[५३]

[आधुनिकपुष्टिभक्तानां भजनविधौ देहाध्यासनिवारणाय धेनुकासुरवध-लीलानुभावनम्]

तत्र यथा देहाध्यासरूपो धेनुको नाशितः; तथा, अत्र सेवाकर्तुः देहस्य स्वकीयत्वाध्यासो गच्छति.

[आधुनिकपुष्टिभक्तानां भजनविधौ विषयासक्तेन्द्रियशोधनाय कालीयशिरो-नृत्यलीलानुभावनम्]

यथा कालीयशिरांसि विषयसंसृष्टेन्द्रियरूपाणि चरणारविन्देन भक्तिरूपेण विमर्द्य शोधितानि, "अनुग्रहोऽयं भवता कृतोऽहिनः" (भाग.पुरा.१०।१६।३४) इति वाक्यात्; तथा, इहापि विषयोन्मुखानि इन्द्रियाणि भजनेन संशोध्य भगवत्पराणि क्रियन्ते.

[आधुनिकपुष्टिभक्तानां भजनविधौ इन्द्रियदोषनियामकासुरभाव-निवारणाय दावाग्निशमनलीलानुभावनम्]

यथा इन्द्रियदोषाभिमानिनो दावाग्नेः सकाशात् सर्वेषां रक्षा; तथा, इहापि इन्द्रियदोषनियामकाद् आसुरभावाद् भक्तस्य रक्षा.

[आधुनिकपुष्टिभक्तानां भजनविधौ अन्तःकरणदोषनिवारणाय प्रलम्बासुरवधलीलानुभावनम्]

यथा अन्तःकरणदोषात्मा[५४] प्रलम्बो हतः; एवम्, इहापि सेवां कुर्वतो अन्तःकरणदोषाः निवर्तन्ते.

[आधुनिकपुष्टिभक्तानां भजनविधौ भगवत्स्वरूपाज्ञानरूपदोषनिवारणाय द्वितीयदावाग्निशमनलीलानुभावनम्]

यथा अज्ञानात्मा आत्मदोषो द्वितीयो दावाग्निः, तन्निवृत्तिः कृता; तद्वद्, अत्रापि स्वरूपाज्ञाननिवृत्तिः भवति.

[आधुनिकपुष्टिभक्तानां भजनविधौ भगवत्सेवानवसरे भगवद्गुणगानलीलानुभावनम्]

यथा भक्तानां भावविशेषेण गानम् अष्टादशाध्यायाये निरूपितं; तथा, इहापि सेवायाः अनवसरे भागवत[५५] कीर्तनादिरूपं गानम्.[५६]

[आधुनिकपुष्टिभक्तानां भजनविधौ एतावत्साधनसम्पत्तौ रुच्युत्पन्नस्नेहोत्तरं भगवदासक्तिः प्रकटा भवति]

ततः "एवंविधा भगवतो या वृन्दावनचारिणो, वर्णयन्त्यो मिथो गोप्यः क्रीडास्तन्मयतां ययुः" (भाग.पुरा.१०।१८।२०) इति वाक्याद्, यथा तासाम् आसक्तिः; एवं, साधकस्यापि एतावत्साधनसम्पत्तौ[५६/क] आसक्तेः पूर्णता सिद्ध्यति, "ततः प्रेम तथासक्तिः" इति भक्तिवर्धिन्याः[५६/क]

[आधुनिकपुष्टिभक्तानां भगवद्भजनपराणां वर्णाश्रमादि-परोपकारादि-धर्माणां वैष्णवधर्माणां च निर्वाहः]

ततः कुमारिकाव्रतप्रसङ्गे यज्ञपत्नीव्रतप्रसङ्गे यथा(यः!) आध्यात्मिकः

पक्षः सिद्धः तद् उक्तं निबन्धे :—

कृष्णवाक्यं सदा कार्यं मायामोहं निवार्य हि।
वृक्षवत्तु स्थितिः कार्या शुद्धान्नेन च वर्तयेत्॥
(त.दी.नि.३।१०।९२)इति.

अयम् अर्थः — व्रतप्रसङ्गे अग्निकुमारैः लज्जां परित्यज्य भगवदुक्तं[५६/ख] सर्वं कृतं, तेन भगवत्प्रसादो अभूत्. अतो भगवद्वाक्यं सर्वथा कर्तव्यम्. तद् अत्र श्रुतिस्मृत्यादिरूपं कर्तव्यम् इति फलितम्. मायामोहं निवार्य वृक्षवत्तु स्थितिः कार्या इति, मायया जातो यो मोहो "'मम'-'इदम्'" इति अज्ञानात्मकः, तं दूरीकृत्य वृक्षवत् केवलपरोपकारतया स्थेयम्, "अहो एषां वरं जन्म" (भाग.पुरा.१०।१९।३३) इत्यारभ्य "तोक्मैः कामान् वितन्वते" (भाग.पुरा.१०।१९।३४) इत्यन्तेन परोपकृतेः प्रभुणा उपदिष्टत्वात्. शुद्धान्नेन च वर्तयेद् इति, "एषा वै बाधते क्षुन्नः" (भाग.पुरा.१०।२०।१) इति गोपैः विज्ञापिते[५६/ग] "मां ज्ञापयत पत्नीभ्यः" (भाग.पुरा.१०।२०।१४) इति उक्त्वा यज्ञपत्नीसविधे[५६/घ] प्रेषयित्वा ताभिः आनीतेन अन्नेन गोपानां तृप्तिः सम्पादिता. ताः हि भगवदीयाः, "भगवत्युत्तमश्लोके दीर्घश्रुतधृताशयाः" (भाग.पुरा.१०।२०।२०) इति वाक्यात्. अतः इदम् अत्र लब्धं : वैष्णवानामेव अन्नं ग्राह्यं, ततः उक्तं शुद्धान्नेन च वर्तयेद् इति.

[आधुनिकपुष्टिभक्तानां भजनविधौ अन्याश्रयदोषनिवारणाय गोवर्द्धनोद्धरणलीलानुभावनम्]

ततः इन्द्रयागभङ्गं कृत्वा स्वयागः कारितः. तत्र शक्रकृतोपद्रवे गोवर्धनोद्धरणेन व्रजो रक्षितः. तथा सति साधकैः अन्याश्रयो न कर्तव्यः.

एवं सति केवलभगवदाश्रये यदि कश्चिद् उपद्रवो भवेत् तदा ''भगवान् पालयिष्यति'' इति विश्वासो रक्षणीयः एव इति स्फुटति[५६/ङ].

[आधुनिकपुष्टिभक्तानां भजनविधौ आसक्त्युत्तरं क्रियमाणायाः भक्तेः व्यसनावस्थायां परिपाको भवति]

एवं भगवदुक्त-वर्णाश्रमधर्माचरणेन परोपकारादि-धर्माचरणेन च वैष्णवान्नभक्षणेन अन्याश्रय[५६]त्यागपूर्वकभगवदाश्रयेन[५७] प्रतिबन्धकपापनाशे भगवत्प्रसादे च क्रियमाणायाः श्रवणादिरूपायाः पोषे[५८] बीजभावदार्ढ्ये व्यसनभावः पूर्णो[५९] भवति. ततो वृद्धौ क्रमेण गुणानां नाशो लीलासृष्टिस्थानां यथा, ''दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परं, सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म ज्योतिः सनातनम्'' (भाग.पुरा.१०।२५।१४-१५) इति वाक्याद्, व्यापिवैकुण्ठ-लोकात्मका[६०]-ऽक्षरब्रह्मानुभवः; तथा, अत्र पूर्वोक्तरीत्या सेवया व्यसनसिद्धौ गुणनाशे ब्रह्मभावः, ''सएव 'भक्तियोगा'ख्य आत्यन्तिक उदाहृतः, येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते'' (भाग.पुरा.३।२९।१४) इति वाक्यात्.

[आधुनिकपुष्टिभक्तानां भजनविधौ भूतले फलानुभूतिप्रकारानुभावनम्]

ततः फलप्रकरणे यथा सर्वात्मभाववतीनां तासां भजनानन्दानुभवः; तथा, इह साधकस्यापि सर्वात्मभावोत्पत्तौ सदैव पुरुषोत्तमाविर्भावात् सेवायां भजनानन्दानुभवः फलति.

[आधुनिकपुष्टिभक्तानां भजनविधौ लौकिकशरीरत्यागानन्तरं जायमानायाः फलानुभूतेः विविधप्रकाराणां निरूपणम्]

ततो ''भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाथ सम्पद्यते'' (ब्र.सू.४।१।१९) इति सूत्रभाष्योक्तरीत्या स्थूललिङ्गशरीरयोः नाशे भगवल्लीलोपयोगिदेहं प्राप्य नित्यलीलायां प्रविशति. सएव मुक्तिपदार्थो, ''मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः'' (भाग.पुरा.२।१०।६) इति लक्षणात्. तत्रच ''सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता'' (तैत्ति.उप.२।१।१) इति श्रुत्युक्तरीत्या

पुरुषोत्तमेन सह पुरुषोत्तमात्मकानां पुरुषोत्तमात्मकभोगाशनम् आश्रयप्राप्तिः इति निष्कर्षो, ''निरोधलीलाम् उक्त्वाथ मुक्तिस्तदनुवर्ण्यते, मुक्तानामाश्रयः कृष्णो नान्येषाम् इति शास्त्रतः'' (श्रीभाग.एका.कारि.१) इति सुबोधिन्याः.

इति श्रीगोवर्धनधर-श्रीवल्लभाचार्य-श्रीविट्ठलेश्वर-चरणानुचरसेवकेन
लालूभट्टोपनाम-बालकृष्णेन कृते प्रमेयरत्नार्णवे
पुष्टिमार्गीयफलविवेकः समाप्तिम् ऐयः[६१]

प्रपञ्चो जीवमूले च पुष्टिः पुष्ट्यधिकारिता।
सर्वात्मभावो मार्गीयः फलमेवं ह्यनुक्रमात्[६२]॥



॥ पाठभेदतालिका ॥

१. 'शब्देन' इति छ ज 'शब्दे' इति मु-१-२-३. २. 'रोचकता' इति क ख ग घ च छ ज पाठेषु, 'रोधकता' इति ङ मु-१-२-३ पाठेषु. ३. 'सुबोधिन्याः' इति क ख छ ज पाठेषु, 'सुबोधिन्याम्' इति घ ङ च मु-१-२-३ पाठेषु. ४. 'फलति' इति क ख ग घ ङ छ ज पाठेषु, च मु-१-२-३ पाठेषु त्रुटितो भाति. ५. ''शय्यासनाटनालापक्रीडास्नानाशनादिषु'' इति क ग घ ङ छ ज इत्यत्र प्रमेयरत्नार्णवीयः पाठः सुबोधिन्यान्तु ''शय्याशनाटनालापक्रीडास्नानासनादिषु'' इति. ६. 'निरोध'शब्दवाच्या' इति ङ छ ज पाठेषु '-पदवाच्या' इति क ख च मु-१-२-३ पाठेषु. ७. एतत्संख्यांकितोंऽशः छ पाठएव नान्येषु. ८. एतत्संख्यांकितोंऽशः घ पाठीयो ग्रन्थकारस्यान्यस्य वेति ज्ञातुं न शक्यतइति कोष्ठके विन्यासः. ९. 'कार्यार्थम्' इति क ग घ छ ज पाठेषु, 'कार्यार्थ-' इति च ख मु-१-२-३ पाठेषु. १०. 'चेतसाम्' इति क ख ग घ च छ ज पाठेषु 'चेतसः' इति ङ मु-१-२-३ पाठेषु. ११. 'खेदः. एवम्' इति छ ज पाठयोः 'खेदएव' इति अन्येषु. १२. 'उद्धवोपदिष्टम्' इति मु-३ निर्मूलो भाति. १३. 'लक्षणाद्' इति छ पाठः, 'वाक्याद्' इति ज. मु-१-२-३ आदिषु नैकतरमपि. १४. 'शाब्दबोधो मर्यादया' इति मु-३ 'शाब्दबोधो शब्दमर्यादया' इति ख शेषेषु एवम्. १५. 'ज्ञानविशेषाद्' इति मु-१-२-३. १६. 'पुष्टिभक्तपरवशत्वम्' इति छ ज पाठयोः 'पुष्टिभक्ति...' इति क मु-१-२-३

आदिषु. १७. 'सुबोधिनीनिबन्धयोः' इति छ ज पाठयोः '-निबन्धादौ' इति क मु-१-२-३ आदिषु. १८. 'प्रभु' इति छ पाठे. १९. 'नैर्गुण्यावस्थानन्तरम्' इति घ ङ च छ ज मु-१-२-३ पाठेषु, 'नैर्गुण्यानन्तरम्' इति क ग पाठयोः. २०. 'स प्रकारः' इति घ ङ पाठानुरोधाद्. २१. एतत्संख्यांकितोंऽशः छ पाठे, "अतः तेषां प्रथमाधिकारः शिष्टौ मध्यमहीनौ" इति ज पाठे, "अतः ते प्रथमाधिकारिणः शिष्टौ-" इति मु-१-२-३ आदि पाठेषु. २२. एतत्संख्यांकितोंऽशः छ पाठे, नान्येषु. २३. 'भगवत्परिचर्यादि' इति मु-३ पाठः. २४. एतत्संख्यांकितोंऽशः घ ज व्यतिरिक्तेषु निखिलेषु त्रुटितो भाति. २५. "तद् उक्तं निबन्धे" इति सर्वत्र उपलभ्यमानाः इमे शब्दाः मु-३ पाठे त्रुटिताः भान्ति. २६. 'गोकुलस्थेषु' इति छ ज पाठयोरेव. २७. 'समाहितिः' इति ग . २८. 'त्रिविधः' इति छ ज पाठयोरेव. २९. 'आदितः' इति सर्वेषु, 'इतः' इति मु-३ पाठे. ३०. 'उक्त्वा' इति क छ ज पाठेषु, 'उक्तम्' इति ख मु-१-२-३ आदिषु. ३१. 'तत्र यथा' इति क ग घ छ ज पाठेषु, 'तथा अत्र' इति मु-३, 'तथा यत्र' इति ङ मु-१-२, 'तथा यत्र' इति च पाठे संशोधनम्. ३२. 'मारणम्' इति छ, 'मरणम्' इति शेषेषु. ३३. एतत्संख्यांकितोंऽशः छ पाठे अधिकः उपलभ्यते. ३४. 'सुबोधिनी' इति छ पाठे अधिकः उपलभ्यते. ३५. 'उपनिषद्भ्यः' इति क ख ग घ च छ ज , 'उपनिषत्सु' इति मु-१-२-३ पाठेषु. ३६. 'शरणगमनम्' इति ख ग घ ङ छ ज , 'शरणागमनम्' इति क च मु-१-२-३ पाठेषु. ३७. 'शरणगमनम्' इति ग घ ङ छ ज इति पाठेषु, 'शरणागमनम्' इति क ख च मु-१-२-३ पाठेषु. ३८. 'आद्येतु' इति ङ च मु-१-२-३ पाठेषु तत्र च पाठे लेखकेतरेण तथासंशोधनम्. ३९. 'हरिणा' इति ख ङ च छ ज मु-१-२-३ पाठेषु. ४०. 'ततो यथा' इति क च छ ज मु-१-२-३ पाठेषु, 'तत्र' इति ग घ पाठयोः, 'ततोऽग्रे' इति ङ पाठे. ४१. 'ज्ञायते' इति क ख ग घ छ ज पाठेषु. ४२. 'रूपगुणलीला' इति क ग घ ङ छ ज, पाठेषु, 'गुणलीला' इति ख च मु-१-२-३ पाठेषु. ४३. 'स्वयम्' इति ग घ पाठयोः. ४४. 'गुण' इति छ ज पाठयोः अधिकम्. ४५. 'विवृतम्' इति मु-३ पाठएव. ४६. 'मृद्भक्षणविमर्शप्रसंगे' इति छ, 'प्रसंगटिप्प-' इति मु-१-२-३ आदिषु. ४७. 'भागवताद्यर्थविशेषस्फोरणेन' इति छ ज पाठयोः, 'भगवान् अर्थविशेषस्फुरणेन' इति क ग घ पाठेषु, 'भगवताद्यर्थ-' इति ख पाठे, 'भागवताद्यर्थ-' इति मु-१-२-३ पाठेषु. ४८. 'व्यावृत्तिः' इति क ग घ पाठेषु, 'व्यापृतिः' इति मु-१-२-३ पाठेषु. ४९. एतत्संख्यांकितोंऽशः क ग घ छ ज पाठेषु, "श्रीयशोदा दाम्ना बद्धुं प्रवृत्ता तथा न बद्धो" इति मु-१-२-३ आदि पाठेषु. ५०. 'विवृतम्' इति मु-३ पाठः. ५१. 'भागवतपाठादिरूपम्' इति क ग घ छ ज पाठेषु, च पाठेऽपि एवमेवासीत् परं श्रीरत्नगोपालमहोदयस्य संशोधितः पाठो — 'भगवदीयादिरूपगुणगानम्' इति; तथैव, ङ मु-१-२-३ पाठेष्वपि.

५२. 'पूर्णत्वसिद्धिः' इति ज, 'पूर्णत्वं सिद्धं' इति, मु-१-२-३ आदिषु. ५३. एतत्संख्यांकितोंऽशः छ पाठे अधिकः उपलभ्यते. ५४. 'दोषात्मा प्रलम्बः' इति क छ ज पाठेषु, 'अन्तःकरणदोषात्मरूपी प्रलम्बः' इति ख पाठे, '-दोषात्मकः प्रलम्बः' इति ग घ पाठयोः, 'दोषात्मप्रलम्बः' इति च मु-१-२-३ पाठेषु. ५५. 'भागवत' इति छ ज पाठयोः, 'भगवतः' इति क ख मु-१-२-३ आदि पाठेषु. ५६. एतत्संख्यांकितेंऽशे महान् पंक्तिव्यत्यासो मुद्रितेषु पाठेषु सञ्जातः ततः क ग घ छ ज पाठानुरोधेन यथास्थानसंनिवेशः कृतः. ५६/क. एतत्संख्यांकितोंऽशः छ पाठे अधिकः उपलभ्यते. ५६/ख. एतत्संख्यांकितोंऽशः छ पाठे अधिकः उपलभ्यते. ५६/ग. 'गोपैः विज्ञापिते' इति क ग घ छ ज पाठेषु, 'गोपैः विज्ञापितः' इति ख च पाठयोः, 'गोप विज्ञापितः' इति ङ मु-१-२-३ पाठेषु. ५६/घ. '-सविधे' इति छ ज पाठयोः, '-सन्निधौ' इति क ख च मु-१-२-३ पाठेषु. ५६/ङ. 'एव इति स्फुटति' इति छ पाठानुरोधेन. ५७. 'त्यागपूर्वकभगवदाश्रयेन' इति ज पाठानुरोधेन. ५८. 'पोषः' इति ङ मु-१-२-३ पाठेषु, 'पोषे' इति क ग घ च पाठेषु. ५९. 'बीजभावदाढ्र्ये व्यसनभावः पूर्णो' इति छ पाठे, 'बीजभावदाढ्र्यव्यसनभावरूपः' इति मु-१-२-३ पाठेषु, 'व्यसनभावरूपं' इति शेषेषु. ६०. 'व्यापिवैकुण्ठात्मकाक्षरब्रह्म' इति क ख छ मु-१-२-३ पाठेषु, 'व्यापिवैकुण्ठलोकात्मकाक्षरब्रह्म' इति ग घ पाठयोः. ६१. 'अफाणीत्' इति च पाठे श्रीरत्नगोपालमहोदयकृतं संशोधनम्. ६२. अयं श्लोकः ज पाठएव.



||श्रीगिरिधारी तनोतु मङ्गलानि ||

|| प्रमेयरत्नार्णवस्य ||

(उत्तरार्धः)

❋ ख्यातिविवेकः ❋

[मङ्गलाचरणम्]

श्रीमद्गोवर्धनाधीशं गोपिकाप्राणवल्लभम् ||
रासक्रीडारतं वन्दे भजनानन्दलब्धये ||१||
घोषसीमन्तिनीनेत्रचकोरचयचन्दिरम् ||
वन्दे श्रीबालकृष्णाख्यं प्रभुमानन्दमन्दिरम् ||२||
वन्दे श्रीवल्लभाचार्यान् पुष्टिमार्गप्रवर्तकान् |
श्रीविठ्ठलेशचरणान् आश्रये कृष्णतुष्टये ||३||
श्रीसम्राट्चतुरग्निचिद्धरिपदाम्भोजन्मसंरक्षितः
पञ्चाधिक्यशताश्वमेधयजने प्रोच्चद्धरावासवः ||
सर्वश्लाघितसर्वमेधमखकृद् राजाधिराजाह्वयो
देवश्रीजयसिंहभूपतिपतिर्विद्वाँश्चिरं जीवतु ||४||
ये सङ्क्षेपेण पूर्वार्धे पदार्था विनिरूपिताः |
तद्व्यासं कर्तुमारब्धम् उत्तरार्धं मयाधुना ||५||

[प्रकरणोपक्रमः]

तत्र पूर्वार्धे पूर्वं प्रपञ्चविवेकः उक्तः, तद्दाढ्र्याय ख्यातिस्वरूपनिरूपणम् आवश्यकं, ख्यातिबोधं विना प्रपञ्चस्वरूपस्य आकलयितुम् अशक्यत्वात्. अतः तृतीयस्कन्ध-सुबोधिनीप्रदर्शित-पद्धत्या पूर्वं ख्यातिः विचार्यते.

[अपरोक्षज्ञानजननप्रक्रियानिरूपणम्]

तत्र मनःसंयुक्तचक्षुरिन्द्रियेण शुक्तेः संयोगे तज्जन्यं सामान्यज्ञानम् उत्पद्यते. इदं सामान्यज्ञानम्, इन्द्रियार्थसंयोगजन्यं, संशयादीनां सर्वेषां ज्ञानानां पूर्वं सम्भवति. ततः उद्भूतसत्त्वगुणस्य बुद्ध्या साहित्ये प्रमात्मकं ज्ञानं 'निश्चय' शब्दवाच्यम् उद्भवति. अतएव निबन्धे सर्वनिर्णये उक्तम् "सत्त्वसहिता बुद्धिः प्रमाणम्" (त.दी.नि.२|१४७) इति.

[प्रत्यक्षादिज्ञानप्रकाराणां पञ्चविधबुद्धिवृत्तिरूपता]

संशयोऽथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च |
स्वाप इत्युच्यते बुद्धेर् लक्षणं वृत्तितः पृथग् ||
(भाग.पुरा.३|२६|३०) इति,

कपिलवाक्येन संशयादिज्ञानानां बुद्धिवृत्तित्वेन गणनाद् भागवतमते बुद्धेरेव विशिष्टज्ञानजनकत्वं, "द्रव्यस्फुरणविज्ञानम् इन्द्रियाणामनुग्रहः" (भाग.पुरा.३|२६|२९) इति बुद्धिलक्षणात्. अतो मनःसंयुक्तचक्षुषा सामान्यज्ञाने जनिते पश्चात् सत्त्वादिगुणसहितया बुद्ध्या तारतम्येन अनेकप्रकारकं जायमानं ज्ञानं 'संशया'दि उच्यते. अतएव सुबोधिन्याम् उक्तम् "द्रव्यस्य घटादेः स्फुरणे सति शब्देन संस्कारेण आलोकेन वा यद् विशिष्टज्ञानं, यस्मात् केवलं चक्षुषा ज्ञाने तारतम्यं न स्याद्" (सुबो.३|२६|२९) इति. अतएव लक्ष्मीतन्त्रे त्रयोदशाध्याये उक्तं "चक्षुषालोच्य वस्तूनि विकल्प्य मनसा तथा, अहम्मत्याप्यहङ्काराद् बुद्ध्यैव ह्यध्यवस्यति" (ल.तं.१३|३४) इति.

अन्येतु "प्रत्यक्षज्ञानमात्रं प्रति मनइन्द्रियविषयाणां कारणता, न तत्र बुद्धेः निवेशः" इति आहुः. अस्मन्मतेतु भागवत-तृतीयस्कन्धीय-वाक्यात् संशयादीनि ज्ञानानि बुद्धिः उत्पादयति; अतः, प्रत्यक्षज्ञाने मनइन्द्रियविषयाणां सामान्यज्ञानोत्पादकत्वं, बुद्धिस्तु विशेषाकारेण 'संशया'दिशब्दवाच्यानि ज्ञानानि जनयतीति तेभ्यो अयम् इतरो अस्माकं पन्थाः.

[विपर्याससरूपायाः बुद्धिवृत्तेः प्राकट्यप्रक्रिया]

तत्र चक्षुःशुक्तिसंयोगे सामान्यज्ञानोत्तरं माया भगवतः शक्तिः तमोगुणोद्भवेन बुद्धिं व्यामोहयति तदा 'इयं शुक्तिः' इति बोधो न जन्यते, "प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च" (भग.गीता. १४।१७) इति भगवद्वाक्यात् तमसाहि अज्ञानस्य उत्पादितत्वात्. तथाच पदार्थ-याथात्म्य-स्फुरणाभावात् मायामोहिता बुद्धिः, रजत-संस्कार-प्राबल्यात् चाकचक्यादि-धर्मसादृश्यम् आदाय, रजतं तत्र निर्माति. तदिदं बौद्धमेव रजतं बुद्ध्या विषयीक्रियते, नतु सामान्यज्ञाने चक्षुविषयीभूतम् इति विवेकः, तदानीं रजतस्य अभावात्, सामान्यज्ञानानन्तरं बुद्ध्या रजतोत्पादनात्.[१] अतः सामान्यज्ञानेतु शुक्तिरेव विषयीभूता, तस्यैव सामान्यज्ञानं, विशेषज्ञानन्तु बुद्धिकृतमिति तत्र बौद्धमेव रजतं विषयीभवति इति निष्कर्षः. तद् उक्तम् "अनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे" (भाग.पुरा.१०।८४।३७) इति. अस्य सुबोधिन्यां "रजतन्तु तदनन्तरं बुद्ध्या जन्यते विषयीक्रियते च; तत्र सा बुद्धिरेव कारणम्. ...इन्द्रियार्थयोः मध्ये भाति तद् मृषा" इति [२]निरूपितम्. अतएव प्रथमस्कन्धे "तेजोवारिमृदां यथा विनिमयः" (भाग.पुरा.१।-१।१) इत्यस्य सुबोधिन्याम् "तेजसि वारिबुद्धिः मरीचितोये" इत्यारभ्य "शुक्तिरजतादिषु" इत्यन्तेन नानाभ्रमान् उक्त्वा भ्रमविषयाणां बुद्धिजन्यता उक्ता, "ते यथा जीवानां बुद्धिपरिकल्पिताः" इत्यनेन[२]. निश्चयात्मके ज्ञानेतु इन्द्रियार्थएव बुद्ध्या गृह्यते, न तत्र बुद्धिकल्पितो विषयः. इन्द्रिय-तदर्थयोः मध्ये यद् बुद्धौ अन्यदेव भाति तत् मृषा, तादृशं ज्ञानं भ्रमात्मकम्.

एवं सति इन्द्रियेण गृह्यमाणाद् विषयात् शुक्त्यादिरूपाद् अन्यस्य रजतादेः ख्यातिः अन्यख्यातिः इति उच्यते. तदिदं भ्रमात्मकं ज्ञानं बुद्धिवृत्तिरूपं 'विपर्यास'शब्दवाच्यम्. अतएव "विपर्यासो भिन्नार्थप्रतिपादकः" (सुबो.३।२-६।३०) इति उक्तं, सुबोधिन्याम्. भिन्नार्थः इत्यत्र "इन्द्रियसंयुक्तार्थाद् भिन्नो अर्थः" इति ऊह्यम्. एतावता निरुपाधिकभ्रमे[३] इन्द्रियाणि सन्तमेव अर्थं विषयीकुर्वन्ति, नतु असन्तम्. अतएव उद्धवं प्रति उक्तं भगवता "मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः, अहमेव न मत्तोऽन्यद् इति

बुध्यध्वमञ्जसा" (भाग.पुरा.११।१३।२४) इति. बुद्धिस्तु प्रमात्मके 'निश्चया'परपर्याये ज्ञाने सन्तं विषयीकरोति, विपर्यासज्ञानेतु स्वकल्पितं रजतादिकं मायिकमेव विषयीकरोति. अतः इन्द्रियविषयो बाह्यएव[४]. अतएव "सर्वं पुरुष एवेदम्" (भाग.पुरा.२।६।१५) इति द्वितीयस्कन्धश्लोकव्याख्याने उक्तम् "इदमपि परिदृश्यमानं जडात्मकं सर्वं पुरुषएव" (सुबो.२।६।१५) इति. इन्द्रिय-तद्विषययोः मध्ये मायादूषितबुद्ध्या यो विषयीक्रियते सतु अवास्तवएव बुद्धिकल्पितः इति ज्ञेयम्.

[अनिर्वचनीयख्यातिवादविमर्शः]

[५]मायावादिनस्तु "शुक्तिरूपाधिष्ठाने उत्पन्नेन अनिर्वचनीयेन रजतेन चक्षुःसन्निकर्षे 'रजतम् इदम्' इति भ्रमो भवेत्, न तत्र शुक्तिसामान्यज्ञानस्य हेतुत्वं, प्रयोजनाभावाद्" इति आहुः. तत् मन्दं, शुक्तेः चाकचक्या[५/क]दिधर्मान् विलोक्य तत्सादृश्यं रजते विमृश्य "इदं रजतम्"[५/क] इति बुद्धेः उत्पादितत्वात्, शुक्तिसामान्यज्ञानकारणतायाः निर्वचनीयत्वात्[५/ख].

केचित्तु "मायया अनिर्वचनीयम् उत्पादितं रजतं चक्षुषा उपलभ्यते अतो न रजतभ्रमे अधिष्ठानसामान्यज्ञानस्य हेतुत्वम्" इति वदन्ति. तदपि अयुक्तं, मायोत्पादितरजतस्य विद्यमानत्वे तत्कृत-शुक्तिज्ञान-प्रतिबन्धात् कदापि शुक्तिज्ञानं न स्यात्[५/ग], रजतनाशहेतोः अन्यस्य अभावात्, कदापि रजतध्वंसाभावात्. रजतज्ञाने सत्यपि शुक्तिज्ञानम् इतितु अनुभवविरुद्धत्वात् न आद्रियते विद्वद्भिः. तथाच अधिष्ठानरूप-शुक्तिविषयक-विशेषज्ञानाभावात् कदापि रजतध्वंसो न स्यात्. एवं सति सदैव रजतप्रत्ययः आपद्येत. यदितु "मायया विरचितं माययैव ध्वंस्यते" इति उररीक्रियते तदातु दार्ष्टान्तिके प्रपञ्चे तथैव स्वीकार्यत्वात्, मायाघटितः प्रपञ्चो माययैव नष्टो भविष्यतीति व्यर्थो ज्ञानप्रयासो वेदान्तशास्त्रवैयर्थ्यं च. "ज्ञाननाश्यः प्रपञ्चः" इति भवत्सिद्धान्तोऽपि नाशं प्राप इति आकलनीयम्[५].

[भ्रमभातपदार्थानाम् 'आन्तरालिक'त्वोक्तेः तात्पर्यम्]

अतएव "आत्ममायायनं हरेः" (भाग.पुरा.३।७।१६) इत्यस्य व्याख्याने

"माया कृतो यो अन्तरासर्गः सतु अपार्थएव आभाति... अन्तराभानात् तलस्पर्शे च ब्रह्मावभानात् तदैव गच्छतीति निर्मूलत्वम्" (सुबो.३।७।१६) इत्यादि उक्तम्. "मध्यस्थमात्रानुवादो वा मायावादिवद्" (सुबो.३।७।१६) इत्यपि उक्तम्. अतो ज्ञायते इन्द्रियविषययोः सम्बन्धे सामान्यज्ञानानन्तरं यद् बुद्धौ माया मायिकं पदार्थं निर्माय बुद्धिविषयीकारयति तद् बौद्धं ज्ञानं भ्रमात्मकं तद्विषयः च मायिको बौद्धो घटादिः. अयमेव बुद्धौ भातः पदार्थः "आन्तरालिकी सृष्टिः" इति उच्यते, तस्यैव मिथ्यात्वं, नतु भगवत्कृत-प्रापञ्चिक-घटपटादेः. अतो महता यत्नेन परिदृश्यमानप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं दूरीकृतवान् भगवान् भाष्यकारः.

[औपाधिकभ्रमप्रक्रियायां ततः ईषद्भेदः]

औपाधिके "घटो भ्राम्यति"—"शङ्खः पीतः" इत्यादिभ्रमेतु चक्षुर्ग्राह्ये घटशङ्खादौ भ्रमरिका-कामलाद्युपाधिं पुरस्कृत्य भ्रमणपीतत्वादिरूपो मायिको धर्मो विषयतारूपो मायया सृज्यते. सच धर्मो धर्मिणां घटशङ्खादीनां चाक्षुषे चक्षुषा गृह्यते. अतएव उक्तं सुबोधिन्यां "विषयता मायाजन्या विषयो भगवान्" (सुबो.२।९।३३) इति, "विषये विषयता काचित् स्वीकर्तव्या... अन्यथा... भ्रमदृष्टिः निर्विषया स्याद्" (सुबो.२।९।३३) इति, "विषयताजनितं ज्ञानं भ्रमात्मकं, विषयजनितं प्रमा" (सुबो.२।९।३३) इति च. तथाच तं भ्रमणपीतत्वादिरूपं मायिकं धर्मम् अवलोक्य, मायया मोहिता बुद्धिः, धर्मिणं शङ्खादिमिव पीतत्वादिकमपि वस्तुभूतं निर्धार्य, तद्विशिष्टं शङ्खं स्वीकरोति. तदा तद्भ्रमात्मकं ज्ञानं भवति. एवं सति बुद्ध्या पीतत्ववैशिष्ट्येन कल्पितएव शङ्खो मायिको नतु चक्षुर्गृहीतः. [६] चक्षुषातु विषय-विषयतयोः सत्यमिथ्याभूतयोः ग्रहणाद् वैशिष्ट्यन्तु बुद्धिकल्पितमिति बुद्धिविषयस्यैव मायिकत्वम्[६].

[चक्षुर्ग्राह्यस्य विषयस्य ब्रह्मत्वोपपत्तिः]

नच *चक्षुषा गृहीतस्य घटस्य भगवत्त्वं न सम्भवति, भगवतः इन्द्रियाग्राह्यत्वाद्* इति वाच्यं, "न चक्षुषा गृह्यते" (मुण्ड.उप.३।१।८)

इत्यादिश्रुतीनां मूलरूपपरत्वाद्, गृह्यमाणघटस्य भगवतः सदंशत्वाद्, ग्राहकस्य इन्द्रियस्यापि भगवत्सदंशत्वेन अदोषात् च, ग्राह्यस्य घटस्य विषयतावैशिष्ट्येन शुद्धत्वाभाववद् ग्राहकस्य इन्द्रियस्यापि विषयतावैशिष्टयेन तुल्यत्वात् च.

सोऽयम् औपाधिकभ्रमो[७] रजतादिभ्रमवत् न अधिष्ठानज्ञाननाश्यः[८] [८]किन्तु उपाधिः[९], कामलादिदोषो भ्रमरिकादोषः च, यदा नश्यति तदैव नश्यति. भ्रमरिकादशायां "घटे भ्रमणं नास्ति" इति ज्ञानवतोऽपि 'भ्राम्यति' इति प्रतीतेः सर्वजनीनत्वात्.

[औपाधिक-निरुपाधिक-भ्रमयोः प्रक्रियापार्थक्यम्]

एवञ्च निरुपाधिके रज्जुभुजङ्गादिभ्रमे चक्षुषा सद्रूपैव रज्जुः गृह्यते, भुजङ्गस्तु बुद्धिकल्पितो बुद्ध्या विषयीक्रियते, [१०]न चक्षुषा, बुद्धिकल्पितस्य भुजङ्गस्य बाह्यत्वाभावाद्, दशमस्कन्ध-जन्मप्रकरण-चतुर्थाध्याय-सुबोधिन्यां "यथानेवंविदो भेदः" (भाग.पुरा.१०।४।२०) इत्यस्य विवरणे "बुद्ध्या बहिर्विषयोत्पादनासम्भवाद्" (सुबो.१०।४।२०) इति उक्तत्वात्[१०]. औपाधिक-भ्रमेतु चक्षुषा, सद्रूपो घटो—मिथ्याभूतो विषयतारूपो भ्रमणधर्मः च इति, उभयं विषयीक्रियते. तदनन्तरं सदोषबुद्ध्या "घटो भ्रमणवान्" इति स्थाप्यते इति विशेषः.

इमामेव विषयतां भ्रमणादिरूपां विषयेण सह गृह्यमाणाम् अवमृश्य इन्द्रियग्राह्यस्यापि मिथ्यात्वं क्वचिद् भागवते सुबोधिन्यां च उक्तं, विषयेण घटेन सह विषयतारूपभ्रमणस्यापि चक्षुर्ग्राह्यत्वात्. अत्रापि बौद्धएव घटो मिथ्या नतु प्रपञ्चान्तर्वर्ती इति निष्कर्षः.

[प्रापञ्चिक-विषय-विषयतयोः स्वरूपे सोपाधिकभ्रान्तिसदृशे]

इदम् अत्र ज्ञेयं : प्रपञ्चविचारे भ्रमणवद्घटएव दृष्टान्तः. तत्र यथा घटस्य सत्यत्वं भ्रमणस्य मायिकत्वम्, एवं प्रपञ्चस्यापि सत्यत्वं तद्गतानां

भेदकुत्सितत्वोत्पत्तिनाशादीनां मायिकत्वम्. अतएव उद्धवं प्रति उक्तं भगवता — "यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः, नश्वरं गृह्यमाणञ्च विद्धि मायामनोमयम्" (भाग.पुरा.११।७।७) इति, 'नश्वरम्' इति पदात्, "यत् नश्वरं गृह्यते तदेव मायामयम् इतरस्तु[११] सत्यमेव" इति अर्थः स्फुटति. एतच्च औपाधिकभ्रमे स्फुटम्. अतएव "नाशोत्पत्तिप्रतीतिः भ्रान्ता" (विद्व.मण्ड.) इति विद्वन्मण्डने प्रभुचरणैः निरूपितम्. अतो न प्रपञ्चस्य शुक्तिरजतादिः दृष्टान्तः. अतएव शास्त्रार्थप्रकरणे, "वाचारम्भणवाक्यानि" (त.दी.नि.१।८३) इति कारिकाव्याख्याने "नतु मिथ्यात्वं शुक्तिरजतवद्, अन्यथा शुक्तिरजतादिकमेव दृष्टान्तीक्रियेत" (त.दी.नि.प्र.१।८३) इति श्रीमदाचार्यैः उक्तम्.

[[१]विषयताविशिष्ट-तद्रहित-जडवस्तुनोः [२]संसारिताविशिष्ट-तद्रहित-जीवयोः च औपाधिकौ भेदौ नतु वास्तविकौ]

(१)अन्यच्च यथा घटावच्छिन्नगगन-महाकाशयोः वस्तुतो भेदाभावेऽपि घटोपाधिकृतोहि अवास्तवो भेदः; तथा, विषयताविशिष्ट-तद्रहित-जगतोः इति ज्ञेयम्. दृष्टान्ते "घटाकाशः चलति" इति प्रतीतावपि चलनं वस्तुतो घटधर्मो, नतु तदवच्छिन्नस्य. एवं विषयताविशिष्टे जगति उत्पत्त्यादिप्रतीतावपि उत्पत्त्यादिः विषयतायाएव धर्मो, नतु तदवच्छिन्नस्य. घटाकाशमहाकाशयोः अभेदवद् विषयताविशिष्ट-तद्रहितयोः अभेदेन वस्तुतः तदवच्छिन्नजगतोऽपि ब्रह्मरूपत्वात्. अतएव श्रीमदाचार्यैः द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यां, "वस्तुतो मूलभूतं जगत्, प्रतीतितो मायिकम्" (सुबो.२।९।३२) इति अवादि.

(२)एवं संसारिजीव-शुद्धजीवयोरपि अवास्तवो भेदः संसाररूपोपाधिकृत-एव, शुद्धजीवस्य भगवदंशत्वेन संसारिजीवस्यापि तदभेदेन शुद्धब्रह्मरूपत्वात्. मिथ्यात्वन्तु संसाररूपोपाधिपर्यवसन्नम्. अतएव निबन्धे उक्तं, "जीवसंसार उच्यते" (त.दी.नि.१।२३) इति, "उच्यते नतु जायते" इति, "असत्त्वेन अस्य गणनाद्" (त.दी.नि.प्र.१।२३) इति व्याख्यातं च. अतएव यएव बद्धः तस्यैव साधनसम्पत्तौ मुक्तिः इति बन्धमोक्षव्यवस्था च सम्यग्

उपपद्यते.

[ब्रह्मण्यपि सोपाधिकत्व-निरुपाधिकत्व-प्रयुक्तभेदो भवतु इति शङ्कायाः निरासः]

नच *एवं जगत्कर्तृत्वादिविशिष्ट-तद्रहित-ब्रह्मणोरपि औपाधिकभेदाङ्गीकारे स्वसिद्धान्तविरोधः* इति वाच्यं, "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" (तैत्ति.उप.३।१), "तस्माद् वा एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः" (तैत्ति.उप.३।१), "एतस्माद् जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" (मुण्ड.उप.२।१।३), "स आत्मानं स्वयम् अकुरुत" (तैत्ति.उप.२।७) इत्यादिश्रुतिसिद्धस्य जगत्कर्तृत्वादेः नित्यसिद्धस्य धर्मस्य उपाधित्वाभावात्. अतो जगत्कर्तृत्वादिश्रौतधर्मविशिष्टं निरुपाधिकमेव, नतु सोपाधिकमिति न ब्रह्मणि सोपाधिकत्व-निरुपाधिकत्व-कल्पना इति अन्यत्र विस्तरः.

[प्रकृतविषयानुसन्धानम्]

तथाच सिद्धं विषयतावैशिष्ट्येन प्रपञ्चस्य सत्यत्वं मिथ्यात्वं च. एवं स्वमते प्रपञ्चस्य पारमार्थिकविचारे ब्रह्मात्मकत्वेन सत्यत्वम्. परमतेतु व्यवहारे सत्यत्वं पारमार्थिके मृषात्वम् इति विभेदो[१२] ज्ञेयः.

ननु "निरुपाधिके शुक्तौ 'इदं रजतम्' इति भ्रमे पूर्वम् उत्पन्नसामान्यज्ञानानन्तरं बुद्ध्या रजतम् उत्पाद्य विषयीक्रियते; तथा, दार्ष्टान्तिके भगवदात्मकप्रपञ्चे[१३] चक्षुषा गृहीते[१४] माया-मोहित-बुद्धि-कल्पितो अन्तरासर्गो विषयीक्रियते" इति यद् उक्तं, तत् न सम्भवति, रजतसंस्कारवद् आन्तरालिक-पदार्थ-संस्कारोपलब्ध्यभावाद्! इति चेत्, न, पूर्वकल्पम् आरभ्य आन्तरालिक-पदार्थानुभव-सत्त्वेन तत्संस्कारस्य सुवचत्वात्. अतः सुखेन रजतवद् आन्तरालिको बौद्धो घटादिः उत्पद्यते.

किञ्च दृष्टान्ते यथा रजतभ्रमानन्तरं धर्मविशेषज्ञाने शुक्तिरूपाधिष्ठाने ज्ञाते रजतं, बौद्धं, विलयम् एति; तथा, अत्र चक्षुःसंयुक्त-प्रपञ्चविषयके

ब्रह्मत्वज्ञाने उत्पन्ने बौद्धएव प्रपञ्चो नश्यति नतु चक्षुर्गृहीतो अयम् इति अर्थो, [१५]दशमस्कन्धप्रक्षिप्ताध्याये तृतीयाध्याये "रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा" (भाग.प्रक्षि.१०।१४।२५) इत्यस्य सुबोधिन्यां "'भवाभवौ' उत्पत्तिनाशौ, 'सर्पो अयं'–'नायं सर्पः' इति स्वबुद्धिकल्पितस्यैव नाशो न अन्यस्य" (सुबो.१०।१४।२५) इति उक्तत्वात्[१५]. अतएव "अयं प्रपञ्चो न प्राकृतो, नापि परमाणुजन्यो, नापि विवर्तात्मा... किन्तु परमकाष्ठापन्न–वस्तु–कृतिसाध्यः, तादृशोऽपि भगवद्रूपः" (त.दी.नि.१।२३) इति निबन्धोक्तिः युज्यते, "विषयो भगवान्" (सुबो.२।९।३३) इति उक्तिः च.

[आधिदैविकप्रपञ्चएव पारमार्थिकः आधिभौतिकस्तु मृषैव इति शङ्का-समाधाने]

यत्तु "आधिदैविकः प्रपञ्चो भिन्नः स भगवद्रूपो, अयं प्रतीयमानस्तु ततो भिन्नो मृषैव" इति आहुः, तत् न, आधिदैविकस्य अतीन्द्रियत्वेन चक्षुरादिग्राह्यत्वाभावाद्. अधिष्ठान-चाक्षुष-सामान्य-ज्ञानाभावेन चाक्षुषभ्रमएव न स्यात्, चाक्षुषभ्रमं प्रति चाक्षुष-सामान्य-ज्ञानस्य कारणत्वात्. तस्माद् अयमेव अस्मदादीन्द्रियैः गृह्यमाणः प्रपञ्चो ब्रह्मात्मकः. अस्मिन्नेव प्रपञ्चे मायामोहितबुद्ध्या मायिकः प्रपञ्चः कल्प्यते, तस्यैव मिथ्यात्वं [१६]नतु अस्य. अन्यथा सिद्धान्तमुक्तावल्याम् "अपरं तत्र पूर्वस्मिन् वादिनो बहुधा जगुः" (सिद्धा.मुक्ता.४) इति उक्त्वा "मायिकं सगुणं कार्यं स्वतन्त्रं च" (सिद्धा.मुक्ता.४) इत्यादिना परमतानि उपन्यस्य "तदेवैतत् प्रकारेण भवति" (सिद्धा.मुक्ता.५) इत्यन्तोक्तिरपि विरुद्ध्येत. एतस्य[१७] मिथ्यात्वाङ्गीकारे आधिदैविकस्य चक्षुराद्यविषयीभूतस्य सत्यत्वाङ्गीकारेण परमत-स्वमतयोः भिन्नविषयत्वेन निराकरणानर्हत्वात्. नहि परे आधिदैविकं प्रपञ्चं मृषा वदन्ति, यदुपरि दूषणानि स्युः. अपिच परिदृश्यमानस्य आविर्भाव-तिरोभावौ स्वीकृत्य भावविकारप्रतीतेः मिथ्यात्वम् अङ्गीकृत्य एतस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्माभिन्नत्वं भाष्य-निबन्ध-विद्वन्मण्डनादौ सर्वत्र स्वीकृतं तदपि विरुद्ध्येत, प्रतीयमानप्रपञ्चस्य मृषात्वाङ्गीकारेण तादृक्प्रपञ्चे जायमानानां नाशोत्पत्त्यादिप्रतीतीनाम् अभ्रान्तत्वेन 'भ्रान्तत्व'कथनस्यैव दूष्यत्वापत्तेः, परिदृश्यमानस्य मिथ्यात्वाङ्गीकारे दूष्यग्रन्थ-स्वग्रन्थयोः ऐक्यापत्तेः च. अन्यच्च "मुक्तिः कल्पितवाक्यतः"

(त.दी.नि.१।७९) इत्यादि निबन्धवाक्यैः "गुर्वादीनां कल्पितत्वं [१८]स्वकल्पित-गुरुवाक्यहेतुको मोक्षः च स्याद्, वेदानां स्वभ्रान्ति[१८]कल्पितत्वं च आपद्येत" इत्यादिदूषणपुञ्जानां परमते आपादितानां स्वमतेऽपि[१९] आपत्तिः स्यात्[२०]. अतो अस्य परिदृश्यमानजगतो मायिकत्वं न[२१] आदर्तव्यम् सुधीभिः.

[पुराणेषु प्रपञ्चमिथ्यात्वोक्तेः तात्पर्यनिरूपणम्]

पुराणेषु क्वचिद् आन्तरालिकीं सृष्टिं, क्वचिद् विषयतां, क्वचिद् अहन्ताममतात्मकं संसारम् अवलम्ब्य मायिकत्वोक्तिः, क्वचिद् वैराग्यार्थञ्च, न वस्तुस्वरूपनिरूपणाय इति स्थितम् आकरे. अतो अयं प्रपञ्चो ब्रह्मात्मकः इति सिद्धान्तो निर्दुष्टएव.

[बुद्धिकल्पितस्य बाह्यप्रत्यक्षो न सम्भवति इति निरूपणम्]

नच *बुद्धिकल्पितमेव रजतं मायादोषादिवशाद् बहिः निःसृतं चक्षुषा गृह्यते. ततः चक्षुर्ग्राह्यस्यापि रजतस्य मिथ्यात्वं कुतो न?* इति वाच्यं, भुजङ्गाधिष्ठानक-रज्जुस्पार्शनभ्रमे व्यभिचारात्. तथाहि, तमःसङ्घाते हस्तेन भुजङ्गस्पर्शे स्पार्शनसामान्यज्ञानानन्तरं तमोगुणोद्रेकेण माया जीवबुद्धिं व्यामोहयति, तदा भुजङ्गः इति बोधो न उत्पद्यते. ततो रज्जुसंस्कारेण बुद्धिः रज्जुं निर्माति; तद्बौद्धिः रज्जुः बहिः चेत् निस्सरेत् तर्हि करेण गृह्यतैव, भुजङ्गस्यतु हस्तस्पर्शो न स्याद्, रज्ज्वा व्यवधानात्. तथा सति को वा दशेत्? लोकेतु तादृशस्थले भुजङ्गस्पर्शः तत्कृतो दंशश्च श्रूयते. अतो बुद्धिकल्पितायाः रज्जोः अन्तःस्थितायाः बुद्धिविषयत्वमेव, न इन्द्रियविषयत्वम्. इन्द्रियविषयस्तु अधिष्ठानरूपो भुजङ्गएव इति ज्ञेयम्. [२२]अतएव दशमषष्ठाध्याये "यथोरगं सुप्तम् अबुद्धिरज्जुधीः" (भाग.पुरा.१०।६।८) इत्यस्य व्याख्याने "रज्जुबुद्ध्या गृहीतः सर्पः स्वस्पर्शेऽपि न ज्ञानं जनयति" (सुबो.१०।६।८) इति उक्त्या अधिष्ठानरूपसर्पस्पर्शः उक्तः[२२]. एवं शुक्तिरजतादिस्थलेऽपि बोध्यम्. एतेन "शुक्त्याद्यधिष्ठाने मायया उत्पादितम् अनिर्वचनीयं रजतादिकं चक्षुरादीन्द्रियग्राह्यम्" इति वदन्तोऽपि प्रत्युक्ताः, भुजङ्गाधिष्ठानक-रज्जुस्पार्शन-

भ्रमेहि अनिर्वचनीयायाः रज्जोः त्वगिन्द्रियेण ग्रहणाद्, अधिष्ठानरूपेण व्यालेन त्वक्सम्बन्धाभावाद् भुजङ्गकृतदंशाभावनियमापत्तेः. त्वगिन्द्रियगोलकयोः एकवस्तुसम्बन्धनियमात् त्वगिन्द्रियगोलकाभ्यां रज्जोः सम्बन्धात् तस्याः व्यावहारिकसत्तास्वीकारेण अर्थक्रियाकारितया तद्रज्जुकृताधिष्ठान-व्यवधानाद् इति दिक्. [२३]नच *सर्पस्पर्शे स्पार्शनरज्जुभ्रमे यावद्भ्रमम् अनिर्वचनीयया रज्ज्वा सह पुरुषहस्तादिसम्बन्धेऽपि भ्रमनिवृत्त्युत्तरं सर्पस्पर्शात् तत्कृतदंशे को दोषः ?* इति वाच्यं, रज्जुज्ञानोत्पत्त्यव्यवहितसमये भ्रमनिवृत्तेः असम्भवाद्, अन्यथा भ्रमनिवृत्तिः अनुभूयेत. नच *सूक्ष्मकालेन जायमाना भ्रमनिवृत्तिः न अनुभवयोग्या, तत्कालस्य शतपत्रवेधवद् दुर्लक्ष्यत्वाद्* इति वाच्यं, भ्रमनिवृत्तेः अधिष्ठानज्ञानसाध्यत्वेन तद्विरहे तस्याएव असम्भवात्. नच *दंशातिरिक्तकारणेन अधिष्ठाने ज्ञाते भ्रमनिवृत्तौ रज्जोः नाशाद् अधिष्ठानसंयोगे दंशः सुवचः* इति वाच्यं, यत्र दंशहेतुकम् अधिष्ठानज्ञानं तत्र दंशात् पूर्वं भ्रमनिवृत्तेः वक्तुम् अशक्यत्वेन भ्रमसमयएव दंशस्वीकार्यत्वाद्. दंशस्यतु अधिष्ठानसम्बन्धहेतुकत्वाद् भ्रमावसरएव इन्द्रियाधिष्ठानयोः सम्बन्धप्राप्तेः भवद्राद्धान्तविरोधात्[२३]. एवं मायामोहित-बुद्धिकल्पितो मिथ्याभूतः प्रपञ्चोऽपि तादृशबुद्धेरेव विषयो न इन्द्रियविषयः इति विद्वद्भिः विभावनीयम्.

[श्रीमद्भागवतैकादशस्कन्धीय-नवयोगि-प्रश्नोत्तरयोः शङ्कासमाधाने]

एवं साधितेऽपि स्वसिद्धान्ते एकादशस्कन्धोदित-नवयोगि-प्रसङ्गीय-प्रश्नोत्तर-वाक्येषु [२४]तत्रत्य सुबोधिनीवाक्येषु[२४] (च!) पदार्थशोधनाभावाद् भ्रमः सम्भवति. तथा सति साधितोऽपि राद्धान्तः शिथिलइव प्रतिभायाद्, अतः साधितराद्धान्तदार्ढ्याय नवयोगि-प्रसङ्गीय-प्रश्नोत्तर-वाक्यानां तत्रत्य-सुबोधिनी-वाक्यानां च अर्थः पूर्वपक्षोत्तरपक्ष-निरूपणपूर्वकं विमृश्यते :—

तथाहि एकादशे निमिनवयोगिप्रसङ्गे "परस्य विष्णोरीशस्य मायिनामपि मोहिनीम्, मायां वेदितुमिच्छामः" (भाग.पुरा.११।३-।१) इति निमिना मायास्वरूपे पृष्टे अन्तरीक्षेण "एभिर्भूतानि भूतात्मा (भाग.पुरा.११।३।३) इत्यादिना सृष्टिः निरूपिता.

[२५]तत्र उत्तरे प्रश्नानुरूपतायाः सर्वतन्त्रसिद्धत्वाद् प्रकृते[२५] मायायाः स्वरूपप्रश्नात् तदनुरूपमेव उत्तरेण भाव्यम्. इहतु प्रपञ्चोत्पत्तिः उत्तरे निरूपिता. अतो ज्ञायते प्रपञ्चो मायाकार्यः. अन्यथा मायाप्रश्ने कृते प्रपञ्चम् उत्तरे न वदेत्. तथाच प्रपञ्चनिरूपणे माया निरूपिता भवतीति मायायाः कार्यलक्षणं सिद्ध्यति. एवं सति प्रपञ्चस्य मायिकत्वम् आयाति न ब्रह्मता इति पूर्वपक्षे, स्वसिद्धान्तं वक्तुं प्रपञ्चस्य भगवदात्मकत्वसाधनाय श्रीमदाचार्यचरणाः अन्तरिक्षदत्तोत्तराशयं विशदयितुं 'माया' शब्दस्य शक्तिं निरूपयन्ति "'माया'शब्दः शास्त्रेषु" (सुबो.११।३।३) इत्यारभ्य "तथा प्रयुक्तः शब्दः" (सुबो.११।३।३) इत्यन्तेन.

तथाच :—

(१)भगवतः सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया
(२)व्यामोहिका माया
(३)ऐन्द्रजालिकविद्या
(४)कापट्यादि

च इति चत्वारो 'माया' शब्दार्थाः.

ननु अत्र भगवतः सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया व्यामोहिका माया च पृथग् गणिता. [२६]व्याससमाधौतु, "अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायां च तदुपाश्रयां यया सम्मोहितो जीवः" (भाग.पुरा.१।७।४-५) इति वाक्याद् व्यामोहिकैव माया दृष्टा[२६]. समाधेश्च मुख्यं प्रामाण्यं, तथाच मायायाः व्यामोहकत्वमेव, न सर्वभवनसामर्थ्यरूपता! इति आशङ्क्य समादधते, "समाधावपि..." (सुबो.११।३।३) इत्यादिना. सर्वभवनसामर्थ्यरूपायाः मायायाएव रूपान्तरं व्यामोहिका माया

अतो व्याससमाधौ एकस्याएव उक्तिः, तयैव द्वितीयापि आयातीति न कश्चिद् दोषः. *ननु अत्रतु प्रपञ्चसृष्टिः उत्तरे निरूपिता, नतु पूर्वोक्तेषु चतुर्षु अन्यतर(म!)द्* इति आशङ्क्य आहुः 'प्रवाहस्तु' इति, 'तु'शब्दः प्रकारान्तरबोधकः. तथाच अत्र 'माया' शब्देन सर्वभवन-सामर्थ्यरूप-मायाकरणकः सृष्टिप्रवाहः उच्यते इति अर्थः. अतः चतुर्ष्वेव अन्तर्भावः इति भावः. तस्य प्रवाहस्य स्वरूपम् आहुः, "सच भगवत्कृतो भगवद्रूपः च" (सुबो.११।३।३) इति. "आत्मानं स्वयम् अकुरुत" (तैति.उप.२।७) इत्यादिश्रुतेः[२७]. अतएव निबन्धे उक्तम् "प्रपञ्चो भगवत्कार्यः तद्रूपः" (त.दी.नि.१।२३) इति. *ननु एवं प्रपञ्चस्य भगवद्रूपत्वे तत्र 'माया' शब्दप्रयोगो न उचितः!* इति आशङ्क्य आहुः "विषयैश्च व्यामुग्धाः सर्वे भवन्ति" (सुबो.११।३।३) इति. तथाच विषयरूपस्य प्रपञ्चस्य विचित्रत्वेन व्यामोहकत्वात् प्रपञ्चे 'माया' शब्दः प्रयुक्तो नतु मायिकत्वम् अभिप्रेत्य इति अर्थः. एवं (१)सर्वभवनसामर्थ्यं (२)व्यामोहिका माया (३)ऐन्द्रजालिकविद्या, (४)कापट्यं, (५)मायाकरणको भगवदात्मकः प्रपञ्चः च इति पञ्चसु पदार्थेषु 'माया'शब्दं शिष्टाः प्रयुञ्जन्ते, तेषु अत्र को अर्थः वाच्यत्वेन युक्तः? इति आहुः "अतो अत्र" (सुबो.११।३।३) इति. सिद्धान्तम् आहुः "माया शक्तिः भगवतः" इति, "मम माया दुरत्यया" (भग.गीता ७।१४) इति गीतोपनिषद्भ्यः. अतएव आहुः "नात्र कार्या" (सुबो.कारि.११।३।३।१) इति. तर्हि विचारस्य क्व उपयोगः? इति आशङ्क्य आहुः "समाधौ तु" (सुबो.कारि.११।३।३।१) इत्यादि, व्यासकृतसमाधौतु व्यामोहकत्वेन मायायाः दर्शनात्, तत्र तादृश्यां व्यामोहिकायां शक्त्यां 'माया' शब्दप्रयोगः उचितः. अत्रतु सृष्टिप्रवाहे 'माया' शब्दप्रयोगः किम्प्रयोजनकः[२८], किन्निबन्धनः, इति विमृश्यते इति अर्थः. "विचारे..."

(सुबो.कारि.११।३।३।२) इति, विचारे क्रियमाणे 'भगवद्वाक्यम्' (सुबो.कारि.११।३।३।२), "ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत" (भाग.पुरा.२।९।३३) इति वाक्यम् इति अर्थः. "लक्षणम्" (सुबो.कारि.११।३।३।२) इति, व्यामोहकमायायाः ज्ञापकम् इति अर्थः. लक्षणस्य स्वरूपम् आहुः "कार्यगोचरम्" (सुबो.कारि.११।३।३।२) इति, कार्यलक्षणम् इति अर्थः. एवं व्यामोहिकायाः मायायाः[२९] कार्यलक्षणम् उक्तम्.

ननु[३०] एतस्याः व्यामोहिकायाएव कार्यं जगद् इत्येव मन्तव्यं, बहुभिः आदृतत्वात्. ततश्च एतस्य विश्वस्य मिथ्यात्वमेव उरीकार्यम्! इति आशङ्क्य न इदं जगद् व्यामोहिकायाः कार्यम् अपितु स्वस्य[३१] सर्वभवन-सामर्थ्यरूप-मायया भगवानेव स्वात्मरूपं[३२] जगद् निर्मिमीते इति आहुः "सुवर्णजलवत् कार्यं" (सुबो.कारि.११।३।३।३) इति. यथा सञ्चायकप्रतिमां मृदा निर्माय तत्र सुवर्णजलं निःक्षिप्यते ततः सञ्चायकप्रतिमाकारा सुवर्णप्रतिमा अनायासेन सिद्ध्यति, तथा सर्वप्रतिकृतिरूपां मायां सञ्चायकस्थानापन्नां कृत्वा स्वात्मरूपं[३३] जगद् भगवान् विरचयति. अतो न मायिकं किन्तु ब्रह्मात्मकमेव इति अर्थः.

एवं सति वेदवत् पुराणेऽपि[३४] जगतो भगवत्त्वम् उक्तं परन्तु प्रकारभेदेन इति आचार्यवर्याणाम् आशयः.

तत्र पुराणे यः प्रकारः सोऽयं सञ्चायकदृष्टान्तेन "सुवर्णजलवद्" (सुबो.कारि.११।३।३।३) इति कारिकया स्फुटीकृतः. तथाच मायायाः सञ्चायकत्वेन सृष्टौ भगवता अङ्गीकृतत्वात् सृष्टिप्रवाहे 'माया'शब्दः प्रयुज्यते. तथा सति इह निमिनवयोगीश्वरप्रसङ्गे 'माया'शब्देन 'सृष्टिप्रवाहः' उच्यते

इति निष्कर्षः.

एवञ्च सुबोधिन्याम् "अतो अत्र किं युक्तम्" (सुबो.११।३।३) इति पूर्वम् उक्तया फक्किकया कृतस्य प्रश्नस्य सृष्टिप्रवाहो 'माया' शब्दवाच्यत्वेन अस्मिन् प्रसङ्गे युक्तः इति उत्तरं सम्पन्नम्. इत्थं 'माया' शब्दवाच्यस्य सृष्टिप्रवाहस्य सञ्चायकरीत्या निर्माणाद् भगवत्त्वम्. एतद् अभिसन्धायैव पूर्वम् उक्तं "सच भगवत्कृतो भगवद्रूपश्चेति" (सुबो.११।३।३) इति.

वेदेतु मायारूपसाधननैरपेक्ष्येण भगवान् स्वात्मरूपं[३५] जगत् करोति इति विभेदः.

एतदेव प्रथमस्कन्धे "सदसद्रूपया चासौ" (भाग.पुरा.१।२।३०) इत्यस्य सुबोधिन्यां स्फुटम् अकारि "घटित-पूरण-पात्र-भेदवद् वैदिक-पौराणिक-जगतोः भेदः" (सुबो.१।२।३०) इत्यनेन. तत्रैव सुबोधिन्यां सर्वप्रतिकृतिरूपत्वं मायायाः निरूपितम्. तथाच घटितसुवर्णप्रतिमा यथा सुवर्णात्मिका तथा पूरितप्रतिमापि सुवर्णात्मिकैव. सञ्चायकरीत्या जगन्निर्माणप्रयोजनन्तु[३६] अत्रैव सुबोधिन्याम् उक्तम् "एवं सति सृष्टिः सुगमा भवति" (सुबो.१।२।३०) इति. सञ्चायकरीत्या प्रतिमानिर्माणे सौकर्यं लोके स्फुटम्[३७].

एवं मायासाधननिरपेक्षतया वेदे निरूपितं जगत्, मायासञ्चायकत्वेन पुराणे निरूपितं जगत् च भगवदात्मकमेव. एवं श्रुति-पुराण-सिद्धो अस्मत्सिद्धान्तः इति मञ्जुलम् अखिलम्.

इति श्रीमद्गोवर्धनधर-श्रीवल्लभाचार्य-श्रीविट्ठलेश्वर-चरणानुचरसेवकेन लालूभट्टोपनामविदित-बालकृष्णभट्टविरचिते प्रमेयरत्नार्णवे उत्तरार्धे

ख्यातिविवेकः समाप्तः



॥ पाठभेदतालिका ॥

१. इह "विशेषज्ञानेतु रजतस्य कल्पितत्वेन आन्तरत्वाद् बुद्ध्यैव ग्रहणं, नतु इन्द्रियैः" इति घ पाठे अधिकः. २. एतत्संख्यांकितोंऽशः क छ ज पाठे नास्ति परं घ मु-३-४ पाठेषु उपलभ्यते. ३. 'निरुपाधिकभ्रमे' इति छ पाठे, 'निरुपधिभ्रमे' इति क ग घ ज मु-३-४ पाठेषु. ४. 'बाह्यएव' इति क ग घ ज मु-३-४ पाठेषु, 'वास्तवएव' इति छ पाठे. ५. एतत्संख्यांकितोंऽशः क छ ज पाठेषु नास्ति घ मु-३-४ पाठेषु अस्ति. ५/क. एतत्संख्यांकितोंऽशः क च छ ज मु-३-४ व्यतिरिक्तेषु ख ग घ ङ सर्वेषु पाठेषु उपलभ्यते. ५/ख. 'अनिर्वचनीयत्वाद्' इति मु-४ पाठस्तु अशुद्धएव. ५/ग. 'स्याद्' इति ग घ पाठयोः 'भवेद्' इति मु-३-४ पाठयोः. ६. एतत्संख्यांकितोंऽशः छ पाठएव नान्येषु. ७. 'औपाधिकभ्रमः' इति क ग छ ज, 'औपाधिकधर्मः' इति मु-३-४ . ८. 'अधिष्ठानज्ञाननाश्यः' इति क ग घ छ ज, अत्र 'ज्ञान'पदं मुद्रितपाठयोः त्रुटितं भाति. ९. एतत्संख्यांकितोंऽशः क ग छ ज पाठेषु उपलभ्यते अन्येषु त्रुटितः. १०. अयमंशः क पाठे पश्चात् पूरितो दृश्यते. ११. इह इकार-तकारयोः मध्ये रेफलोपाद् "इतस्तु परम्" इति मु-३-४ पाठयोः दृश्यमाना अशुद्धपाठकल्पना ग्रन्थकृदितरस्यैव कस्यचिद्. १२. 'विभेदो' इति छ पाठएव. १३. 'भगवदात्मकप्रपञ्चः' इति मु-३-४ . १४. 'गृह्यते' इति मु-३-४ . १५. एतावानंशो छ ज ग पाठेषु नास्ति, क पाठे ग्रन्थकृता पूरितोऽयमंशो अन्येषु उपलभ्यते. १६. अयमंशो मु-३-४ पाठयोः उपलभ्यमानो क ग छ ज पाठेषु नोपलभ्यते. १७. "एवं तस्य" इति मु-३-४. १८. एतत्संख्यांकितोंऽशः घ मु-३ मु-४ पाठेषु अनुपलभ्यमानः क ग पाठयोः वर्तते. १९. 'अपि' शब्दः क ग छ ज पाठीयः इतरेषु त्रुटितः. २०. 'स्याद्' इति छ पाठएव. २१. "आचार्यवर्य्याणां सम्मतम्" इति छ पाठः. २२. एतत्संख्यांकितोंऽशः क ग छ ज पाठेषु नास्ति. २३. एतत्संख्यांकितोंऽशः क ग छ ज पाठेषु नोपलभ्यते. २४. एतत्संख्यांकितोंऽशः क ग छ ज पाठेषु उपलभ्यमानो अन्येषु त्रुटितः. २५. एतत्संख्यांकितोंऽशः ग छ व्यतिरिक्तेषु त्रुटितो भाति, मु-३-४ पाठयोः इह 'तेन' इति. २६. एतत्संख्यांकितेंऽशे "व्याससमाधौतु... व्यामोहिकैव माया दृष्टा" इति क ग घ छ ज पाठेषु, मु-३-४

पाठयोस्तु "व्यासः समाधौतु... व्यामोहिकामेव मायां दृष्टवान्" इति मिथो भिन्नैव वाक्यरचना उपलभ्यते. २७. 'श्रुतिः' इति मु-३-४ पाठयोः. २८. 'किम्प्रयोजकः' इति घ मु-३-४ पाठेषु. २९. 'व्यामोहिकमायायाः' इति मु-३-४. ३०. 'नतु' इति घ. ३१. 'स्वस्य' इति क ग छ ज पाठेषु अस्ति नान्येषु. ३२. 'स्वात्मस्वरूपम्' इति घ मु-३-४ . ३३. 'स्वात्मस्वरूपम्' इति मु-३-४ . ३४. 'त्वत्पुराणे' इति मु-३-४ पाठौ भ्रष्टावेव, तत्र क छ ज तत्र पाठानुरोधेनात्र संशोधनम्. ३५. 'स्वात्मस्वरूपम्' इति मु-३-४ पाठयोः. ३६. '-प्रयोजनन्तु' इति छ पाठएव. ३७. 'स्फुटम्' इति क घ छ ज मु-३-४ पाठेषु "स्पष्टम् उपलभ्यते" इति ग पाठे.



* मर्यादाभक्ति-पुष्टिभक्ति-पार्थक्य-विवेकः *[1]

[भक्तिर्नाम पुष्टिभक्तिरेवेति 'मर्यादाभक्ति'शब्देन मर्यादापुष्टिभक्तिरेव ग्राह्या इति पूर्वपक्षेण उपक्रमः]

ननु 'मर्यादाभक्ति' शब्देन मर्यादापुष्टिभक्तिरेव ग्राह्या नतु मर्यादामार्गीया काचिद् अन्या भक्तिः, सर्वासां भक्तीनां पुष्टिभक्तावेव अन्तर्भावस्य उचितत्वात्. "भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिरस्तीति निश्चयः" (पु.प्र.म.२) इति पुष्टिप्रवाहमर्यादानिरूपकग्रन्थे सामान्य'भक्ति' पदोपादानेन भक्तित्वावच्छिन्नस्य पुष्टिमार्गीयत्वम् इति चेत्,

[सर्वासां भक्तीनां पुष्टिभक्तौ अन्तर्भावो न सम्भवदुक्तिकः]

सत्यम्, तथापि "सर्वत्रोत्कर्षकथनाद्" (पु.प्र.म.४) इति अग्रिमेण उत्कृष्टभक्तिमार्गस्यैव ग्राह्यत्वं "यो मद्भक्तः इतीरणाद्" (पु.प्र.म.४)इति वाक्येन, "अनपेक्षः शुचिर्दक्षः उदासीनो गतव्यथः सर्वारम्भपरित्यागी यो

१. "प्रमेयरत्नार्णवोत्तरार्धे 'ख्यातिविवेका'ख्यः एकएव ग्रन्थः उपलभ्यते" इति सर्वैरपि पूर्वसम्पादकैः सूचितं; तथापि, जयपुराधिप-सवाई-श्रीजयसिंह-महाराजानां कृते ग्रन्थकृद्भिः अन्येऽपि केचन लघुग्रन्थाः लिखिताः, अद्यावधि अप्रकाशिताः च, तदीयग्रन्थागारमेव अलंकुर्वाणाः सन्ति. तएते प्रमेयरत्नार्णवोत्तरार्धरूपाः सन्ति नवेति न वक्तुं पारयामः, पुष्पिकायां तदुल्लेखाभावात्. तथापि "ये संक्षेपेण पूर्वार्धे पदार्था विनिरूपिता तद्व्यासं कर्तुमारब्धमुत्तरार्धे" इति स्वीकृत्यनुरोधात्, पुष्टिभक्ति-तदधिकारविवेकयोः एतदुक्तविषयाणां संक्षेपेण निरूपणोपलम्भात् च, एतयोरिह प्रमेयरत्नार्णवानुकूलनामप्रदानेन अस्माभिरेव समावेशः कृतः. तत्र तत्रभवती श्रीमती पद्मनी देवी(वर्तमान-महाराज्ञी) अतीव औदार्येन अस्मभ्यम् एतदादिग्रन्थपञ्चकानां ज्ञेरॉक्सप्रतिलिपि-प्रदानानुमत्या बहूपकृतवतीति सकार्तज्ञ्यप्रदर्शनमिह प्रमेयरत्नार्णवस्य उत्तरार्धत्वेन अयं विवेकः, तथैव 'श्रीवल्लभविज्ञान'नामके मासिकपत्रे प्राङ्मुद्रितः च 'नामवादा'ख्योऽपि, शिष्टाश्च 'काममार्गप्रेममार्गीविवेक'-'एकान्तिलक्षण'-'जीवेश्वरभेदाभेदविमर्शा'ख्यास्तु परिशिष्टतया; एवम् एते सर्वेऽपि ग्रन्थाः पुष्पिकान्यासपुरःसरम् इदम्प्रथमतया इह अस्माभिः प्रकाश्यन्ते तदिदं नूनं महतो मोदस्य विषयः !

मद्भक्तः स मे प्रियः" (भग.गीता.१२।१६) इत्यत्र उक्तस्य भक्तस्य परामर्शात् तादृश-गुणविशेष-विशिष्टस्यैव पुष्टिमार्गीयत्वं नतु यस्य कस्यचिद् अतो न भक्तित्वावच्छिन्नं पुष्टिमार्गीय(त्वम्!). "सर्वत्रोत्कर्ष-कथनाद्" इत्यत्र 'उत्कर्ष' पदात् निन्दितायाः भक्तेः (अपिवा!) न पुष्टिमार्गीयत्वं वक्तुं शक्यम्.

"अभिसन्धाय यद् हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव च... स भक्तः प्राकृतः स्मृतः" (भाग.पुरा.३।२९।८) इत्यादौ निन्दितापि भक्तिः दृश्यते. तस्यास्तु न अन्तर्भावः पुष्टौ, पुष्टिस्थानां सर्वेषां सामान्यतो धर्मनिरूपणे "भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत्. स्वरूपेणावतारेण लिङ्गेन च गुणेन च तारतम्यं न स्वरूपे देहे वा तत्क्रियासु च" (पु.प्र.म.१२-१३)इत्यादिना निरूपितधर्माणां पूर्वोक्तेषु अभावाद्, "दम्भं मात्सर्यमेव च" (भाग.पुरा.३।२९।८) इत्यत्र सदम्भस्यापि भक्तत्वोक्तेः अत्रत्यधर्मनिरूपणविरोधात्, "न ते पाषण्डतां यान्ति" (पु.प्र.म.१९) इति पुष्टिस्थ-भक्त-लक्षण-वाक्यात्. अतो या काचिद् भक्तिः सा न पुष्टिभक्तिः.

[विविधभक्तिहेतुभूतानुग्रहस्यापि एकविधत्वासम्भवाद् न सर्वासां भक्तीनां पुष्टिभक्तौ अन्तर्भावः]

नच भक्तिमात्रस्य अनुग्रहजन्यत्वात् पुष्टिमार्गान्तर्भावः, "तपसा वेदयुक्त्या च प्रसादात् परमात्मनः" (त.दी.नि.१।६३) इति निबन्धोक्तेः, "भगवत्प्रसादो मुख्यं कारणम्" (त.दी.नि.प्र.१।६३) इति व्याख्यानात् च, भगवदनुग्रहजन्यस्य ज्ञानस्यापि पुष्टिमार्गीय(भक्ति!)त्वापत्तेः. "भौमान् भोक्ष्यथ भोगान् वै दिव्यांश्चानुग्रहान्मम" (भाग.पुरा.४।३०।१७) इत्यादिना अनुग्रहजन्यभोगानामपि पुष्ट्यन्तर्गतत्वापत्तेः च. अतो अनुग्रहजन्यत्वं यत्र-यत्र तत्र-तत्र पुष्टिभक्तित्वम् इति न व्याप्तिः किन्तु अनुग्रहविशेषजन्यत्वेन पुष्टिभक्तित्वेन. *नच(नु!) "भक्तिमार्गस्य कथनाद्" (पु.प्र.म.२) इत्यादौ सामान्यनिर्देशाद् अनुग्रहविशेषः कथं लब्धव्यः ?* इति चेत्, न, "गतेरर्थवत्त्वमुभयथान्यथा हि विरोधः" (ब्र.सू.३।३।२९) इति सूत्रभाष्ये "पुष्टिमार्गाङ्गीकृतेस्तु अत्यनुग्रहसाध्यत्वम्"

(ब्र.सू.भा.३।३।२९) इति उक्त्या 'अनुग्रह' शब्देन अनुग्रहविशेषस्यैव गृहीतत्वात्. नवरत्नप्रकाशे "सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकमिति स्थितिः" (न.र.३) इत्यस्य व्याख्याने "इयं निवेदने अङ्गीकारमर्यादा. कस्यचिद् विशेषतो अङ्गीकारः चेत्, सा पुष्टिः इति भावः" (न.र.प्र.३) इत्यनेन अङ्गीकारविशेष-जन्यभक्तेरेव पुष्टिमार्गीयत्वकथनात्. मुक्तावलीप्रकाशे "उभयोस्तु क्रमेणैव" (सिद्धा.मुक्ता.१९) इत्यस्य आभासे "मर्यादास्थावपि ज्ञानिभक्तौ चेद् अनुगृह्णाति विशेषतः" (सिद्धा.मुक्ता.प्र.१९) इति उक्तम्; अनेनापि विशेषानुग्रहः स्वीकृतः. "गतेरर्थवत्त्वमुभयथा..." (ब्र.सू.३।३।२९) इत्यत्र 'उभयथा' पदव्याख्याने "मर्यादापुष्टिभेदेन" (ब्र.सू.भा.३।३।२९)इति उक्तेः स्फुटमेव भेदो दर्शितः. नच अत्र 'मर्यादा' शब्देन मर्यादापुष्टिः ग्राह्या, अग्रे "एवं सति कृतिसाध्यं साधनं ज्ञानभक्तिरूपं शास्त्रेण बोध्यते. ताभ्यां विहिताभ्यां मुक्तिः मर्यादा. तद्रहितानामपि स्वरूपबलेन स्वप्रापणं पुष्टिः इति उच्यते" (ब्र.सू.भा.३।३।२९) इत्यनेन मर्यादायां ज्ञानभक्त्योः उभयोः निवेशात्, ज्ञानसाहित्यादेव न 'मर्यादा'शब्दो मर्यादापुष्टिवाचकः.

[तत्तन्मार्गयोः फलदानानुकूलाङ्गीकृतिरूपौ हेतूअपि भिन्नावेव]

किञ्च अग्रे "अतएव पुष्टिमार्गे अङ्गीकृतस्य ज्ञानादिनैरपेक्ष्यं मर्यादायाम् अङ्गीकृतस्य तदपेक्षितत्वं च" (ब्र.सू.भा.३।३।२९) इति उक्तम्. तत्र 'मर्यादा' शब्देन यदि मर्यादापुष्टिः तदा 'पुष्टि' शब्देन किं ग्राह्यम्? इति विचार्यम्. नच शुद्धपुष्टिः इति वाच्यं, तथा सति पुष्टिपुष्टि-प्रवाहपुष्ट्योः व्यवस्थायाः अलाभात्. नच पुष्टिपुष्टिरेव ग्राह्या इति वाच्यं, "पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः" (पु.प्र.म.१५)इत्यनेन तेषां ज्ञानसाहित्यकथनाद् अत्रच ज्ञाननैरपेक्ष्योक्तेः तथा वक्तुम् अशक्यत्वात्.

[पुष्टिभक्त्यवान्तरभेदविचारेणापि मर्यादाभक्ति-मर्यादापुष्टिभक्ती भिन्नेएव]

अपरञ्च "तेहि द्विधा शुद्धमिश्रभेदात्" (पु.प्र.म.१४) इत्यारभ्य मिश्राणां भेदकथने "मर्यादया गुणज्ञास्ते" (पु.प्र.म.१६) इत्यनेन मर्यादापुष्टेः

गुणगानमात्रस्य भेदकत्वोक्त्या तारतम्यान्तराभावाद्. भाष्ये(ब्र.सू.भा.३।३।२९)तु पूर्वोक्तरीत्या तारतम्यबाहुल्याद् न 'मर्यादा' शब्देन मर्यादापुष्टिः ग्राह्या.

[फलभेदविचारेणापि उभयोः भेदः]

भाष्ये मर्यादाभक्ति-पुष्टिभक्त्योः फलभेदस्य प्रतिपादनेन, पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थेतु "भगवानेव हि फलम्" (पु.प्र.म.१७) इत्यनेन चतुर्विध-पुष्टिभक्तानां फलैक्यप्रतिपादनादपि न 'मर्यादा' शब्दो मर्यादापुष्टिवाचकः किन्तु मार्यादिकी भिन्नैव या भक्तिः तद्वाचकः.

[पुष्टिमर्यादाङ्गीकृत्योरपि वैलक्षण्याद् न अभेदः]

अन्यच्च एतत्सूत्रभाष्ये उक्तं "मर्यादापुष्टिभेदेन अङ्गीकारे वैलक्षण्याद् आद्यायाम् अङ्गीकृतानां मुमुक्षयैव श्रवणादौ प्रवृत्तिः, तद्दातृत्वेनैव भगवति प्रेमापि, नतु निरूपधिः" (ब्र.सू.भा.३।३।२९)इति उक्तम्. तत्र 'मर्यादा' शब्देन यदि मर्यादापुष्टिः तदा 'पुष्टि' शब्देन किं ग्राह्यं? यदि शुद्धपुष्ट्यादित्रयं तदा प्रवाहपुष्टिभक्तेः मर्यादापुष्टिभक्तितः आधिक्यापत्तेः; यदि शुद्धपुष्टि-पुष्टिपुष्टीएव गृह्येते तदा प्रवाहपुष्टेः दुर्व्यवस्थापत्तेः, कुत्रापि अनभिनिवेशात्. नच इष्टापत्तिः, "भगवानेव हि फलम्" (पु.प्र.म.१७) इत्यनेन सर्वेषां पुष्टिभक्तानाम् उत्तमोत्तमफलस्य उक्तेः.

[पुष्टि-मर्यादा-भक्त्योः निर्गुण-सात्त्विकत्वरूपाद् भेदादपि न अभेदः]

अपरञ्च भक्तिमात्रस्य पुष्टिभक्तित्वे "प्रोवाचं भक्तियोगस्य स्वरूपं ते चतुर्विधम्" (भाग.पुरा.३।३२।३७)इत्यस्य सुबोधिन्यां माध्वादिमार्गीयभक्तीनां स्वसिद्धान्तातिरेकप्रदर्शनं व्यर्थं स्यात्.

[उभयविध-भक्ति-लाभानुकूलयोः देशयोः अनुष्ठेययोः च भेदादपि न अभेदः]

अन्यच्च सिद्धान्तमुक्तावल्यां "ज्ञानाभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत् पूजोत्सवादिषु

मर्यादास्थस्तु गङ्गायां श्रीभागवततत्परः" (सिद्धा.मुक्ता.१७-१८) इति पुष्टि-मर्यादयोः भेदो निरूपितः, "स्वस्वरूप-प्रभुस्वरूप-ज्ञानाभाववान् भक्तो द्विविधः पुष्टि-मर्यादा-भेदेन" (सिद्धा.मुक्ता.प्र.१७-१८) इति व्याख्यानेनापि अतिप्रकटो भेदः कथितः. नहि अत्र 'मर्यादा' शब्देन मर्यादापुष्टिः गृहीतुं शक्यते, 'पुष्टि' शब्दग्राह्यस्य अलाभात्. तथाहि नहि अत्र 'पुष्टि' शब्देन शुद्धपुष्टिः, "ज्ञानाभावे पुष्टिमार्गी" (सिद्धा.मुक्ता.१७) इति श्लोके हीनाधिकारित्वेन गणनात्. नच पुष्टिपुष्टिः, ज्ञानाभावस्य अत्र कथनात् "पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः" (पु.प्र.म.१५) इति लक्षणविरोधात्. नच प्रवाहपुष्टिः, "अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः" (सिद्धा.मुक्ता.१८) इत्यस्य आभासे "पुष्टिमार्गीये विशेषम् आहुः 'अनुग्रहः पुष्टिमार्गे' इति, तस्य स्थितौ न देशादिनियमः किन्तु प्रभुः अनुगृह्य यत्रैव स्थापयति" (सिद्धा.मुक्ता.प्र.१८) इत्यादिना प्रतिपादितेन मर्यादाभक्त्यपेक्षया एतस्य उत्कर्षेण प्रवाहपुष्टितो मर्यादापुष्टेः जघन्यतापत्तेः. 'मर्यादा' शब्देन मर्यादापुष्टिः चेद् गृह्येत तदा "अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामकः" इति मूले निरूपितस्य अनुग्रहनियम्यत्वस्य मर्यादापुष्टौ सत्त्वात् "पुष्टिमार्गीये विशेषम् आहुः" इति प्रभुचरणैः मर्यादायाः अनुग्रहनियम्यत्वाभावस्य उपपादितत्वात् मूलटीकाविरोधापत्तेः. अग्रे "उभयोस्तु क्रमेणैव पूर्वोक्तैव फलिष्यति" (सिद्धा.मुक्ता.१९) इत्यस्य आभासे "मर्यादास्थावपि ज्ञानिभक्तौ चेद् अनुगृह्णाति विशेषतः तदा आदौ पुष्टिमार्गं प्राप्य तन्मार्गीयां भक्तिं प्राप्नुते इति आहुः" (सिद्धा.मुक्ता.प्र.१९) इति उक्तम्. अतो मर्यादास्थभक्तेन पुष्टिभक्तिः पूर्वं न प्राप्ता विशेषानुग्रहो यदा भविष्यति तदा प्राप्यते इति स्फुटं प्रभुचरणाशयः प्रतिभाति. तत्र यदि 'मर्यादा' शब्देन मर्यादापुष्टेः ग्रहणं स्यात् तदा "तन्मार्गीयां भक्तिं प्राप्नुते" इति न वदेयुः. पूर्वमेव तस्य पुष्टिमार्गीयत्वात्, 'ज्ञानि' पदसाहित्यादपि न 'मर्यादा' शब्दो मर्यादापुष्टिवाचकः. अतो अत्र मुक्तावली-तट्टीकयोः अविरोधेन विमर्शे सर्वथैव मार्यादिकी भक्तिः अतिरिक्ता अस्ति इति स्वीकार्यम्.

[मार्गस्वरूपभेदादपि न अभेदः]

भक्तिहेतुनिर्णयग्रन्थे "भगवता स्वप्राप्त्यर्थं मार्गद्वयं प्रकटीकृतं

मर्यादा-पुष्टिरूपञ्च'' (भ.हे.नि.) इत्यादिना उभयोः स्पष्टो भेदः उक्तो, मुचुकुन्दादयो दृष्टान्तीकृताः. यदि 'मर्यादा'शब्देन मर्यादापुष्टिः स्यात् तदा 'मार्गद्वयम्' इति न वदेयुः, नहि मर्यादापुष्टिः भिन्नो मार्गः किन्तु पुष्टिमार्गस्यैव स्वरूपविशेषः. यदि स्वरूपस्यापि पृथग् गणना तदातु मार्गचतुष्टयं स्वप्राप्त्यर्थं भगवता प्रकटीकृतम् इति वदेयुः, प्रकारचतुष्टयस्य पुष्टिप्रवाहमर्यादानिरूपकग्रन्थे निरूपणात्. अन्यत्रापि टिप्पण्यादौ श्रीविट्ठलप्रभुचरणैः असन्दिग्धमर्यादापुष्ट्योः भेदः प्रतिपाद्यतइति ततो अवधेयम्.

[श्रीमद्भागवते उभयविध-भक्त-वंशयोः भेदनिरूपणादपि न अभेदः]

नवमस्कन्धे मर्यादाभक्तान् सूर्यवंशस्थान् उक्त्वा पुष्टिभक्ताः सोमवंशस्थाः उक्ताः, "पुष्टिमार्गस्थितान् भक्तान् वक्तुं सोमान्वयो मतः" (त.दी.नि.३।९।-११) इति निबन्धात्. निबन्धे सूर्यवंशीयेभ्यः सोमवंशीयानाम् उत्कर्षः च उक्तः. तत्र उदाहृतानां राज्ञां मध्ये प्रायः शुद्धपुष्टि-पुष्टिपुष्ट्योः अलाभात् प्रवाहपुष्टिभक्तानामेव बहुधा लभ्यमानत्वेन मर्यादापुष्टितः प्रवाहपुष्टेः आधिक्यापातः 'मर्यादा' शब्देन मर्यादापुष्टेः भवदभिमतत्वात्. अतो 'मर्यादा' शब्देन मर्यादाभक्तिरेव उच्यते नतु मर्यादापुष्टिभक्तिः. एवं सर्वत्र स्वारस्ये, अन्यथाव्याख्यानैः ग्रन्थाः न व्याकुलीकर्तव्याः इति विद्वद्भिः बोद्धव्यम्.

इमामेव मर्यादाभक्तिं केचिद् भगवदीयाः वैधी भक्तिः इति आहुः.

इति श्रीमद्गोवर्धनधर-श्रीवल्लभाचार्य-श्रीविट्ठलेश्वर-चरणानुचरसेवकेन लालूभट्टोपनाम-बालकृष्णेन कृतो मर्यादापुष्टिभक्तिपार्थक्यविवेकः समाप्तः

॥ श्रीकृष्णप्रसादात् मङ्गलानि वित्सीरन् ॥



॥ श्रीगिरिधारी जयति ॥

❋ नामफलविवेकः ❋

[मङ्गलाचरणम्]

श्रीमद्गिरिधरं नत्वा श्रीराधाप्राणवल्लभम्।
वन्दे श्रीवल्लभाचार्यान् प्रभून् श्रीविट्ठलेश्वरान्॥

[विचार्यविषयवचनोपन्यासेन उपक्रमः]

षष्ठस्कन्धे :—

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणम् अशेषाघहरं विदुः॥
(भाग.पुरा.६।२।१४)

निबन्धे च : "अतः पुत्रोपचारेऽपि तद् वस्तु निखिलाघनुद्" (त.दी.नि.प्र.३।६।४९) इति.

[भगवन्नाम्नः सर्वान् प्रति अविशेषेण फलदायकत्वम् उत अधिकारिविशेषएव इति संशयोपस्थापनम्]

अत्र इदं विचार्यते : सङ्केतितादिस्वरूपस्य भगवन्नाम्नः सर्वपापनिवारकत्वं श्रीभागवते अन्यस्मिन्नपि पुराणे निबन्धे च निरूपितम्. तत् किं सर्वान् प्रति अविशेषेण फलदायकम् उत अधिकारिविशेषएव इति संशये निर्णयः उच्यते.

श्रीमद्भागवतेहि सर्गादिकाः लीलाः तृतीयादिद्वादशस्कन्धैः निरूप्यन्ते इति व्यवस्थापितं निबन्धसुबोधिन्योः. तासु पोषणरूपा लीला षष्ठस्कन्धे प्रतिपाद्या, सा भगवदनुग्रहरूपा, "पोषणं तदनुग्रहः" (भाग.पुरा.२।१०।४) इति शुकवाक्यात्, "कृष्णानुग्रहरूपाहि पुष्टिः कालादिबाधिका" (त.दी.नि.३।६-।२) इति निबन्धात् च. तथाच स्कन्धार्थे विचार्यमाणे भगवदनुगृहीतानामेव साङ्केत्यादिनामग्रहणे निखिलांहोनाशो नतु सर्वेषाम्. तद् उक्तम् अत्रैव निबन्धे :—

भगवत्सेवका ये तु कथञ्चिद् भिन्नतां गताः।
सर्वात्मना पापनाशः तेषामेव भवेद् ध्रुवम्॥
(त.दी.नि.३।६।२०)इति.

[भगवन्नाम्नो भक्तेभ्यएव फलदातृत्वम् इति सिद्धान्तः]

अतो भक्तेतरेषान्तु ज्ञानकर्मणी प्रायश्चित्तरूपे. अतएव राज्ञा पृष्टेन श्रीशुकेन प्रायश्चित्तप्रसंगे कर्मज्ञाने पूर्वम् अभिहिते. यदि सर्वान् प्रति अविशेषेण नाम फलेत् तर्हि प्रायश्चित्तत्वे नामैकमेव उक्तं स्यात्, पापनाशने सर्वप्रायश्चित्तापेक्षया हरिनाम्नो बलीयस्त्वात्. अतो नामेतरप्रायश्चित्तोक्तान्यथा-नुपपत्त्या अधिकारिविशेषएव नाम्नः तथाविधफलदातृत्वम् इति ज्ञेयम्.

[भगवदनुग्रहरहितेषु अभक्तेषु ज्ञानकर्मणोः पापनाशकत्वम् इति व्यवस्था]

येतु नानुगृहीताः तेषाम् अभक्तानां कर्म ज्ञानं च पापनाशकम्. तत्रापि कर्मापेक्षया ज्ञानस्य उत्तमत्वम् :—

कर्मणा कर्मनिर्हारो नह्यात्यन्तिक इष्यते।
अविद्वदधिकारित्वात् प्रायश्चित्तं विमर्शनम्॥
(भाग.पुरा.६।१।११)इति श्रीशुकवाक्यात्.

नच *एवं "भक्तानां पापमोचनं नाम्ना तदितरेषान्तु कर्मज्ञानाभ्याम्" इत्युक्ते कर्मज्ञानयोः नामतौल्यम्* इति वाच्यं, "न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तपआदिभिः, यथा कृष्णार्पितप्राणः तत्पूरुषनिषेवया" (भाग.पुरा.६।१।-१६), "तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदानजपादिभिः नाधर्मजं तद्हृदयं तदपीशांघ्रिसेवया" (भाग.पुरा.६।२।१७), "न निष्कृतैरुदितैर्ब्रह्मवादिभिः तथा विशुध्यत्यघवान् व्रतादिभिः यथा हरेर्नामपदैरुदाहृतैः तदुत्तमश्लोकगुणोपलम्भकम्" (भाग.पुरा.६।२।११) इत्यादिवाक्यैः सर्वेभ्यः प्रायश्चित्तेभ्यो हरिनामोच्चारणादि-रूपभक्तेरेव आधिक्योपलम्भात्.

अतएव प्रायश्चित्तादिप्रसङ्गे महता प्रबन्धेन नामोच्चारणादिरूपभक्तेरेव मुख्यत्वं श्रीशुको अवर्णयत्. इदमेव निबन्धे स्फुटीकृतं : भगवद्भक्तानामेव हरिनाम्ना सर्वाघनाशः, इतरेषान्तु ज्ञानकर्मभ्यां पापक्षयः, इतरैः ज्ञानिकर्मिभिः गृह्यमाणस्य हरिनाम्नोऽपि यथायथं ज्ञानकर्माङ्गत्वेन अभक्तिमार्गीयत्वात्. ये भगवद्भक्ताः तत्कर्तृकनामोच्चारणन्तु भगवद्भक्तिरूपमेव, "केचित् केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः" (भाग.पुरा.६।१।१५) इति उपक्रम्य "अत्र चोदाहरन्तीमम् इतिहासं पुरातनम्" (भाग.पुरा.६।१।२०) इति निरूपणात्.

येतु पूर्वम् उदासीनाः सत्सङ्गादिना माहात्म्यम् अवगत्य नाम गृह्णन्ति तेषान्तु निखिलदोषनिवृत्तिः स्यादेव, भगवत्प्रसादेन नामोच्चारणात्मकभगवद्भजने तन्निवेशात्. नामोच्चारणएव तद्विषयककृष्णप्रसादज्ञानं भवति, भगवदनुग्रहम् ऋते नामोच्चारणे श्रद्धैव न उद्भवेत्. अतः पूर्वम् उदासीनत्वेऽपि कृष्णकृपातो भजनप्रवेशात् नाम्ना तस्य समस्तदुरितध्वंसः सिध्येद् इति बोध्यम्.

अजामिलस्तु पूर्वं हरिभक्तएव, केनचिद् गर्वादिजन्यापराधादिना च आद्यदोषसम्बन्धः तस्य अभूद्, "अथापि मे दुर्भगस्य विबुधोत्तमदर्शने, भवितव्यं मङ्गलेन येनात्मा मे प्रसीदति. अन्यथा म्रियमाणस्य नाशुचेर्वृषलीपतेः, वैकुण्ठनामग्रहणं जिह्वा वक्तुमिहार्हति. क्वचाहं कितवः पापो ब्रह्मघ्नो निरपत्रपः,

क्वच 'नारायणे'त्येतद् भगवन्नाममङ्गलम्." (भाग.पुरा.६।२।३२-३४) इत्यादिवाक्यैः अजामिलेनैव स्वकर्तृकभगवन्नामग्रहणे स्वाज्ञातकारणविशेषपरामर्शात्. सर्वकारणविशेषो भगवत्प्रसादएव, स्कन्धार्थसङ्गतिबलेन तथा निर्णयात्. अतः अजामिलः पूर्वं भक्तएवेति तस्मिन् भगवत्प्रसादेन सङ्केतित-भगवन्नाम्नापि अखिलदुरितध्वंस इति निष्कर्षः. तद् उक्तम् अत्रैव निबन्धे, "अजामिलो दासयोग्यः प्रागेव हरिणा तथा, विचारितो गर्वमुक्त्यै तथात्वं प्रापितो बलात्. स्वभावदुष्टजीवाहि स्वधर्मोत्कर्षभावुकाः, अतस्तथाविधं कृत्वा स्वात्मसात्कुरुते हरिः." (त.दी.नि.३।६।१४-१५) इति. एतदेव क्रमसन्दर्भे जीवगोस्वामिभिरपि उक्तम् "'अथापि' इत्यनेन प्राचीना अस्य भक्तिः अस्ति किन्तु केनापि अपराधेन अवृत्ता अभूद् इति गम्यते" (क्र.सं.६।२।३२) इति. तथाच भगवद्भक्तानां केनचिद् अपराधविशेषेण दोषसम्बद्धानामेव साङ्केत्यादिनामग्रहणेन सकलदुरितनिरासो न अन्येषाम् इति निर्द्धारः. अन्यत्र पुराणादावपि हरिनाममहिम्नः एषैव व्यवस्था, श्रीमद्भागवतानुसारेणैव सर्वेषां निर्णयकरणस्य उचितत्वात्, "सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम्, सतु संश्रावयामास महाराजं परीक्षितम्." (भाग.पुरा.१।३।४२) इत्यादिवचोभिः श्रीभागवतस्य सर्वसाररूपत्वात्.

"अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थविनिर्णयः, गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थपरिबृंहितः. पुराणानां साररूपः साक्षाद् भगवतोदितः, द्वादशस्कन्धयुक्तोऽयं शतविच्छेदसंयुतः. ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्त्रः श्रीमद्भागवताभिधः." इति तत्त्वसन्दर्भधृत-गारुडवाक्यात् श्रीमद्भागवतस्य भारतादिनिर्णायकत्वेन बलिष्ठत्वात् तदविरोधेनैव इतरपुराणादिव्यवस्थायाः योग्यत्वम् इति दिक्.

इदन्तु अवधेयम् : अजामिलेन यद् मरणावस्थातः पूर्वं पुत्रस्नेहेन 'नारायण'नाम गृहीतं तेन सङ्केतितेनापि भगवन्नाम्ना दुरितक्षयो वृत्तएव, अन्तकालेतु सङ्केतितभगवन्नाम्ना मुक्तिरेव अभूद् इति विशेषः. "यथाकथञ्चिन्नाम्नापि सर्वपापक्षयः सदा, अन्तेतु मुक्तिर्नियता नान्यथोभयहीनतः." (त.दी.नि.३।६।२८) इति निबन्धात्. 'उभयहीनतः' इत्यत्र 'उभय' पदेन माहात्म्यज्ञानपूर्वकनामग्रहणम् अन्तकाले साङ्केत्यादिनामग्रहणं च इति द्वयं

ग्राह्यम्. एतदुभयं विना नाम्ना मोक्षो नास्ति इति ज्ञेयम्.

यः कर्मी ज्ञानी वा कर्मज्ञानाङ्गत्वराहित्येन हरिनामग्रहणम् अन्तकाले कुर्यात् तस्यतु अनुगृहीतपूर्वोक्तभक्तवत् मुख्यफलं भवत्येव, तस्य तदैव भक्तिमार्गे प्रवेशात्. भक्तिप्रवेशश्च भगवदनुग्रहैकसाध्यः. अनुग्रहस्तु कार्येण ज्ञातुं शक्यः. अन्तकाले कर्मज्ञानाङ्गताराहित्येन भगवन्नामग्रहणं भगवदनुग्रहैककार्यम्. नहि भगवदनुग्रहं विना अन्तकाले तादृग्भगवन्नामग्रहणं सम्भवति, "अन्यथा म्रियमाणस्य नाशुचेर्वृषलीपतेः, वैकुण्ठनामग्रहणं जिह्वा वक्तुमिहार्हति." (भाग.पुरा.६।२।३३) इति वाक्यात्. तस्माद् अन्तकाले भगवन्नामग्रहणं मुक्तिसाधकम् इति निर्विवादम्. अतएव उक्तं निबन्धे, "अन्तेतु मुक्तिर् नियता" (त.दी.नि.३।६।२८).

[अस्मिन् विषये भक्तिसन्दर्भकारस्यापि सम्मतिप्रदर्शनेन ग्रन्थोपसंहारः]

इदमेव उक्तं भक्तिसन्दर्भे जीवगोस्वामिभिः —

मरणेतु सर्वथा सकृदेव यथाकथञ्चिदपि भजनम् अपेक्ष्यते. तत्रहि तस्यैव सकृदपि भगवन्नामग्रहणादिकं जायते यस्य पूर्वत्र वा अत्र वा जन्मनि सिद्धेन भगवदाराधनादिना तदानीं स्वीयप्रभावं प्रकटयता अनन्तरमेव भगवत्साक्षात्कारो भाव्यते, "यं-यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरं, तं तमेवैति कौन्तेय! सदा तद्भावभावितः." (भग.गीता.८-।६) इति श्रीगीतोपनिषद्भ्यः. ततो अपराधाभावात् तत्क्षयार्थं न तत्र आवृत्त्यपेक्षा यथा अजामिलस्य, न तथा कृततन्नामश्रवणादीनामपि यमदूतानाम्.

(भक्तिसन्द.१५९) इति.

अतः पूर्वोक्तं निखिलं सुस्थम्.

इति श्रीमद्-गोवर्धनधर-श्रीवल्लभाचार्य-श्रीविठ्ठलेश्वर-चरणानुचर-सेवकेन लालूभट्टोपनामबालकृष्णेन विरचितो नामफलविवेकः सम्पूर्णः



॥ निर्णयार्णवः ॥

❊ प्रथमस्तरङ्गः ❊

वक्रोष्णीषविलासिमौक्तिकवरस्रग्भूषिताब्जाननं
लीलाब्धिं निशि जागरेण जनितालस्याक्षिमीनद्वयम्॥
तन्माधुर्यभरस्पृहातुरदृशाम् आनन्दयन्तं मनः
श्रीगोवर्द्धनधारिणं रसिकहृच्चोरं किशोरं भजे॥१॥
बालक्रीडनकानि हस्तकमलेनादाय नन्दाङ्गणे
गच्छन् गोपनितम्बिनीषु मनसां हर्ताप्यसौ वञ्चितः॥
दास्यामो मृदुमोदकानि भवते नृत्येति नृत्योत्सुकश्
चित्ते क्रीडतु नन्दगोपतनयः श्रीबालकृष्णः प्रभुः॥२॥
नत्वा श्रीवल्लभाचार्यं प्रभुं श्रीविठ्ठलेश्वरम्॥
तदुक्तबोधसिद्ध्यर्थं क्रियते निर्णयार्णवः॥३॥
सुबोधिन्यां निबन्धे च भाष्ये प्रकरणादिषु॥
टिप्पण्यां च तथा विद्वन्मण्डनादिषु संशयाः॥४॥
बुद्धिदोषादुद्भवन्ति तन्निरासो विधीयते॥
श्रीमद्गोवर्द्धनाधीशपदाम्भोजप्रसादतः॥५॥
श्रीमदाचार्यवर्याणां विठ्ठलेशस्य च प्रभोः॥
वचो बोध्यमितीच्छातः क्रमादिर्न विवक्षितः॥६॥

[१. "अर्थं तस्य विवेचितुं" (सुबो.कारि.१।१।१।५)इति कारिकातात्पर्यनिर्णयः]

तत्र प्रथमं प्रथमस्कन्धसुबोधिनीपञ्चमकारिकायां किञ्चिद् विमृश्यते : - अथ श्रीमदाचार्यचरणाः दैवजीवानां भगवत्तत्त्वाज्ञानान्यथाज्ञाननिदानं कृष्णभजना-प्रवृत्तिं तया तेषाम् अकृतार्थत्वम् अवलोक्य परमकृपालवो भगवद्भक्तिप्रतिपादकं

भागवतशास्त्रं विवरिषवः स्वग्रन्थे विद्वदादरणीयत्वसिद्धये स्वीयाप्ततां बोधयितुं स्वावतारप्रकारं वदन्तो विवृतिं प्रतिजानते —

> अर्थं तस्य विवेऽचितुं नहि विभुर्वैश्वानराद् वाक्पतेः
> अन्यस्तत्र विधाय मानुषतनुं मां व्यासवच् छ्रीपतिः ॥
> दत्वाज्ञां च कृपावलोकनपटुर् यस्मादतोऽहं मुदा
> गूढार्थं प्रकटीकरोमि बहुधा व्यासस्य विष्णोः प्रियम् ॥
> (सुबो.कारि.१।१।१।५).

अर्थं तस्य विवेचितुम् इत्यादिना, तस्य भागवतस्य विवेचितुं वैश्वानराद् आधिदैविकाग्निरूपाद् मत्तो अन्यः कोऽपि विभुः नास्ति. तत्र हेतुः **वाक्पतेः** इति, वाचः सरस्वत्याः पतिः भगवन्मुखं तद्रूपात् स्वस्माद् इति अर्थः. स्वस्य अग्निरूपत्वाद्, अग्नेः च "मुखमग्निरिद्धः" (भाग.पुरा.२।१।२९) इत्यादिवाक्याद् भगवन्मुखरूपतया भागवतार्थप्रकाशकत्वं न अन्यस्य इति भावः. **विवेचितुम्** इति, विवे अचितुम् इति पदच्छेदः. विगतं वं यस्मात् = तद् विवं, तस्मिन् विवे अचितुं प्राप्तुं ज्ञातुम् इति यावत्. 'व'कारो अत्र अमृतबीजत्वाद् मोक्षसुखवाचकः. तथाच 'विवे' = 'गतमोक्षसुखे' इति लोकविशेषणं भवति. लोकोहि कलिकाल-दूषित-बुद्धितया विरुद्धसाधनवत्त्वेन अशुद्धचित्तत्वेन ज्ञानवैराग्यराहित्याद् अनधिकाराद् गतमोक्षसुखो अस्ति. तादृशे अस्मिन् लोके भागवतरहस्यार्थाप्तिः दुर्घटेति वैश्वानरो अहमेव तत्प्रापकः इति तात्पर्यम्. **अचितुम्** इति, "'अञ्चु'=गतौ याचने च" (पाणि.धा.पा.भ्वादि.९३३) इति पठित्वा "'अचु' इति एके" (पाणि.धा.पा.भ्वादि.९३४) इति उकारान्तो अनुस्वाररहितो धातुः भ्वादिगणे पठितः. सच "ये गत्यर्थाः ते प्राप्त्यर्थाः" (   ) इति शब्दशास्त्रमर्यादया प्राप्त्यर्थकः. तस्य इदं रूपम् इति ज्ञेयम्. तथाच एतस्य अर्थं अचितुं=प्राप्तुं कोऽपि विभुः मदन्यो नास्ति. अतो न केनापि वक्तुं शक्यः इति अर्थः. एवं श्रीभागवत-गूढार्थ-प्रकाश-सामर्थ्यं मयि विचार्य भगवान् मां प्रकटीकृतवान् इति आहुः **मानुषतनुम्** इत्यादिना. ननु एवं भवतां मनुष्यतनुत्वेन

अल्पज्ञत्वादिदोषयुक्ततया कथं विवक्षितकार्यसिद्धिः ! इति आशङ्क्य आहुः **व्यासवद्** इति, यथा स्वस्वरूपं ज्ञानशक्तिप्रधानं व्यासं श्रीमद्भागवतकरणार्थं प्रकटीकृतवान् तथा भागवतार्थप्रकाशनार्थं मामपीति मनुष्यत्वेन प्रतीयमानोऽप्यहं न मनुष्यः किन्तु भगवदवतारः इति अर्थः. अतएव उक्तं श्रीवल्लभाष्टके "वस्तुतः कृष्णएव प्रादुर्भूतो भवान्" (श्रीवल्ल.अष्ट.८)इति. **मानुषतनुम्** इत्यत्र "मानुषवत् तनुः यस्य (सः)" इति विग्रहः. तथाच अलौकिकविग्रहो मनुष्यवदाकारः इति अर्थः फलति. ननु व्यासेन नारदद्वारा भगवदाज्ञया भागवतं कृतं, भवतां कः शिक्षकः ? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **दत्त्वाज्ञां च** इति भगवान् साक्षादेव माम् आज्ञप्तवान् भागवतविवरणार्थं, नतु परम्परया. *ननु व्यासचरणैः नारदोपदेशज्ञानान्तरं समाधिं कृत्वा लब्धेन सामर्थ्येन समाधिभाषारूपं भागवतं व्यरचि. तदर्थस्फुटीकाराय भवद्भिः किं साधनम् आचरितम्* इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **कृपावलोकनपटुः** इति, जातः इति शेषः. भगवान् कृपया माम् अवलोकितवान्, ततः कृपावलोकनेन प्राप्ते सामर्थ्ये साधनान्तरनिरपेक्षेण मया सुबोधिनी विरच्यते. अनेन स्वस्मिन् प्रभोः महती कृपा सूचिता. अतएव पुष्टिमार्गाचार्यत्वम् इति भावः. एवं भगवत्कृपारूपं साधनं निरूप्य तत्साधनबलक्रियमाणग्रन्थप्रमेयम् आहुः **गूढार्थम्** इति, "शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणे" (त.दी.नि.३।१।२) इति वक्ष्यमाणकारिकानिरूपितं शास्त्रार्थादिसप्तार्थीरूपम्. **प्रकटीकरोमि** इति, प्राकट्यकथनेन सिद्धस्यैव भगवदनुग्रहेण स्फुरितस्य गूढार्थस्य मन्मुखाद् अभिव्यक्तिः नतु मया स्वबुद्ध्या किञ्चिदपि कल्प्यते. अतएव मन्निरूपिते प्रामाण्यं सिद्धमेव इति सूच्यते स्म. एतस्य सप्तार्थीरूपगूढार्थस्य स्वरूपम् आहुः **व्यासस्य विष्णोः प्रियम्** इति, भागवतप्रतिपाद्यानां कासाञ्चित् लीलानाम् अन्यथा प्रतीयमानानामपि सप्तार्थीसरण्या आनन्दमयत्वेन प्रकाशाद् व्यासस्य विष्णोः पुरुषोत्तमस्य च प्रियम् इति अर्थः.

एवं स्वावतारप्रयोजनं श्रीभागवतार्थस्य सर्वोत्कृष्टत्वं दौर्लभ्यं स्वग्रन्थस्य विद्वदादरणीयत्वं निरूपितम्.

किञ्च, आचार्याणां भगवन्मुखाग्न्यवतारत्वेन तदुक्तप्रयोगस्य अलौकिक-

त्वात् न लौकिकदोषसम्भावनेति विवेचितुम् इत्यस्य ऐकपद्येऽपि साधुत्वमेव, आचार्याणां भगवद्रूपत्वाद्, "आचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति" (भाग.पुरा.११।२९।६) इति एकादशस्कन्धवाक्याद् इति सहृदयैः विभावनीयम्. अतएव स्वप्रौढिख्यापनजन्माऽपि दोषो अत्र[१] न सम्भावनीयो, जीवकर्तृकस्वप्रौढिख्यापनस्यैव मिथ्याविषयत्वेन निन्द्यत्वाद्, नतु भगवद्वाक्यस्य, यथार्थप्रतिपादकत्वात्. अन्यथा, "मत्तः परतरं ना...ऽस्ति" (भग.गीता.७।७) इत्यादि भगवत्कर्तृकस्वमहिमानिरूपणस्यापि सदोषत्वं स्यात्. अतः ईश्वरवाक्ये सत्यार्थप्रतिपादकतया न कुत्रापि दोषः इति दिक्.

[२. "लक्षणां नैव वक्ष्यामि" (सुबो.कारि.१।१।१६) इति कारिकातात्पर्यनिर्णयः]

प्रथमस्कन्धसुबोधिन्यां —

लक्षणां नैव वक्ष्यामि न न्यूनादन्यपूरणम्।
आर्थिकन्तु प्रवक्ष्यामि परोक्षकथनाद् ऋते॥
(सुबो.कारि.१।१।१६).

लक्षणाम् इति, जहत्स्वार्थम् इति अर्थः. न न्यूनाद् अन्यपूरणम् इति शब्दाध्याहारं न करिष्यामि इति अर्थः. आर्थिकन्तु इति अर्थाध्याहारन्तु करिष्याम्येव इति अर्थः. परोक्षकथनाद् ऋते इति परोक्षवादे पुरञ्जनोपाख्यानादौतु लक्षणा वर्ततएव इति अर्थः.

[३/क. "अथवा शून्यवद् गाढम्" (त.दी.नि.१।७५) इति कारिकार्थनिर्णयः]

निबन्धे शास्त्रार्थप्रकरणे —

"अथवा शून्यवद् गाढं व्योमवद् ब्रह्म तादृशम्"
(त.दी.नि.१।७५) इत्यत्र.

पूर्वस्मिन् पक्षेहि शुद्धसत्त्वरूपस्य ब्रह्मणि फलितत्वात् तद्रूपं ब्रह्मणि भासते, इति उक्तम्. अस्मिन्पक्षेतु आकाशो दृष्टान्तीकृतः. तत्र वियति रूपाभावात् नीलरूपप्रतीतिः कथम्? इति आशङ्क्य चक्षुषः स्वभावएव एतादृशो यद् दूरंगतं सन् नीलमिव पश्यति इति समाहितम्. प्रकृते ब्रह्मणोऽपि अतिगाम्भीर्यात् तत्र नीलमिव दृश्यते, नतु नीलवसनादिगतनीलरूपमिव अत्रापि नीलरूपम् अस्ति; किन्तु, ब्रह्मस्वभावएव एतादृशो अङ्गीकार्यो येन नीलरूपप्रतीतिः. तथाच चक्षुःस्वभावाद् नीलरूपं वियति दृश्यते; एवं, ब्रह्मस्वभावाद् ब्रह्मणि नीलरूपप्रतीतिः. एवञ्च नीलरूपं वस्तुस्वभावाद् भाति नतु औपाधिकं रूपम् इति अर्थः. अतएव "ब्रह्मापि अतिगाढम्..." इत्यारभ्य "नीलमिव भाति" इति उक्तम् आचार्यैः, नतु पूर्ववत् "चक्षुः पश्यति" इति उक्तम्. तथा सति चक्षुःस्वभावाधीनत्वे प्रमाणबल-लभ्यत्वम्, असाहजिकत्वेन मायिकत्वं च स्यात्. 'भाति' इति उक्त्यातु स्वप्रकाशकत्वकथनेन आनन्दस्य स्वभावसिद्धं रूपं धर्मिणो अभिन्नं च इति द्वयं सिद्ध्यति स्म. अतएव "प्रकारन्तरेण रूपवत्त्वं साधयति" इति आभासग्रन्थे अभाणि. दृष्टान्ते आकाशे रूपप्रतीतौ प्रमाणस्य चक्षुषः स्वभावो हेतुः — दार्ष्टान्तिकेतु प्रमेयस्य परब्रह्मणः स्वभावो नीलरूपप्रतीतौ कारणम्, इति बोधितम्. अपिच, "नीलमिव भाति" इत्यनेन ब्रह्मकर्तृकभानोक्त्या प्रमेयबलमेव विशदीकृत्य स्वप्रकाशत्वसूचनेन स्वेच्छया चक्षुर्ग्राह्यत्वम् इन्द्रियबलेन अग्राह्यत्वम् उक्तम्. एवं सति यथा लौकिकपदार्थप्रत्यक्षे आलोकसंयोगादिसामग्र्याः कारणत्वं तथा इह केवलं भगवदिच्छायाएव कारणत्वम्. एतावता "इन्द्रियाणान्तु सामर्थ्याद् अदृश्यं स्वेच्छयातु तद्" (त.दी.नि.१।७२) इति पूर्वं यद् निरूपितं तत् समर्थितम्. आकाशदृष्टान्तस्तु रूपाभावेऽपि रूपप्रतीतौ, सर्वांशेन दृष्टान्तस्तु न विवक्षितः, कृष्णावतारे निकटस्थाअपि दृष्ट्या[२] श्याममेव पश्यन्तीति चक्षुषो दूरगमनाभावात्. यथा आकाशे रूपाभावेऽपि प्रमाणरूपचक्षु-स्वभावेन नीलरूपप्रतीतिः एवं ब्रह्मणि रूपाभावेऽपि प्रमेयरूपब्रह्म-स्वभावादेव नीलरूपप्रतीतिः इति. तत्र प्रमाणे चक्षुषि दोषसम्बन्धेन तत्स्वभावस्य दुष्टत्वाद् दुष्टप्रमाजन्यायाः प्रतीतेः भ्रमत्वम्. प्रमेये ब्रह्मणितु दोषसम्बन्ध-सम्भावनायाः खपुष्पतुल्यत्वात् निर्दोषप्रमेयरूप-ब्रह्मस्वभाव-जन्यायाः नीलरूपप्रतीतेः प्रमात्व-

मेव. नच *आकाशे रूपाभावे रूपप्रतीतेः भ्रमत्वमिव[3] ब्रह्मणि रूपाभावे रूपप्रतीतेः भ्रमत्वं[4] कुतो न?* इति वाच्यं, ब्रह्मणः सर्वरूपत्वेन रूपात्मकतायाअपि सिद्धतया स्वरूपाभिन्ननीलरूपत्वेन स्फुरणात् नीलरूपप्रतीतेः सद्वस्त्ववगाहितया प्रमारूपत्वात्. मायिकपदार्थावगाहिन्याएव प्रतीतेः भ्रमत्वनियमाद् युक्तमेव एतत्. नहि आकाशो ब्रह्मेव नीलो भासते किन्तु दोषवशात् चक्षुः नीलमिव मायिकं रूपं पश्यति. "ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि, तद् विद्याद् आत्मनो मायाम्" (भाग.पुरा.२।९।३३) इति भगवद्वाक्यात्.

अत्र इदं सारम् : 'भाति' इत्यनेन ब्रह्मणि न रूपं किन्तु ब्रह्मैव रूपम् इति उक्तं भवति. "अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वाद्" (ब्र.सू.३।२।१४) इत्यस्य व्याख्याने ब्रह्मैव रूपं नतु रूपवद् ब्रह्म इति निरणयद्, भगवान् भाष्यकारो, विद्वन्मण्डनेऽपि तथैव प्रत्यपादि. अतएव "आनन्दरूपे शुद्धस्य सत्त्वस्य फलनं यदा" (त.दी.नि.१।७३) इत्यस्य व्याकृतावेव "आनन्दएव ब्रह्मणि रूपस्थानीयः" (त.दी.नि.प्र.१।७३) इति अवादि. आनन्दस्तु स्वरूपाभिन्नो धर्मः. "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते" (तैत्ति.उप.३।६) "सत्यं विज्ञान(मनन्त)मानन्दं ब्रह्म" (सर्व.सा.उप.३) इत्यादिश्रुतिभिः स्वरूपत्वेन उक्तस्य आनन्दस्य "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" (तैत्ति.उप.२।४।) "आनन्दं ब्रह्मणो रूपं" (?) इत्यादिश्रुतिषु धर्मत्वेन उक्तः. अतः स्वरूपाभिन्नमेव रूपं ब्रह्मणि इति उपनिषदाम् आशयः. अतः तद् हार्दं गृहीत्वा रूपाभावं प्रदर्श्य 'भाति' इति उक्त्या प्रकारान्तरेण रूपवत्त्वं साधयति इति आभासग्रन्थेन च स्वरूपात्मकमेव रूपं साधितम् आचार्यवर्यैः इति पण्डितमण्डलीमण्डनेन वैष्णवजनेन विभावनीयम्. अतएव भिन्नं रूपं नास्तीति स्वगतद्वैतनिराकरणेन शुद्धाद्वैतवादः सिद्धः. स्वरूपात्मकमेव रूपम् अप्राकृतरूपत्वेन अस्मत्सिद्धान्ते व्यवह्रियते. अतः साकारं ब्रह्मैव श्रुतिप्रतिपाद्यम् इति रसिकभगवदीयैः सन्तोष्टव्यम्.

[३/ख. "यद्वा नीरूपत्वेन... पक्षान्तरम् आहुः..." (त.दी.नि.प्र.१।७५)

"अथवा शून्यवद् गाढम्" (त.दी.नि.प्र.१।७५) इत्यस्य द्वितीयव्याख्यानपक्षे द्वितीयाभासे—

> एवं नीरूपत्वेन[*] निराकारत्वं ब्रह्मणि आयातीति अरुच्या पक्षान्तरम् आह अथवा इति, उक्तव्याख्यानेऽपि तथा. एवं नीलिमभानोपपत्तावपि पीतवसनादिभानानुपपत्त्यपरिहाराद् अपसिद्धान्तत्वात् च व्याख्यान्तरम् उच्यते.
> (त.दी.नि.प्र.१।७५) इत्यादि.

एवम् इति, "आनन्दरूपे शुद्धस्य सत्त्वस्य" (त.दी.नि.१।७३) इति पूर्वश्लोके शुद्धसत्त्वस्य प्रतिफलनोक्त्या रूपवत्त्वसाधनेन इति अर्थः. नीरूपत्वेन इति, प्रतिबिम्बित-परकीय-रूपवत्तया स्वाभाविकरूपराहित्येन इति अर्थः. आयाति इति, आपाततः प्रतीयते इति अर्थो, अतएव, 'आयाति' इति उक्तम्. वस्तुतस्तु "आनन्दरूपे शुद्धस्य" (त.दी.नि.१।७३) इति मूले आनन्दस्य रूपत्वम् उक्तमेव. व्याख्यानेऽपि "आनन्दएव ब्रह्मणि रूपस्थानीयः" (त.दी.नि.प्र.१।७३) इति निरूपितम्. अतएव रूपवत्त्वात् शुद्धसत्त्वस्य प्रतिफलनम्. अन्यथा नीरूपे प्रतिफलनं न स्यात्, रूपवत्यधिकरणएव प्रतिफलननियमात्. नहि नीरूपे वियदादौ कस्यचित् प्रतिफलनम् अनुभूयते. उक्तव्याख्यानेऽपि तथा इति, यथा पूर्वश्लोके आपाततो नीरूपत्वं प्रतीयते तथा उक्तव्याख्यानेऽपि आपाततो नीरूपत्वं प्रतीयते इति अर्थः. वस्तुतस्तु "नीलमिव भाति" इति उक्त्या आभासे "प्रकारान्तरेण रूपवत्त्वं साधयति" इति उक्त्या च ब्रह्मणि रूपम् अस्ति इत्येव ग्रन्थहार्दम् इति बोध्यम्. *ननु आपाततः प्रतीयमानार्थएव ग्रन्थकृदाशयः कुतो न भवति?* इति आशङ्क्य आहुः एवं नीलिमभानोपपत्तावपि इत्यादि, आपाततः प्रतीयमानार्थानुसारेण सिद्धान्ते क्रियमाणे श्यामवर्णप्रतीत्युपपत्तेः सिद्धत्वेऽपि पीताम्बर-वनमाला-दिप्रतीतौ न उपपत्तिः सिद्ध्यति अतः आपाततः प्रतीयमानो अर्थो न ग्रन्थहार्दम् इति अर्थः. आपाततः प्रतीयमानार्थस्य

सिद्धान्तीकरणे दूषणान्तरम् आहुः **अपसिद्धान्तत्वात् च** इति, आपाततः प्रतीयमानार्थस्य अपसिद्धान्तत्वाद् इति अर्थः. अपसिद्धान्तत्वन्तु परमतप्रवेशात् स्फुटम्. तथाच आपाततः प्रतीयमानार्थो अपसिद्धान्तो नतु श्रीमदाचार्यचरणाशयः इति भावः. **व्याख्यानान्तरम्** इति, स्फुटार्थकपदघटितवाक्यैः निर्मितम् इति अर्थः. पूर्वव्याख्यानेहि स्फुटार्थक-पदनिर्मित-वाक्यैः संशयो भ्रमः च उत्पद्यते. वक्ष्यमाणव्याख्यानेतु अर्थस्य स्फुटत्वात् न संशयभ्रमौ उत्पत्स्येते इति भावः.

नच *तर्हि पूर्वव्याखानस्य प्रयोजनमेव नास्ति!* इति वाच्यं, प्राकृतरूपनिराकरणेन सार्थकत्वात्. *ननु तर्हि संशयाद्युत्पादक-पदघटित-वाक्यैः किमर्थं व्याख्या!* इति चेत्, परोक्षवादएव अर्थः इति गृहाण. अतएव श्रुतावपि तादृक्पदवाक्यानि उपलभ्यन्ते इति दिक्.

ननु "आनन्दरूपे शुद्धस्य सत्त्वस्य फलनम्" (त.दी.नि.१।७३) इति कारिकया शुद्धसत्त्वस्य प्रतिफलनम् उपपादितं तद् अनर्थकम्, आनन्दात्मकरूपस्वीकारेण रूपवत्त्वे सिद्धे चाक्षुषत्वादिसिद्धौ प्रतिफलितरूपाङ्गीकारे प्रयोजनाभावाद्! इति चेद्, अत्र उच्यते — "देवानां गुणलिङ्गानाम्" (भाग.पुरा.३।२५।३२) इति सन्दर्भे प्रतिपादिता या भक्तिः, तद्भक्तियुक्तानामेव तादृगानन्दरूपस्य निरावरणदर्शनं, "पश्यन्ति ते मे रुचिरावतंसप्रसन्नवक्त्रारुण-लोचनानि" (भाग.पुरा.३।२५।३५) इति वाक्यात्, 'तत्' शब्देन पूर्वोक्तभक्तानां परामर्शात्, "भक्त्याहमेकया ग्राह्यः" (भाग.पुरा.११।१४।२१) "भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति विष्णुः" (   ) इत्यादिवाक्यात्, प्रसन्नो भगवान् स्वस्य गुप्तमपि रूपं प्रदर्शयति इति सिद्धान्तात्. अन्येषान्तु सावरणदर्शनमिति सत्त्वनिष्ठं श्यामरूपं स्वरूपभूते आनन्दरूपे प्रतिफलितं प्रदर्शयतीति सत्त्वनिष्ठ-रूपप्रतिफलन-प्रकारः सार्थकएवेति निर्दुष्टम् अखिलम्.

एवं सम्यग् विमर्शेतु न सिद्धान्तविरोधो नवा श्रीमदाचार्यचरण-प्रभुचरणलेखयोः कोऽपि विरोधादिरूपो दोषः प्रतिभाति इति वैष्णवविद्वांसो विदांकुर्वन्तु.

[४. "साधनं भक्तिः..." (त.दी.नि.प्र.१।५०) इत्यस्य तात्पर्यनिर्णयः]

निबन्धे शास्त्रार्थप्रकरणे —

ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानामात्मनैव सुखप्रमा।
सङ्घातस्य विलीनत्वाद् भक्तानान्तु विशेषतः॥
सर्वेन्द्रियैस् तथाचान्तःकरणैरात्मनापि हि।
ब्रह्मभावात्तु भक्तानां गृहएव विशिष्यते॥

साधनं भक्तिः, मोक्षः साध्यः. तथापि साधनदशैव उत्तमा. तत्र हेतुः — योहि मुच्यते स सङ्घातं परित्यज्य ब्रह्मणि लीयते, ब्रह्मभावं वा प्राप्नोति. तस्य स्वरूपानन्दः स्वरूपेण वा आनन्दानुभवः. स्वतन्त्रभक्तानान्तु गोपिका-दितुल्यानां सर्वेन्द्रियैः तथा अन्तःकरणैः स्वरूपेण च आनन्दानुभवः. अतो भक्तानां जीवन्मुक्त्यपेक्षया भगवत्कृपासहितगृहाश्रमएव विशिष्यते.

(त.दी.नि.प्र.१।५०-५१) इति.

साधनं भक्तिः इति, स्वतन्त्रपुष्टिभजनस्य इति अर्थः. **मोक्षः साध्यः** इति, मर्यादाभजनस्य इति अर्थः. **तथापि साधनदशैव उत्तमा** इति, स्वतन्त्रपुष्टिभक्तेः साधनदशा मर्यादाभक्तिफलरूपाद् मोक्षादपि उत्तमा इति अर्थः. मूले **भक्तानान्तु विशेषतः** इति, स्वतन्त्रपुष्टिभक्तानाम् इति अर्थः. **भक्तानां सर्वेन्द्रियैः तथा अन्तःकरणैः आत्मनाऽपि विशेषतः सुखप्रमा** इति अन्वयः. एवं **ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानाम्** इत्यनेन मर्यादाभजनस्य फलदशाम् उक्त्वा **भक्तानान्तु विशेषतः** इत्यनेन पुष्टिभक्तेः फलदशा उक्ता. पुष्टिभक्तिफलम् उत्तमं मर्यादाभजनफलं हीनम् इति उभयोः तारतम्यं च प्रदर्शितम्. अतएव एतस्य व्याख्याने **स्वतन्त्रभक्तानां गोपिकादितुल्यानाम्** इत्यनेन व्रजभक्ताः उदाहताः. एवं सार्धश्लोकेन पुष्टिभक्तिफल-मर्यादाभजनफलयोः तारतम्यम् उक्त्वा अर्धश्लोकेन मर्यादाभजनावान्तर-फलरूप-ब्रह्मभाव — पुष्टिभजनावान्तरफलरूप-भगवत्कृपासहित-गृहाश्रमयोः

तारतम्यम् आहुः ब्रह्मभावात्तु भक्तानां गृहएव विशिष्यते इति.

[५. ''नामान्यथ प्रवक्ष्यामि... वक्ष्यामि भक्तहृदये...''(त्रिवि.नामा.२।१)इ-त्यत्र पुनरुक्तिनिराकरणम्]

नामावलिग्रन्थे प्रौढलीलानां प्रारम्भे प्रतिज्ञाश्लोकः —

नामान्यथ प्रवक्ष्यामि यैः सन्तुष्यति केशवः
वक्ष्यामि भक्तान् हृदये परमानन्ददायकम् ॥
(त्रिवि.नामा.२।१)इति.

इह पूर्वार्द्धे प्रवक्ष्यामि इति प्रतिज्ञा, उत्तरार्धे वक्ष्यामि इतितु '''वह' प्रापणे'' (पाणि.धा.पा.भ्वादि.१०२९) इति भौवादिकधातोः ल्युटि उत्तमपुरुषैकवचने रूपम्. तथाच भक्तहृदये परमानन्ददायकं श्रीकृष्णं वक्ष्यामि प्रापयिष्यामि इति अर्थः. ''तथा स्यान् निहृकृष्वहाम्'' (सिद्धा.कौमु.कार.प्रक.-सू.१।४।५१) इति व्याकरणाद् द्विकर्मको अयं धातुः. भक्तान् इति द्वितीयं कर्मपदं ज्ञेयम्. एवं सति न पुनरुक्त्यादिदोषगन्धोऽपि. अतो जीवानाम् एतल्लीलानामपाठेन श्रीकृष्णप्राप्तिः भवित्री, एतस्यांहि गोवर्धनोद्धरण-रासादि-लीलानां नामभिः निरूपणाद्, रासलीलायाः फलप्रकरणीयत्वात्.

[६. ''क्षत्रियनाट्योपसंहारकर्त्रे नमः''(त्रिवि.नामा.३।८०) इति नामतात्पर्यनिर्णयः]

राजलीलायाम् —

क्षत्रियनाट्योपसंहारकर्त्रे नमः
(त्रिवि.नामा.३।८०) इति.

क्षत्रियाणां यत् संग्रामरूपं कार्यं तद् भगवति नाट्यरूपमेव, संग्रामादेः द्वेषप्रयुक्तत्वेन भगवति सर्वेषाम् आत्मभूते द्वेषाभावात्. द्वेषजन्यत्वेन भगवत्कर्तृकयुद्धे भानं भ्रमात्मकम्. अतः तादृगज्ञानां यद् विषयीभूतं संग्रामादिकं

तत् नाट्यमेव. अतएव श्रीशुकैः ''निर्जितो जयतीति स'' (भाग.पुरा.१०।७५।-१६) इति उक्त्या तेषाम् अन्यथाज्ञानं निन्दितम् इति बोध्यम्. तथाच विदूरथवधानन्तरं क्षत्रियनाट्यम् उपसंहृतं भगवता इति उक्तम्, अनेन नाम्ना इति हार्दम्. इह ''क्षत्रियधनाद्योपसंहारकर्त्रे नमः'' इत्यादयो अपपाठाः नानाविधजीवैः कल्पिताः. श्रीमदाचार्योक्तौतु पूर्वोक्तएव पाठः इति सर्वं सुस्थम्.

[७. पत्रावलम्बनग्रन्थे फक्किकाक्रमसंयोजनम्.]

पत्रावलम्बनग्रन्थे कतिचन फक्किकाः स्वपूर्वोत्तरफक्किकाभिः न संयुज्यन्ते. यतो अन्यत्र स्थिताः फक्किकाः कस्यचिद् लेखकादेः दोषवशाद् अन्यत्र पतिताः. अतो अस्मिन् ग्रन्थे सर्वत्र सर्वाः फक्किकाः यथा स्वपूर्वोत्तरफक्किकाभिः संयुज्येरन् तथा प्रकारः शिष्टपरम्पराप्राप्तो लिख्यते.

तथाहि —

लौकिको वैदिकश्चैव व्यवहारो द्विधा मतः इत्यारभ्य **वैदिकानां तथैव प्रसिद्धेः** इति चेद् इति फक्किकानन्तरं **अतः कृतापि जिज्ञासा कुण्ठितैव भवेद् ध्रुवम्** इति कारिकाः लेख्याः. तदग्रे **अनारभ्याधीतगार्हपत्यस्मार्ताइव भवेद् यदि** इत्यारभ्य **अयज्ञकालेऽपि ब्रह्मात्मत्वं सिद्ध्यति** इत्यन्तो ग्रन्थो ज्ञेयः. अग्रे **ननु वेदान्तत्वं कथम्** इति प्रश्नफक्किका. तदग्रे **एवम्** इति एकपदरूपः समाधानग्रन्थः. ततो अग्रे **लोकसिद्धस्य जगतो लोकप्रतीतिं बाधित्वा** इति फक्किकाम् आरभ्य **एवं पटत्वादिष्वपि** इत्यन्तो ग्रन्थो बोध्यः. तदग्रेतु **तथाच प्रकृत्यर्थः** इत्यन्तएव ग्रन्थः पूर्वफक्किकासंलग्नः सर्वपुस्तकेषु स्थितः. अधुनातु श्रीमदाचार्यहस्ताक्षरपत्रात् कुतश्चिद् लब्धात् श्रीपुरुषोत्तमगोस्वामिभिः तदुत्तरग्रन्थः आनीतो अस्ति. सच विमर्शोऽपि **तथाच प्रकृत्यर्थः** इत्यनेन

फक्किकावयवेन संयुज्यतएव. अतः **तथाच प्रकृत्यर्थः** इत्यस्य अग्रे **सन् व्यापको वा यदा भवति तदैव प्रत्ययार्थेन एकवाक्यता भवति** इत्यारभ्य **न एतदपि अस्ति, तस्यैव प्रथमं धर्मरूपेण आविर्भावाद्** इत्यन्तो ग्रन्थो गोस्वामिपुरुषोत्तमानीतो लेख्यः. तदग्रे **तच्च कृष्णप्रसादेन मायावादो निराकृतः** इत्यादि कारिकापञ्चकं लेख्यम्. अनेन प्रकारेण पत्रावलम्बनग्रन्थो अस्तीति सर्वत्रापि ग्रन्थे समीचीनैव सङ्गतिः इति वैष्णवविद्वद्भिः विभावनीयम्. **तच्च कृष्णप्रसादेन मायावादो निराकृतो अवैदिको, महादेवः तत्र साक्षी न संशयः** इति श्लोके— **तत्** तस्माद् हेतोः, **कृष्णप्रसादेन मायावादो निराकृतः**. '**मया**' इति शेषः. ननु मायावादस्य बहुभिः आदृतत्वेन निराकरणानर्हत्वात् कथं निराकरणम्? इति आशङ्क्य हेतुगर्भं मायावादस्य विशेषणम् आहुः **अवैदिकः** इति. तथा सति वेदविरुद्धत्वाद् मायावादस्य निराकरणं युक्तमेव. बहुभिः आदरणन्तु न उपादेयत्वे प्रयोजकं, "शतमपि अन्धानां न पश्यति" इति न्यायात्.

[८. "तथाच प्रकृतत्वं निषेधतीति एतावतैव चारितार्थ्ये सति 'एतावत्'पदं व्यर्थम्" (विद्व.मण्ड.   ) इति फक्किकायाः पूर्वापरसम्बन्धनिर्णयः]

विद्वन्मण्डने "अथात आदेशो नेति-नेति" इत्यस्य अर्थस्य विमर्शे—

"**तथाच प्रकृतत्वं निषेधति इति एतावतैव चारितार्थ्ये सति 'एतावत्' पदं व्यर्थम्**" इति फक्किका, तदग्रे "'**दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः, श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते' इति श्रीभागवतवाक्यात् च**" इति फक्किकाम् आरभ्य "'**विधिर्वा धारणवद्' इति सूत्रात् च.**"

इत्यन्तो ग्रन्थः

पूर्वोत्तरग्रन्थानन्वितः इति नानाविधा शङ्का विदुषाम् उत्पद्यते. तत्र अयं निष्कर्षो ज्ञेयः : एतावान् ग्रन्थो ग्रन्थान्तरमध्यपाती लेखकादिदोषवशाद् विद्वन्मण्डनग्रन्थे निविष्टो अस्ति. श्रीमत्प्रभुचरणैस्तु—

"**तथाच प्रकृतत्वं निषेधति इति एतावतैव चारितार्थ्ये सति 'एतावत्'पदं व्यर्थम्**" इति फक्किकायाः अग्रे "**तेन अस्मदुक्तएव अर्थो व्यासाभिमतः इति मन्तव्यम्.**" इति फक्किका रचिता. तदग्रे "**तथाच सविशेषनिर्विशेषनिरूपकयोः श्रुत्योः विरोधाभावात् प्रापञ्चिकधर्मरहितं सहजानन्तधर्मयुक्तं ब्रह्म इति सिद्धम्.**" इति फक्किका अस्ति.

एवं श्रीमत्प्रभुचरणकृतौ सर्वं पूर्वपरान्वितमेवेति न क्वापि शङ्कागन्धः.

[९. "स्तुत्या मयडर्थत्वं, प्रकृतिस्तु तुल्या" (ब्र.सू.भा.१।१।११) इति फक्किकानिर्णयः]

भाष्ये आनन्दमयाधिकरणे—

आनन्दमयः परमात्मा...अभ्यासात्..."**को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्. एष ह्येवानन्दयाति**" (तैत्ति.उप.२।७) इति अर्थतो अभ्यासः. स्तुत्या मयडर्थत्वं प्रकृतिस्तु तुल्या. पुनर्वचनेन अभ्यासेन प्रवाहाद् भेदे साधिते ब्रह्मत्वम्...तस्माद् आनन्दमयं ब्रह्मैव.
(ब्र.सू.भा.१।१।११)इति फक्किका.

ननु "**को ह्येवाऽन्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्. एष ह्येव आनन्दयाति**" इत्यत्र आनन्दस्य अभ्यासो नतु आनन्दमयस्येति कथम् आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वम् अभ्यासाभावाद्?* इति आशङ्क्य आहुः **एष ह्येव आनन्दयाति इति अर्थतो अभ्यासः** इति,

शब्दतः आनन्दाभ्यासेऽपि अर्थतः आनन्दमयस्यैव अभ्यासः इति अर्थः. अर्थतः कथम् आनन्दमयस्य अभ्यासः? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः "स्तुत्या मयडर्थत्वं प्रकृतिस्तु तुल्या" इति. स्तुत्या इति, "को ह्येवान्याद्" इत्यादिरूपया इति अर्थः. मयडर्थत्वम् इति, आनन्दस्य इति अर्थः. "मयटो अर्थः=प्राचुर्यं, यस्मिन् स 'मयडर्थः'" इति व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः. एवं 'मयडर्थ' शब्दः आनन्दमयवाचकः. "तथाच को ह्येवान्यात्" इत्यादि स्तुत्या आनन्दस्य मयडर्थत्वम्, आनन्दमयत्वम् इति अर्थः. इदम् अत्र ज्ञेयं : 'मयट्' प्रत्ययेन प्राचुर्यं यथा उच्यते तथा स्तुत्यापि प्राचुर्यं बोध्यते. यतो लोके प्रचुरधनादिमन्तः एवं स्तूयमानाः दृश्यन्तइति स्तुतौ प्राचुर्यं प्रयोजकम्. अतो अत्रापि स्तुत्या प्राचुर्यं ज्ञाप्यते. एवं सति "को ह्येवाऽन्याद्" इत्यत्र स्तूयमानः प्रचुरानन्दएवेति अर्थतः आनन्दप्रचुरस्य आनन्दमयस्यैव अभ्यासः इति भावः. प्रकृतिस्तु तुल्या इति, 'आनन्द' शब्दरूपा इति अर्थः. 'आनन्दमय' पदे मयटा प्रत्ययेन प्राचुर्यं बोध्यते. "को ह्येवान्याद्" इत्यादौ आनन्दस्तुत्या प्राचुर्यं बोध्यते. 'आनन्द' शब्दस्तु 'आनन्द'पदे 'आनन्दमय'पदे च तुल्यः इति भावः. तथाच आनन्दाभ्यासेन आनन्दमयस्य अभ्यासाद् आनन्दमयो ब्रह्मैव इति भगवतो भाष्यकारस्य निष्कर्षः.

अत्र फक्किकायां लेखकदोषाद् अनुस्वारमात्रलोपेन अर्थस्य दुरूहत्वाद् बहवः पाठा उत्पन्नाः. तेतु न ग्रन्थस्थाः किन्तु यथाकथञ्चिद् लापनार्थं निर्मिताः इति ज्ञेयम्. तेषु पाठेषु बहूनां वर्णानां लोपप्रसक्तेः दृष्यमानपदस्थले पदान्तरप्रसक्तेः च, व्याख्यानस्य अतिक्लिष्टत्वात् च. तस्मात् पूर्वोक्तः सानुस्वारएव पाठो ग्रन्थस्थः "स्तुत्या मयडर्थत्वं प्रकृतिस्तु तुल्या" इति.

[१०. नवरत्नग्रन्थे निवेदन-शरणागतिपदार्थस्वरूपनिर्णयः]

अथ नवरत्नग्रन्थविषये किञ्चित् लिख्यते : "प्रीयते मलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्" (भाग.पुरा.७।७।५२) "भक्त्याहमेकया ग्राह्यः" (भाग.पुरा.११।१४।२१) "वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या" (भाग.पुरा.९।४।६६)

"भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति" (   ) इत्यादिवचोभिः प्रेमलक्षणया भक्त्या भगवान् लभ्यः. "दारान् सुतान् ग्रहान् प्राणान्" (भाग.पुरा.११।३।२८) इत्यारभ्य "उद्धवात्मनिवेदिनां मयि सञ्जायते भक्तिः" (भाग.पुरा.११।१९।२४) इत्यन्तेन वाक्येन प्रेमलक्षणायाः निवेदनलभ्यत्वम्.

निवेदनञ्च देहादिषु स्वकीयत्वाध्यास-निवृत्तिपूर्वक-भगवदीयत्वबुद्धि-सम्पादने भवति, "क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत् कृतं ते स्वाम्यन्तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः" (भाग.पुरा.८।२२।२०) इत्यादिवचनैः निखिलवस्तूनां भगवदीयत्वात् तदीय(त्व!)बुद्धिसम्पादनेन देहादीनां भगवत्सेवोपयोगिकरणस्य निवेदनपदार्थत्वात्. जातेच निवेदने पुनः स्वकीयत्वाभिमानेन बाहिर्मुख्यसम्भवात् निवेदनवैयर्थ्यं स्यात्. तथा सति न निस्तारइति परकृपालुभिः आचार्यचरणैः चिन्तारूपप्रतिबन्धनिवृत्यर्थं "चिन्ता काऽपि न कार्या"(न.र.१) इत्यादि उपदिदिशे. तथापि निवेदनस्य श्रवणाद्यष्टकानन्तरभावित्वात् श्रवणादीनां च प्रत्येकं दुरापतया निवेदनस्य सुतरां तथात्वेन प्रेमलक्षणायाः अनुत्पत्त्या कथं भगवदाप्तिः ? इति आशङ्क्य "श्रीकृष्णः शरणं मम" इति अष्टाक्षरमन्त्रो निरन्तरम् आवर्तनीयः तेनच सर्वानुपपत्तिपरिहारः सकलसिद्धिः च इति उपदिष्टम्. तत्र कथम् अनुपपत्तिपरिहारपूर्वककार्यसिद्धिः ? इति आकाङ्क्षायां तदाशयं विवृण्वन्ति प्रभुचरणाः "साधनफले एकीकृत्य सर्वसमाधानम् आहुः" (न.र.प्रका.आभा.९) इति आभासग्रन्थेन. "श्रीकृष्णः शरणं मम" इति अष्टाक्षरमन्त्रे साधनफलयोः एकीकरणात् सर्वसमाधानम् इति भावः.

तथाहि :—

श्रीकृष्णः फलरूपः निःसाधनजनोद्धृतिकृताभिव्यक्तिः सर्वोद्धारप्रयत्नात्मा मम निःसाधनस्य शरणम् आश्रयः शक्याशक्यसम्पादकः.

इति मन्त्रार्थः.

यद्यपि स्वयोग्यताविचारे श्रवणादिसाधनदौर्लभ्येन भगवत्प्राप्तिनैश्चिन्त्या-

भावः तथापि प्रभोः पुष्टिस्वरूपविचारे शरणागतौ सर्वं सुलभं, "तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागराद्" (भग.गीता.१२।७) इत्यादिवाक्यात्.

तत्र साधनक्रमेण चेद् उद्दिधीर्षुः तदा जीवाशक्यानपि श्रवणादीन् सम्पाद्य उद्धरति. अन्यथा विनापि साधनं कृतार्थयति. अतः शरणगमनं पुमर्थसाधनम्. अतएव "शरणं भावयेद् हरिम्" (वि.धै.आ.१६) इति श्रीमदाचार्यैः उक्तं, "भक्तद्रोहे भक्त्यभावे" (वि.धै.आ.११) इति च. इह भक्त्यभावे भक्तिसिद्ध्यर्थं हरिं शरणं भावयेद् इति अर्थः. प्रकृतेऽपि श्रवणादिनवविधभक्तीनां दौर्लभ्यं ज्ञात्वा नवविधभक्तिसिद्ध्यर्थम् एतन्मन्त्रावृत्तिः उपदिष्टा. अतः प्रमाणबलविचारेण पूर्वपक्षः प्रमेयबलविचारेण समाहितिः इति ज्ञेयम्. तथाच फलमेव साधनीकृत्य इति फक्किकार्थः. अनेन "श्रीकृष्णः शरणं मम" इति मन्त्रार्थो व्याख्यातो ज्ञेयः.

किञ्च अयं मन्त्रो न इतरसाधारणः किन्तु पुष्टिमार्गीयः, समर्पणगद्यवत्. अतएव प्रभुचरणैः अभिहितं "यदुक्तं तातचरणैः श्रीकृष्णः शरणं मम, तत एवास्ति नैश्चिन्त्यम् ऐहिके पारलौकिके" (प्रभुचरणकृत मङ्.३) इति.

पुष्टिमार्गीयत्वञ्च भगवत्स्वरूपातिरिक्त-फलाभाववत्त्वम्. तथाच पुष्टिस्थैः अयं मन्त्रो अनवरतम् आवर्तनीयो, मनसा पूर्वोक्त-तदर्थानुसन्धानेन शरणभावनं च कार्यम्. अतएव उक्तम् "एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेद्" (वि.धै.आ.१३) इति. एवं प्रपत्तौ भगवान् अशक्यमपि साधयिष्यति इति निष्कर्षः. अतएव तद्विवृतौ प्रभुचरणैः ऊचे "सर्वात्मना शरणागतौ प्रभुरेव सम्पादयिष्यति इति हृदयम्" (न.र.प्र.९) इति. तथा सति चिन्तालेशोऽपि नास्तीति प्रतिबन्धाभावे सिद्धे निवेदनसिद्धौ मुख्यभक्तिलाभः तेनच भगवत्प्राप्तिः इति चिन्ताकरणनिराकरणनिरूपणस्य सार्थक्यम् इति कोविदाएव विदांकुर्वन्तु.

[११. "आकाशवद्... वेष्टितम्" (त.दी.नि.१।२५) इति कारिका तात्पर्यनिर्णयः]

निबन्धे शास्त्रार्थप्रकरणे—

आकाशवद् व्यापकं हि ब्रह्म मायांशवेष्टितम्

जीवस्वरूपनिरूपणार्थं ब्रह्मणः सकाशाद् विस्फुलिङ्गादिवद् उद्भवं वक्तुं कारणभूतं ब्रह्मस्वरूपम् आह आकाशवद् इति द्वाभ्याम्. लोकदृष्ट्या दृष्टान्तः. ब्रह्मणो व्यापकत्वं बृहत्त्वात्. अन्यथा 'ब्रह्म'पदप्रयोगो न उपपद्यते. ततः आत्मरमणानन्तरं तिरोहितमिव भवतीति मायया तादृशभावः. तेन वेष्टितं भवति.

(त.दी.नि.प्र.१।२५) इति श्लोके.

मायांशवेष्टितम् इति, अंशैः वेष्टितम् अंशवेष्टितं, मायया अंशवेष्टितं मायांशवेष्टितम् इति तृतीयातत्पुरुषः समासः. अंशस्तु ब्रह्मणो नतु मायायाः. तथाच स्वांशैः ब्रह्म वेष्टितम् इति अर्थः. इह 'माया'शब्दः तृतीयान्तो अंशवेष्टितशब्देन समस्यते नतु 'माया'शब्दस्य 'अंश'शब्देन समासः. एवञ्च ब्रह्मणो अंशवेष्टितत्वे मायायाः हेतुत्वम्. तच्च युक्तं, मायाहि भगवतः सर्वभवनसामर्थ्यरूपा शक्तिः, तया भगवान् स्वस्य व्यापकत्वम् आच्छादयति. तदा व्यापकत्वरूपधर्मतिरोधाने परिच्छिन्नत्वरूपो ब्रह्मधर्मः आविर्भवति. ततः परिच्छिन्नत्वरूपधर्माविर्भावे अंशैः वेष्टितं ब्रह्म भवति. एवं सति व्यापकत्वम् आच्छाद्य परिच्छिन्नत्वरूपधर्मप्राकट्यं सम्पाद्य अंशवेष्टितत्वं स्फोरयन्ती माया अंशवेष्टितत्वे हेतुत्वेन उच्यते. अतएव **मायया तादृशभावः** इत्यनेन टीकायां 'माया'शब्दं तृतीयान्तं व्याख्याय मायायाः हेतुत्वं निरूपितम्. अंशवेष्टितत्वे मायायाः हेतुत्वन्तु पूर्वोक्तरीत्या ज्ञातव्यम्. टीकायां **मायया तादृशभावः, तेन वेष्टितम्** इति फक्किकायां **तादृशभावः** इत्यस्य परिच्छिन्नभावः इति अर्थः. **तेन वेष्टितम्** इति, 'तेन' इति हेतौ तृतीया. तथाच तेन हेतुभूतेन

परिच्छिन्नत्वरूपब्रह्मधर्मेण स्वांशैः ब्रह्म वेष्टितं भवति इति अर्थः सम्पद्यते. सच परिच्छिन्नभावो भगवद्धर्मो व्यापकत्वतिरोधाने प्रकटीभवति. तदा स्वांशैः वेष्टितं ब्रह्म स्फुरतीति परिच्छिन्नभावः स्वांशवेष्टितत्वे हेतुः. व्यापकत्वस्फूर्तौतु न अंशवेष्टितत्वं भायाद् अतो व्यापकत्वं मायया आच्छाद्य परिच्छिन्नत्वं प्रादुर्भावयति भगवान्. तदा ब्रह्म स्वस्य अंशैः भगवदिच्छया भगवतः सकाशाद् निर्गमिष्यद्भिः अणुरूपैः 'जीव'संज्ञां लप्स्यमानैः वेष्टितं भवति.

तथाच सिद्धम् एतत् : इमं विश्वं सिसृक्षुः भगवान् स्वसामर्थ्यरूपया मायया स्वव्यापकत्वम् आच्छाद्य स्वकीयं परिच्छिन्नत्वं प्रकटीकृत्य स्वयमेव स्वस्य अंशैः वेष्टितं भवति. अतो न कुत्रापि परमतप्रवेशइति निखिलम् अदुष्टम्.

[१२. "कुम्भकारकृत्या प्राकृतएव घटः उत्पद्यते"(सुबो.२।९।३४) इत्यस्य निरूपणस्य ब्रह्मात्मकप्रपञ्चसिद्धान्तेन सह सङ्गतिः]

द्वितीयस्कन्धे "यथा महान्ति" इत्यस्य विवृतौ —

कुम्भकारकृत्या प्राकृतएव घटः उत्पद्यते.

(सुबो.२।९।३४)इत्यादि.

इदम् अत्र विचार्यते : भाष्य-निबन्ध-पत्रावलम्बन-सिद्धान्तमुक्तावली-विद्वन्मण्डनादिषु परिदृश्यमानस्य अस्य प्रपञ्चस्य भगवद्रूपत्वम् उक्तम्. तत्तु उचिततरं, "स हैतावानास" (बृह.उप.१।४।३) इत्यादिश्रुतिशतैः तथैव निरूपितत्वात्. श्रीमद्भागवतादिपुराणेषु क्वचिद् मिथ्यात्वप्रतीतेः जगतो मायिकत्वम् आशङ्क्य "मायिकत्वं पुराणेषु वैराग्यार्थमुदीर्यते", "यन्मायिकत्व-कथनं पुराणेषु प्रदृश्यते, तदैन्द्रजालपक्षेण मतान्तरमिति ध्रुवम्" (त.दी.नि.१।८-९,८१) इत्यादिना निबन्धे समाहितम्. उत्पत्ति-नाश-कुत्सितत्व-भेदादयो ये धर्माः प्रतीयन्ते ते विषयतारूपाः मायाजन्याः. तेषां मिथ्यात्वेऽपि न

प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वम्. भ्रमरिकादृष्ट्या गृहीते घटे भ्रमणस्य मायिकत्वेऽपि न घटस्य मायिकत्वं, तद्वत्. "ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत" (भाग.पुरा.२।९।३३) इत्यस्य विवृतौ "विषयो भगवान् विषयता मायाजन्या" (सुबो.२।९।३३) इत्यादि उक्तम्. तृतीयस्कन्धे "आत्ममायायनं हरेः"(भाग.पुरा.३।७।१६) इत्यस्य विवरणे "मायाकृतो यो अन्तरासर्गः सतु अपार्थम् एव आभाति, अन्तराभानात् तलस्पर्शे च ब्रह्मावभानात्, तदैव गच्छतीति निर्मूलत्वम्" (सुबो.३।७।१६) इत्यादि उक्त्वा "मध्ययस्थमात्रानुवादो वा माया- वादिवद्" (सुबो.३।७।१६) इति उक्तम्. एवञ्च अत्र इन्द्रियार्थयोः अन्तरा यो भाति तस्यैव मृषात्वम् उक्तं नतु इन्द्रियार्थयोः. इन्द्रियार्थयोः मध्येतु बुद्धिकल्पितो विषयो भिन्नएव, सएव मिथ्याभूतः. एतत्तु मया प्रमेयरत्नार्णवे ख्यातिविवेके स्फुटीकृतम्. इत्थं सर्वत्र ग्रन्थेषु एकएव सिद्धान्तइति राद्धं नैश्चिन्त्येन; परन्तु, "यथा महान्ति भूतानि" (भाग.पुरा.२।९।३४) इत्यस्य सुबोधिन्यां —

"कुम्भकारकृत्या प्राकृतएव घटः उत्पद्यते, विषयतावत्.
नतु भगवद्रूपः, तस्य सिद्धत्वात्."

(सुबो.२।९।३४)इति उक्तम्.

तत्र इयम् आशङ्का : प्राकृतो घटो भिन्नो — भगवदात्मकः च घटो भिन्नः. तथा सति प्राकृतस्य मिथ्यात्वं — भगवद्रूपस्य सत्यत्वम्. एवं सर्वोऽपि प्रपञ्चो द्वेधा ज्ञातव्यः. तत्र भगवदात्मकस्य सत्यत्वेऽपि एतस्य परिदृश्यमानस्य मृषात्वमेव आयाति!

इति चेत्, न, अनवबोधात्. तथाहि नहि अत्र प्राकृतो घटः कश्चिद् अतिरिक्तः इति आशयो अस्ति; किन्तु, येषां मते प्राकृतो घटः तस्यैव मृषात्वं तन्मते नतु भगवद्रूपं जानताम् अस्मन्मते. एवञ्च *घटस्तु एकएव; परं, प्राकृतत्ववादिनां "कुम्भकारकृत्या जायमानत्वं" वदतां मते उत्पद्यते नतु आविर्भावं मन्यमानानाम् अस्माकं मते* इत्येव आचार्यवर्याणाम् आशयो नतु घटस्य द्वैविध्ये. अतएव दशमस्कन्धीय-इन्द्रयागभङ्गप्रसङ्गे

श्रीनन्दभगवत्संवादे ईश्वरवादनिराकरणे "अस्ति चेद् ईश्वरः कश्चित् फलरूप्यन्यकर्मणाम्" (भाग.पुरा.१०।२१।१४) इति श्लोकस्य विवरणे उक्तं "हैतुको अयम् ईश्वरो निषिध्यते न प्रामाणिकः" (सुबो.१०।२१।१४) इति. अत्र *ये हेतुवादेन ईश्वरं साधयन्ति तन्मते यथा ईश्वरसिद्धिः सा भगवता दूषिता नतु वेदसिद्धः ईश्वरो दूष्यते* इति अभिप्रायः. युक्तञ्च एतत्, युक्त्या ईश्वरसिद्धौतु तस्य औपनिषदत्वं भज्येत. अतो हेतुवादो दूषणीयएवेति दूषितः प्रभुणा. न *एतावता "हैतुको अयम् ईश्वरो निषिध्यते" इति फक्किकायां हैतुकः ईश्वरः प्रामाणिकाद् ईश्वरात् कश्चिद् अतिरिक्तः* इति वक्तुं युज्यते. अपितु, ईश्वरः एकएव, सएव 'हैतुक'शब्देन 'प्रामाणिक'शब्देन च व्यवह्रियते. तस्य हेतुवादेन सिद्धिं ये कुर्वन्ति ते दूषणीयाः — श्रुतिबलेन तं ये साधयन्ति तेतु न दूष्याः, इत्येव अभिप्रायः फक्किकायाः. अन्यथा ईश्वरद्वयापत्तिः स्यात्. एवं घटोऽपि एकएव परं ये प्राकृत्वं वदन्ति तेषां मते उत्पत्तिः, ये भगवद्रूपं मन्यन्ते तेषां वेदान्तिनां मतेतु घटस्य भगवदात्मकत्वेन सर्वदैव सत्त्वाद् आविर्भावएव. तत्रैव कुम्भकारकृत्यादेः दण्डादेः च उपयोगइति न तार्किकमतइव घटस्य जन्यत्वं, नवा विवर्तमतइव मायिकत्वम्, इति सर्वत्र अविरोधं विद्वांसो विदांकुर्वन्तु.

केचितु *प्रपञ्चसत्यत्वप्रतिपादकानि वाक्यानि आधिदैविकप्रपञ्चपराणि — मिथ्यात्वप्रतिपादकानि प्रतिदृश्यमानप्रपञ्चपराणि* इति व्यवस्थापयन्ति. तत् न, भूयसां श्रुतिवाक्यानां निबन्ध-सुबोधिनी-भाष्य-पत्रावलम्बन-विद्वन्मण्डनादीनां च विरोधात्. एतच्च मया ख्यातिविवेके प्रपञ्चितम्.

इदन्तु अवधेयम् : इमं प्रपञ्चं भगवदात्मकं चक्षुरादीन्द्रियैः परिगृह्य तद्गतान् उत्पत्त्यादिरूपान् मायिकान् धर्मान् च परिगृह्य मायामोहितबुद्ध्या यः उत्पत्त्यादिधर्मवान् प्रपञ्चः कल्प्यते स मायिकः. सतु अन्तरेव तिष्ठति न चक्षुरादिग्राह्यः. अतः चक्षुरादिग्राह्यस्तु अयं प्रपञ्चो ब्रह्मात्मकएव. अतएव द्वितीयस्कन्धे "सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च" इति श्लोकविवृतौ निरूपितम् "इदं परिदृश्यमानं जडात्मकं पुरुषएव" (सुबो.२।६।१५) इति. अतएव अस्मन्मते अन्यख्यातिः इति ज्ञेयम्. एतद् मया ख्यातिविवेके

स्फुटीकृतम् इति विशेषजिज्ञासायां तदवलोकनं कार्यम् इति दिक्.

[१३. "कार्यञ्च कारणसमवेतम् उत्पद्यते... यथा घटो भगवान् शब्दः इति" (सुबो.२।९।३४) इति विधानतात्पर्यनिर्णयः]

द्वितीयस्कन्धे "यथा महान्ति भूतानि" इत्यस्य सुबोधिन्यां फक्किका —

> **(१)कार्यञ्च कारणे समवेतम् उत्पद्यते, अन्यथा पटस्य निराधारतया उत्पत्तिः स्यात्, तथा सति (२)न उत्पद्येत (३)उत्पद्यमानं वा सर्वत्र उत्पद्येत, यथा : (१)घटो (२)भगवान् (३)शब्दः इति.**
>
> (सुबो.२।९।३४)

इह फक्किकायां **'यथा'** शब्दः त्रिभिः अन्वेति : **यथा घटः, यथा भगवान्, यथा शब्दः** इति.

अत्र अयम् अर्थः : **कार्यञ्च कारणे समवेतम् उत्पद्यते** इत्यस्य दृष्टान्तो **यथा घटः** इति. **तथा सति न उत्पद्येत** इत्यस्य दृष्टान्तो **यथा भगवान्** इति. **उत्पद्यमानं वा** इत्यस्य दृष्टान्तो **यथा शब्दः** इति.

[१४. "एवं महाभूतेषु त्रयम् : आधारत्वम् आधेयत्वं विशेषतो आधेयत्वम्" (सुबो.२।९।३४) इति विधानतात्पर्यनिर्णयः]

अस्य श्लोकस्यैव विवरणे —

> **एवं महाभूतेषु त्रयम् १आधारत्वं २आधेयत्वं ३विशेषतः आधेयत्वम् इति.**
>
> (सुबो.२।९।३४) इति.

महाभूतानि यदा अप्रविष्टानि तदा केवलम् आधारभूततया स्थितानि. तेषु सूक्ष्मरूपेण पटः तिष्ठति, अतः तेषाम् आधारत्वम् इति अर्थः, पटस्य नित्यत्वेन अङ्गीकारात्. यदा पटरूपेण तन्तवः आविर्भूताः तदा पटे तन्तवः इति प्रतीतेः तन्तूनाम् आधेयत्वम् इति अर्थः. अयमर्थः : सूक्ष्मतया विद्यमाने पटे समवायिकारणत्वेन प्रविश्य तन्तवः पटम् उत्पादयन्ति. स्फुटतया आविर्भावयन्ति इति यावत्. ततश्च कारणतया तन्तूनां प्रवेशसमये प्रवेशस्य दुर्लक्ष्यत्वात् केवलं शास्त्रतएव प्रवेशप्रतीतिः. अतः प्रवेशमात्रं ज्ञेयं नतु अनुप्रवेशः. प्रवेशमात्रे पटाधारतया तन्तूनाम् आधेयत्वं विद्वत्प्रतीतिसिद्धम् इति अर्थः. ततः पटे व्यक्ते सति तन्तवो अनुप्रविशन्ति. यतः तत्र सर्वेषां पटाधारतया तन्तुप्रतीतिः, अतो विशेषतः आधेयत्वम् इति अर्थः.

[१५. "अथवा, महाभूतेषु पञ्चधा...सर्वत्र जगति भगवान्...दशधा ज्ञातव्यः" (सुबो.२।९।३४) इति विधानतात्पर्यनिर्णयः]

अत्रैव श्लोकविवृतौ —

> **अथवा महाभूतेषु पञ्चधा :** [१]कारणत्वेन पूर्वमेव [२]तत्र विद्यमानत्वेन [३]महाभूतत्वेन च-इति अप्रवेशः त्रेधा. कारणप्रवेशवत् [१]प्रवेशत्वेन [२]पृथक्प्रवेशत्वेन च प्रवेशो द्वेधा. 'तथा-तेषु' इति पञ्चधापि. 'न-तेषु' इति पुनः पञ्चधा. एवं भगवति दशधा भवति. एवं सति सर्वत्र जगति भगवान् दशविधलीलायुक्तो दशधा ज्ञातव्यः.
>
> (सुबो.२।९।३४)

अथवा इति आरभ्य पक्षान्तरव्याख्याने **कारणत्वेन** इत्यादि. इह इत्थं ग्रन्थो बोध्यः : पूर्वम् आधारत्वम् आधेयत्वं विशेषतः आधेयत्वम् इति उक्तम्. तत्र आधारत्वम् अप्रवेशेन सिद्धम्. आधेयत्वं विशेषत आधेयत्वं च, प्रवेशानुप्रवेशाभ्यां, सिद्धम्. अतः परं प्रकारान्तरेण प्रवेशाप्रवेशौ उभयाभावं च साधयन्तो दशधा ज्ञेयत्वं भगवतः उपपादयन्ति अथवा इत्यारभ्य

ज्ञातव्यः इत्यन्तेन. **कारणप्रवेशवत् प्रवेशत्वेन** इति, समवायिकारणतया पटोत्पादनार्थं तन्तूनां प्रवेशवद् इति अर्थः. **पृथक् प्रवेशवद्** इति, अभिव्यक्ते पटे तन्तूनाम् अनुप्रवेशवद् इति अर्थः. एवं त्रिधा प्रवेशो द्वेधाहि अप्रवेश — इति पञ्चधा भगवल्लीला निरूपिता. अतः परं प्रवेशाप्रवेशयोः अभावेन पञ्चधा प्रकारं साधयन्ति **न-तेषु** इति. **पुनः पञ्चधा** इति, इदमत्र ज्ञेयं : भगवान् सर्वरूपोऽपि सर्वस्माद् अतिरिक्तोऽपि अस्ति इति अग्रिमश्लोके वक्ष्यते. एवं सर्वधर्मयुक्तोऽपि सर्वधर्मसङ्गहीनोऽपि, "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" (बृह.उप.४।३।१२) इत्यादिश्रुतेः, विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वात् च. तथाच प्रवेशाप्रवेशौ धर्मविशेषौ यथा भगवति भवतः तथा तयोः अभावोऽपि हरौ अस्तीति पञ्चप्रकारकप्रवेशाप्रवेशयोः अभावः पञ्चप्रकारक-इति प्रवेशाप्रवेशतदुभयाभावभेदेन दशधा लीला सिद्ध्यति इति तात्पर्यार्थः.

[१६. "प्रमेयं, ज्ञानं, प्रमाणं, वैराग्यं, विषयो दशविधलीला, भक्तिः" (सुबो.२।९।३५) इति फक्किकार्थनिर्णयः]

"एतावदेव जिज्ञास्यम्" (भाग.पुरा.२।९।३५) इत्यस्य विवृतौ —

> **प्रमेयं ज्ञानं प्रमाणं वैराग्यं विषयो दशविधलीला भक्तिः.**
>
> (सुबो.२।९।३५) इति.

इह **प्रमेयं ज्ञानम्** इत्यादौ प्रमेयज्ञानादीनां न परस्परम् उद्देश्यविधेयभावः किन्तु परिगणनम्. तथाच : [१]प्रमेयं, [२]ज्ञानं, [३]प्रमाणं, [४]वैराग्यं, [५]विषयो दशविधलीला, [६]भक्तिः एतावदेव आत्मनः उपयुज्यते, इति अन्वयः फक्किकायाम्. **विषयो दशविधलीला** इति अत्र विषय-दशविधलीलयोः अभेदो ज्ञेयः. एवम् अत्र **प्रमेयं ज्ञानं** च इति द्वयम्. **प्रमाणं वैराग्यं** च इति द्वयम्. **विषयो दशविधलीलारूपो भक्तिः** च इति पदार्थद्वयम्. एवं षट् पदार्थाः आत्मनः उपयुज्यन्ते इति भावः. तेच भगवता श्लोकत्रयेण निरूपिताः. तत्र "अहमेवाऽऽसमेवाग्रे" (भाग.पुरा.२।९।३२) इत्यत्र प्रमेयं

निरूपितम्. तेन ज्ञानं सिद्ध्यतीति अस्मिन् श्लोके प्रमेयज्ञानयोः निरूपणं ज्ञेयम्. ''ऋतेर्थं यत् प्रतीयेत'' (भाग.पुरा.२।९।३३) इत्यत्र सर्वस्य भगवद्रूपत्वेन उपादेयतायां हेयाभावात् प्रयोजनाभावेन प्रमाणवैयर्थ्यम् आशङ्क्य भगवत्त्वेऽपि मायया विषयतारूपदोषोत्पादनात् ज्ञानोदयावधि जगतो हेयत्वसमर्थनेन सिद्धे ज्ञाने सर्वस्य निर्दोषतौल्यसमर्थनेन मायोत्पादितदोषनिराकरणार्थं प्रमाणानां सार्थक्यं साधिम्. अतो अस्मिन् श्लोके प्रमाणनिरूपणम्. भगवान् मायाद्वारा जगति दोषम् उत्पादयति. तस्य प्रयोजनं वैराग्यं, सदोषएव वस्तुनि वैराग्यस्य न्याय्यत्वात्. एवं विषयतासाहित्येन जगतोहि आगन्तुकदोषयुक्तत्वात् तस्मिन् वैराग्यं कर्तव्यम् इति युक्तम्. तथाच अस्मिन् श्लोके प्रमाणं वैराग्यं च उक्तम् इति बोध्यम्. ''यथा महान्ति'' (भाग.पुरा.२।९।३४) इत्यत्र महाभूतदृष्टान्तेन समवायिकारणतोक्त्या सर्वत्र कार्ये अन्वयकथनेन ब्रह्मरूपो जगदात्मको विषयो निरूपितः. सच सर्गारू(र्गनिरू!)पक-तृतीयादिस्कन्धे निरूप्यमाणः श्रवणविषयीभूय भगवल्लीलाज्ञानजननेन भक्तिं जनयतीति भक्तेरपि निरूपणम् अस्मिन् श्लोके इति ज्ञातव्यम्.

[१७. ''हरित्र न...पुपुषु क्वचिद्''(संन्या.निर्ण.१९)इति कारिकातात्पर्यनिर्णयः 'पुपुषुः'पदसाधुत्वनिर्णयः च]

संन्यासनिर्णये —

> हरित्र न शक्नोति कर्तुं बाधां कुतोऽपरे।
> अन्यथा मातरो बालान् न स्तन्यैः पुपुषु क्वचित्॥
> (संन्या.निर्ण.१९) इति.

हरिः अत्र विरहानुभवे बाधां प्रतिबन्धं कर्तुं न शक्नोति न समर्थो भवति. अपरे कालादयः कुतः करिष्यन्ति? इति अर्थः. ननु कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं-समर्थस्य भगवतो असामर्थ्यकथनं सर्वशास्त्रविरुद्धम्! इति आशङ्कां परिहरन्तो, न भगवतः शक्तिन्यूनताप्रयुक्तम् असामर्थ्यम् अपितु भक्तवात्सल्यकृतम्, इति दृष्टान्तेन आहुः अन्यथा इत्यादिना, मातरः

बालान् स्तन्यैरेव पुपुषुः अन्यथा अन्यप्रकारेण न पुपुषुः इति अर्थः. यथा पुत्रवात्सल्यवशीभूताः सर्वाः मातरो बालानां स्तनदानेनैव पोषणं हितरूपं चक्रुः अन्यथा प्रकारान्तरेण न चक्रुः, एवं ब्रह्मसृष्टिम् आरभ्य व्यवस्थितं, तथा भगवानपि भक्तवात्सल्यपरवशो भक्तस्य परमेष्टरूपं विरहानुभवं साधयति. न अस्मिन् विरहानुभवे प्रतिबन्धं करोति इति भावः.

केचित्तु अत्र — '' 'बालान् न स्तन्यैः पुष्येयुः' इति वक्तुम् उचितं, ननु 'लिट्'प्रयोगः उचितः'' इति आहुः. तत् न, पूर्वोक्तरीत्या ग्रन्थलापने लिट्प्रयोगस्य निरवद्यत्वात्.

[१८. ''संसारावेशदुष्टानाम् ...योजयेद्'' (निरो.लक्ष.१२) इति कारिकार्थनिर्णयः]

निरोधलक्षणग्रन्थे —

> संसारावेशदुष्टानाम् इन्द्रियाणां हिताय वै।
> कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेद्॥
> (निरो.लक्ष.१२) इति.

कृष्णस्य सर्ववस्तूनि कृष्णसम्बन्धिरूपरसादीनि विषयरूपाणि इन्द्रियाणां हिताय योजयेत्, भगवद्रूपादौ चक्षुरादीनां विनियोगः कार्यो ननु अन्यत्र इति फलितो अर्थः.

ननु जीवानां नानादेशस्थानां भगवद्रूपादिदौर्लभ्यात् कथं विनियोगः स्याद्? इति आशङ्क्य आहुः भूम्नः इति, व्यापकस्य इति अर्थः. *ननु व्यापकत्वेऽपि तिरोहितत्वाद् दौर्लभ्यं दुर्निवारम्!* इति आशङ्क्य आहुः ईशस्य इति, सर्वत्र सर्वरूपेण सर्वकरणसमर्थस्य इति अर्थः. एवं सति मूर्त्यादिरूपेण प्रकटस्य साक्षाद् भगवत्वात् तत्र चक्षुरादिविनियोगस्य सौकर्यमिति कृतार्थता सिद्धैवेति सामर्थ्यसूचकम् 'ईश' पदम्.

[१९. ''हरिमूर्तिः...इति निश्चयः''(निरो.लक्ष.१७-१९) इति कारिकात्रयतात्पर्यनिर्णयः]

अत्रैव —

हरिमूर्तिः सदा ध्येया सङ्कल्पादपि तत्र हि।
दर्शनं स्पर्शनं स्पष्टं तथा कृतिगती सदा॥
श्रवणं कीर्तनं स्पष्टं पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः।
पायोर्मलांशत्यागेन शेषभागं तनौ नयेत्॥
यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते।
तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः॥
(निरो.लक्ष.१७-१९) इत्यादि.

ध्येया इति, अनेन अन्तःकरणस्य भगवति उपयोगः उक्तः. दर्शनं स्पर्शनम् इति चक्षुस्त्वचोः. तथा कृतिगती इति करपादयोः. श्रवणं कीर्तनं स्पष्टम् इति श्रोत्रवाचोः. पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः इति, ''कृष्णः प्रियो यस्य''/''कृष्णस्य प्रियः'' इति वा विग्रहेण भगवद्भक्तः इति अर्थः. कृष्णप्रिये पुत्रे इति अत्र ''निमित्तात् कर्मयोगे'' (पाणि.सू.वा.२।३।३६-।६) इति सूत्रेण सप्तमी. रतिः इति कर्मपदम्. अध्याहृतेन 'कर्तव्या' इति पदेन कर्मणो अभिधानाद् अभिहिते रतिरूपे कर्मणि प्रथमा. प्रथमान्तेन कर्मवाचक-'रति' पदेन योगात् पुत्रे कृष्णप्रिये इत्यत्र निमित्तसप्तमी. तथाच कृष्णप्रियपुत्रार्थं रतिः कर्तव्या इति अर्थो भवति. अनेन व्यवायेन्द्रियस्य परम्परया भगवत्सेवोपयोगो निरूपितः. ''भगवद्भक्तः पुत्रः उत्पत्स्यते'' इति बुद्ध्या भोगः कार्यो नतु अन्यथा इति भावः. 'पुत्र' पदेन स्वभार्यायामेव ऋतावेव भोगः कार्यो न स्वाच्छन्द्येन इति अनुज्ञातम्. पायोः इति, तद्द्वारा मलांशत्यागे देहः, शुद्धो, भगवत्सेवायाम् उपयोक्ष्यतइति पायोः परम्परोपयोगो ज्ञेयः. यस्य वा इति, अन्तःकरण-बहिःकरणानां मध्ये यस्य चक्षुरादेः यदा यस्मिन् समये भगवत्कार्यविनियोगो न दृष्यते तदा तस्मिन् समये तस्य विनिग्रहः कर्तव्यो नतु भगवदितर-पदार्थे विनियोगः इति

अर्थः.

केचिद् अत्र *यस्य वा भगवत्कार्यम् इत्यनेन व्यवायेन्द्रियमात्रस्य निग्रहः उक्तः* इति आहुः. तत् न, यस्य यदा तस्य तदा इति उक्तयोः 'यत्-तत्' शब्दयोः वैयर्थ्यापत्तेः. अतः साक्षात् परम्परया वा यथाकथञ्चिदपि भगवद्विनियोगः स्यात्, तदा इन्द्रियाणि विनियोजितव्यानि, अन्यथातु सर्वस्यैव इन्द्रियगणस्य निग्रहः कार्यः, इत्येव आचार्यवर्याणाम् आशयो नतु केवलं व्यवायेन्द्रियमात्रनिगृहे तात्पर्यमात्रम् इति ज्ञातव्यम्.

[२०. ''यच्च दुःखं...मम क्वचिद्'' (निरो.लक्ष.१) इति कारिकातात्पर्यनिर्णयः]

ननु निरोधलक्षणग्रन्थे —

यच्च दुःखं यशोदायाः नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानान्तु यद्दुःखं तद्दुःखं स्यान्मम
क्वचित्॥
(निरो.लक्ष.१)इत्यादिना

श्रीमदाचार्यवर्यैः भगवद्विरहादिसामयिकदुःखादि स्वयं याचितम्, एतावता निरोधस्य किं लक्षणं सिद्धम्? इति चेत्, शृणुत!

भगवद्विरहे दुःसहदुःखं भगवत्संयोगे परमाल्हादः च इत्यादि कार्यं निरोधजन्यमेव. यतो निरुद्धानामेव भगवद्विरहे दुःखं श्रूयते, संयोगे महानन्दः च, ''गोपीनां परमानन्द आसीद् गोविन्ददर्शने, क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाऽभवद्'' (भाग.पुरा.१०।१६।१६) इति वाक्यात्. एवं सति तादृशदुःखादेः निरोधकार्यत्वात् कार्यलक्षणम् अत्र सुखसाध्यम् इति आकलय : ''भगवद्विरह-सामयिक-परमदुःखकारणत्वम् निरोधत्वं'' — ''भगवत्संयोग-सामयिक-परमानन्दसाधकत्वं निरोधत्वम्'' इत्यादिलक्षणानि निरोधस्य सिद्ध्यन्ति. निरोधस्य, निबन्ध-सुबोधिन्योः बहुधा निरूपितस्य

परस्परविरुद्धतया प्रतीयमानलक्षणस्य, सम्यग् अविरोधप्रकारो मया सुबोधिनी(सुबो.कारि.१०।१।१।९-१०)योजनायां विवृतइति विशेषजिज्ञासायां ततो अवधेयम्.

[२१. ''अविरुद्धन्तु...कथञ्चन''(त.दी.नि.१।८) इति कारिकातात्पर्यनिर्णयः]

निबन्धे शास्त्रार्थप्रकरणे—

अविरुद्धन्तु यत्त्वस्य प्रमाणं तच्च न्यान्यथा।
एतद्विरुद्धं यत् सर्वं न तन्मानं कथञ्चन॥
(त.दी.नि.१।८)इति.

अस्य प्रमाणचतुष्टयस्य. **अस्य** इति षष्ठी तृतीयार्थे ''फलानां तृप्तः'' (सिद्धा.कौमु.कार.प्रक.सू.२।३।५०) इतिवद्, **अनेन** प्रमाणचतुष्टयेन **अविरुद्धं यद्** वाक्यं **तत् प्रमाणम्** इति अर्थः. *ननु एतद्विरुद्धम् अनार्षवाक्यं चेत् तदा तस्यतु अप्रामाण्यमेव वाच्यम्, अनार्षवाक्यत्वाद्* इति आशङ्क्य, न इह अनार्षत्वम् / आर्षत्वम् दोषगुणप्रयोजकम् अपितु वेदादिचतुष्टयाविरोधएव ग्राह्यत्वे प्रयोजकः इति आहुः **अन्यथा न** इति, अप्रमाणं न इति अर्थः. एवं वेदाद्यविरुद्धस्य प्रामाण्यम् उक्त्वा एतद्विरुद्धस्य आर्षवाक्यस्यापि अप्रामाण्यम् इति आहुः एतद्विरुद्धम् इत्यादिना.

इति श्रीमद्गोवर्द्धनधर-श्रीवल्लभाचार्य-श्रीविट्ठलेश्वर-चरणानुचरसेवकेन
लालूभट्टोपनाम-बालकृष्णेन कृते निर्णयार्णवे
प्रथमः तरङ्गः सम्पूर्णः



॥ पाठभेदतालिका ॥

१.'अत्र' इति घ पाठानुरोधात्. २.इह आद्यसम्पादकीया पादटिप्पणी— 'दृष्ट्वा'

इति तदुपलब्धे ख पाठे नास्ति. ३.'भ्रान्तत्वम्' इति मु . ४.'भ्रान्तत्वम्' इति मु . ५.इह आद्यसम्पादकीया पादटिप्पणी— 'निराकारत्वेन नीरूपत्वम्' इति तदुपलब्धयोः उभयोरपि क ख पाठयोः. ६.इह 'मर्यादाभजनस्य' इत्यंशस्य द्वन्द्वबहिर्भावः अस्मदुपलब्धयोः उभयोरपि घ च पाठयोः प्रामादिकएवेति पुनः द्वन्द्वान्तर्निवेशनं, तथैव आद्यसम्पादकीयायां पादटिप्पण्यामपि द्योतितम्. ७.'भायाद्' इति घ च पाठानुरोधात् तथैव आद्यसम्पादकीयायां पादटिप्पण्यामपि उत्प्रेक्षा. ८.'साहित्येन' इति च पाठे, आद्यसम्पादकीयः संशोधितपाठस्तु 'साहित्यएव' इति, तदुपलब्धयोः पाठयोः 'साहित्ये वा' इति.



❊ द्वितीयस्तरङ्गः ❊

नत्वा गोवर्द्धनाधीशं प्रभून् श्रीवल्लभाभिधान्॥
श्रीविट्ठलेश्वरान् वन्दे शुद्धपुष्टि-फलाप्तये॥

अथ निर्णयार्णवे द्वितीयः तरङ्गः आविर्भाव्यते :

[१. ''नमोऽस्तु यमुने सदा''(श्रीयमु. अष्ट. ६)इति कारिकातात्पर्यनिर्णयः]

यमुनाष्टके—

नमोऽस्तु यमुने सदा तव चरित्रमत्यद्भुतं
न जातु यमयातना भवति ते पयःपानतः।
यमोऽपि भगिनीसुतान् कथमु हन्ति दुष्टानपि
प्रियो भवति सेवनात् तव हरेर्यथा गोपिकाः॥
(श्रीयमु. अष्ट. ६)इति श्लोके.

ते पयःपानतो यमयातना न भवति इति उक्तम्. तत्र का युक्तिः ? इति अपेक्षायां **'पयः'**शब्देन श्लिष्टेन यमुनापुत्रत्वं निरूप्य **यमोऽपि भगिनीसुतान्** इति युक्तिः प्रदर्शिता. तथाच इतरकाव्यवद् इहापि असतः पुत्रत्वस्य प्रतिपादनात् मिथ्यार्थनिरूपकता प्राप्नोति! इति चेत्, न, इहहि **पयःपानतः** इत्यत्र न श्लेषेण पुत्रत्वकथने तात्पर्यं किन्तु जलपानतो **यमयातना न भवति** इति प्रतिपाद्यते. तत्तु पद्मपुराणा(द्र. : पद्मपुरा. स्वर्ग. ३१-।९९-१००)दौ स्फुटमेव उक्तमिति न युक्त्यपेक्षा. **यमोऽपि भगिनीसुतान्** इत्यत्र उक्तं जीवानां यमुनापुत्रत्वन्तु धर्मशास्त्रे रक्षाहेतोः मातृत्वोक्तेः सिद्धम्. अतएव भगवता दशमस्कन्धे ''स पिता सा च जननी यौ पुष्णीतां स्वपुत्रवद्'' (भाग. पुरा. १०।४२।२२) इति उक्तम्. यमुनाहि स्वाश्रितजीवान् रक्षत्येव, ''शरणागतसन्त्राणनिपुणा सगुणागुणा'' (पद्मपुरा. ?) इति

पद्मपुराणे प्रयागमाहात्म्ये यमुनात्रिंशन्नामात्मकस्तोत्रे उक्तत्वात्. एवं सति यमुनायाः शरणागतरक्षकत्वेन मातृत्वात् प्रपन्नजीवानां सिद्धं यमुनासुतत्वमिति न इतरकाव्यस्येव असत्प्रतिपादकताइति वैष्णवाः प्रसीदन्तु.

[२. ''स्वभावविजयो भवेद्''(श्रीयमु. अष्ट. ९) इति कारिकातात्पर्यनिर्णयः]

यमुनाष्टके—

स्वभावविजयो भवेद्
(श्रीयमु. अष्ट. ९).

स्वभावविजयो भवेद् इति, भगवता वेणुनादेन सुधासंवलितेन प्रवहणैकस्वभावायाः श्रीयमुनायाः भग्नवेगत्वं सम्पादितं, ''नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीतमावर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः''(भाग. पुरा. १०।१८।१५)इति वाक्याद्, ''ज्ञानोत्कर्षस्तदैव स्यात् स्वभावविजयो यदि'' (सुबो. कारि. १०।१८।१०।२५)-इति सुबोधिन्यां स्वभावविजयस्य उक्तत्वात् च. अतः स्वभावविजयवती यमुना. तस्याः स्तोत्रपाठे स्वभावविजयो युक्तएव, पद्मनाभादिस्मरणे शयनादिवत्.

[३. '' 'भक्ति'शब्दस्य धात्वर्थः सेवा प्रत्ययार्थः प्रेम''(त. दी. नि. प्र. २।९२) इति फक्किकार्थनिर्णयः]

निबन्धे सर्वनिर्णयप्रकरणे—

'' 'भक्ति'शब्दस्य धात्वर्थः सेवा प्रत्ययार्थः प्रेम.''
(त. दी. नि. प्र. २।९२) इति.

इह हि '' 'भज' सेवायाम्'' (पाणि. धा. पा. भ्वादि. १०२३) इति धातुपाठाद् धात्वर्थः सेवा इति निर्विवादम्. 'क्तिन्' प्रत्ययस्यापि सेवैव अर्थो भवितुम् अर्हति, भावे विहितत्वाद्, ''धात्वर्थः केवलः शुद्धो भाव

इत्यभिधीयते" (?) इति शास्त्रात्. तथाच कथं प्रत्ययार्थस्य प्रेमार्थत्वम् इति चेत्? सत्यम्! "माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः, स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तः तया मुक्तिर्न चाऽऽन्यथा" (नार.पञ्च. ।) इति तन्त्रात्मकप्रमाणेन प्रेम्णः प्रत्ययार्थत्वं बोध्यम्. तथाहि 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु' इत्यनेन माहात्म्यज्ञानस्य विशेषणीभूततया प्रतिपादनात् सेवा सूचिता, सेवायाः सेव्यमहिमज्ञानपूर्वकत्वात्. एवं सूचितायाः सेवायास्तु धात्वर्थत्वमेव उचितं, "'भज' सेवायाम्" इति धातुपाठात्. एवं सेवायाः धात्वर्थतायां पारिशेष्यात् स्नेहस्य प्रत्ययार्थत्वं युक्तमेव. तथाच व्याकरणरीत्या 'भक्ति' शब्दे प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः सामान्यविशेषभावेन ऐक्येऽपि पूर्वोक्त-नारदपञ्चरात्र-वाक्ये स्नेहस्य भक्तित्वकथनात् पूर्वोक्तपारिशेष्यरीत्या स्नेहस्य प्रत्ययार्थत्वं निराबाधम्. "'कृषि' र्भूवाचकः शब्दो 'ण'श्च निर्वृतिवाचकः, तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते" (गोप.पू.ता.उप.१।१) इति निर्वचनबलात् 'कृष्ण' शब्दे 'ण' कारात्मकप्रत्ययस्य निर्वृतिवाचकत्वमिव पञ्चरात्रोक्त्या 'भक्ति'शब्दे प्रेम्णः प्रत्ययार्थत्वम् इति निर्दोषः सुधियां पन्थाः.

[४. "नवम्यां भगवज्जन्म... पुष्ये...हरिर्बभौ" (त.दी.नि.३।९।७९) इति पुष्यनक्षत्रे कारिकोक्तस्य श्रीरामजन्मनः प्रमाणनिर्णयः]

नवमस्कन्धनिबन्धे श्रीरामचन्द्रजन्मसमयनिरूपणे —

नवम्यां भगवज्जन्म नवग्रहबलाय हि।
पुष्ये षड्गुणसंयुक्तश् चतुर्मूर्त्तिर्हरिर्बभौ॥
(त.दी.नि.३।९।७९).

इत्यनेन पुष्यनक्षत्रे श्रीरामप्राकट्यम् उक्तम्. तत्र किं मानम्? इति चेद्, वाल्मीकिरामायणे अयोध्याकाण्डे पञ्चदशसर्गे "उदिते विमले सूर्ये पुष्ये चाऽभ्यागतेऽहनि, लग्ने कर्कटके प्राप्ते जन्म रामस्य च स्थिते" (वाल्मि.रामा.अयो.१५।३)[१] इति वाक्यं मानम् इति गृहाण.

[५. "अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षणे...तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः" (न.र.प्र.१) इति फक्किकायाः पूर्वापरसङ्गतिनिर्णयः]

नवरत्नप्रकाशे —

अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षणएव तन्निवेदने कृते अग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः.
(न.र.प्र.१).

इयं फक्किका पूर्वफक्किकया न सङ्गच्छतइति बहूनाम् आर्याणां महानेव उद्यमो अस्मिन् ग्रन्थे नानाविधो अस्ति; परन्तु, उद्यमशतेनापि न लगति इयं फक्किका. तत्र अयं निष्कर्षो बोध्यः : इह लेखकादिदोषवशात् फक्किकानां वैपरीत्यं जातं लेखने. अतः फक्किकानाम् अर्थस्वारस्यं विचार्य पूर्वापरभावं निर्द्धार्य फक्किकाः लिख्यन्ते.

तथाहि इह पूर्वं —

निवेदने भजनाधिकारः तस्मिन् सति तदनिर्वाहः इति उभयतः पाशारज्जुः इति चेत्? इति फक्किका अस्ति. तत्र उत्तरम् उक्तम् **अत्र वदामः** इत्यादिना. तत्र **गायत्र्युपदेशजसंस्कारवद्** इत्यन्तेन निवेदनस्य आवश्यकता उक्ता. एवं निवेदनस्य आवश्यकत्वम् उक्त्वा निर्वाहः केन कार्यः? इति आकाङ्क्षायां **निवेदितानाम् अर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तदुद्दत्तप्रसादत्वेन स्वोपभोग-कृतिः उचिततरा** इति फक्किका अस्ति पठिता. तथाच देहादिनिर्वाहः केन कार्यः? इति आकाङ्क्षायां **निवेदितेन निर्वाहः कार्यः** इति उत्तरं सिद्ध्यति. तत्र किं प्रमाणम्? इति आकाङ्क्षायां **दासधर्मत्वाद्** इति उक्तम्. तदग्रे भगवद्वाक्यं प्रमाणत्वेन उपन्यस्य निवेदितेन निर्वाहः कार्यः इति ज्ञापनार्थम्

''उच्छिष्टभोजिनो दासाः'' (भाग.पुरा.११।६।४६) इत्यादिवाक्यैः आत्मशोधकत्वात् च इति पठितम्. तदग्रे ता...[२] अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षणएव तन्निवेदने कृते अग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः इति फक्किकया अन्यथानुपपत्तिः प्रदर्शिता. तदग्रे अपरञ्च इत्यारभ्य अनिवेदितस्य निषिद्धत्वाद् इत्यन्तेन निवेदन-दानयोः पुनः स्वविनियोग-तदभावाभ्यां वैलक्षण्यं प्रदर्श्य भगवदनिवेदितेन निर्वाहं निषिध्य भगवन्निवेदित-पदार्थेन भगवदुपभुक्तशिष्टेन प्रसादतया प्राप्तेन निर्वाहः कार्यः इति सिद्धान्तितम्.

एवं फक्किकाक्रमे सर्वोऽपि ग्रन्थः सङ्गतो भवति. तथाच सिद्धम् एतत् : द्विजस्य वैदिके कर्मणि गायत्र्युपदेशजसं-स्कारवद् इति फक्किकायाः अग्रे निवेदितानाम् अर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्दत्तप्रसादत्वेन स्वोपभोग-कृतिः उचिततरा, दासधर्मत्वाद्, ''उच्छिष्टभोजिनो दासाः'' इत्यादिवाक्यैः, आत्मशोधकत्वात् च इत्यन्तो ग्रन्थो ज्ञेयः. एतदग्रे अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षणएव तन्निवेदने कृते अग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः. अपरञ्च, दानेहि न स्वविनियोगः नतु निवेदने. अन्यथा निवेदितान्नादेः भोजनं न स्यात्. अनिवेदितस्य निषिद्धत्वात् इत्यन्तो ग्रन्थो अस्ति. तदग्रे किन्तु प्रभौ निवेदितार्थविनियोगे जाते अग्रे तदर्थं यत्नः कार्यो नवा इति भवति चिन्ता इत्यादिरूपो ग्रन्थो अस्तीति सर्वम् अनवद्यम्.

किञ्च अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षणएव इति फक्किकायां ननु ''दारपरिग्रहानन्तरं निवेदने अग्रे स्वस्य दारभोगाभावप्रसक्त्या परिग्रहवैयर्थ्यं'' यद् उक्तं तत् न सम्भवति, दारैः भगवत्सेवाकारणे परिग्रहसार्थकत्वेन दारभोगं विनाऽपि वैयर्थ्याभावात्!

अत्र उच्यते. ''दारान् सुतान् गृहान् प्राणान्'' (भाग.पुरा.११।३।२८) इति वाक्ये निवेदनीयपदार्थेषु सुतग्रहणात् सुतोत्पादनस्य आवश्यकत्वेन स्वदारभोगस्य भक्तिशास्त्रानुमतत्वात् तदभावे परिग्रहवैयर्थ्यम् इति ज्ञेयम्. अतएव ''पुत्रे कृष्णप्रिये रतिः'' (निरो.लक्ष.१८) इति निरोधलक्षणग्रन्थे कृष्णप्रिपुत्रोत्पादनार्थं रतिः कर्त्तव्या इति उक्तम्. एतच्च यथा तथा अस्मिन्नेव निर्णयार्णवग्रन्थे पूर्वतरङ्गे सम्यग् उपपादितम् अस्ति.

[६. 'हरिप्रियकलिन्दया' (श्रीयमु.अष्ट.५) इति कारिकोक्त-'कलिन्द'पद-तात्पर्यनिर्णयः]

श्रीयमुनाष्टके—

हरिप्रियकलिन्दया मनसि मे सदा स्थीयताम्.
(श्रीयमु.अष्ट.५) इति.

''कलिन्दं याति'' इति कलिन्दयाः. तत्सम्बोधनं हे कलिन्दया! अग्रे मकारो अस्ति अतो विसर्गाभावात् रोः यत्वे कृते ''लोपः शाकल्यस्य'' (पाणि.सू.८।३।१९) इति यकारलोपः. तथाच हे हरिप्रियकलिन्दया! मे मनसि स्थीयताम् इति अन्वयः. यमुनाहि सूर्यमण्डलात् कलिन्दं यातीति कलिन्दयाः भवति.

[७. ''निरोधलीलामुक्त्वाथ...प्रश्नः पूर्वविनिश्चितः'' (सुबो.कारि.११।१।१-।१-१४) इति सार्धत्रयोदशकारिकाव्याख्यानम्]

एकादशस्कन्धार्थनिरूपणकारिकाः सुबोधिनीतो भिन्नतयैव उपलभ्यमानाः सन्ति.

अथ एतासां व्याख्या*

निरोधलीलामुक्त्वाऽथ मुक्तिस्तदनुवर्ण्यते॥
मुक्तानामाश्रयः कृष्णो नान्येषामिति शास्त्रतः॥१॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः निरोधस्यैव परमफलप्रापकत्वेन अग्रिमलीलयोः वैयर्थ्यम् आशङ्क्य उभयोः सार्थकत्वाय प्रयोजनं वर्णयन्तः उक्तविवक्षितयोः सङ्गतिम् आहुः **निरोधलीलामुक्त्वा** इत्यादिना. **निरोधलीलाम्** इति, स्वशक्तिभिः सह प्रपञ्चे भगवत्कर्तृकक्रीडया त्रिविधजीवानां प्रपञ्चविस्मरणरूपाम् इति अर्थः. **तदनुवर्ण्यते** इति, तदनुसारिणी मुक्तिः निरूप्यते इति अर्थः. इह **उक्त्वा** इति 'क्त्वा' प्रत्ययेन आनन्तर्यं प्राप्तम् अतः **तदनुवर्ण्यते** इत्यस्य तदनुसारी मोक्षो निरूप्यते इति अर्थो ज्ञेयः. "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशद्" (तैत्ति.उप.२।६) इति श्रुतौ 'क्त्वा' प्रत्ययेन आनन्तर्यसिद्धौ 'अनुप्राविशद्' इति 'अनु' उपसर्गस्य न आनन्तर्यम् अर्थः किन्तु अनुप्रवेशः कश्चित् पदार्थविशेषएव इति जन्मप्रकरणसुबोधिन्यां स्थितम्. तद्वद् इह 'अनु'उपसर्गस्य न आनन्तर्यम् अर्थः किन्तु आनुगुण्यम् अर्थ. निरोधानुगुण्यन्तु यादृशो मर्यादापुष्टिभेदेन द्विविधो निरोधः तादृशी द्विविधा मुक्तिः इति. ततः आश्रयः. निरोधलीलायां निरुद्धैः भक्तैः यादृग्भगवत्सुखम् अनुभूतं तादृगेव आश्रयप्राप्तौ अनुभूयते. अतो निरोधस्य आश्रयतुल्यत्वम्. परम् एतावन् विशेषः : निरोधलीलायां सुखं परिच्छिन्नं, प्रपञ्चे जायमानत्वात्. अतएव यावत्यो रात्रयो वरत्वेन दत्ताः तावतीष्वेव फलप्रकरणे रमणम्. आश्रयलीलायान्तु तदेव सुखम् अपरिच्छिन्नम्. व्यापिवैकुण्ठाधिकरणके आधिदैविकवृन्दावने प्रपञ्चातीते कालाद्यनधीने जायमानत्वात्. आश्रयप्राप्तिस्तु न मुक्तिं विना भवतीति मुक्तिः निरूप्यते इति अर्थः. एवं निरोधमुक्त्योः निरूपणे सङ्गतिम् उक्त्वा मुक्त्याश्रययोः निरूपणे सङ्गतिम् आहुः **मुक्तानाम् आश्रयः कृष्णः** इति, यतो "मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाद्" (ब्र.सू.१।३।२) इति न्यायेन मुक्तमात्रप्राप्यो

*ग्रन्थकर्त्रातु इह आरम्भएव सर्वाअपि कारिकाः उपन्यस्य पश्चात् तासां व्याख्या व्यधायि. तेन अत्र अध्येतॄणाम् असौकर्यं मा भूदिति तत्तद्व्याख्यांशोपरि योजिताः इमाः मयेति सुधिभिः विभावनीयम्.

भगवान् अतो मुक्तिं निरूप्य आश्रयो निरूप्यते इति अर्थः. स आश्रयः कः? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **आश्रयः कृष्णः** इति, "**आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते, स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते**" (भाग.पुरा.२।१०।७) इति शुकवाक्यात् परब्रह्मणः आश्रयत्वम्. परब्रह्मत्वम् कस्य? इति आकाङ्क्षायाम् कृष्णस्य इति बोध्यं, "**'कृषि'र्भूवाचकः शब्दो 'ण'श्च निर्वृतिवाचकः, तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते**" (गोपा.पू.ता.उप.१) इति गोपालतापिनीसमारम्भश्रुतेः, "**येषां गृहानावसतीति साक्षात् गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्**" (भाग.पुरा.७।१५।७५) इति श्रीभागवतवाक्यात् च. **न अन्येषाम्** इति, अन्येषां अमुक्तानाम् इति अर्थः. अमुक्तैः आश्रयत्वेन भगवान् न प्राप्यते अतः पूर्वं मुक्तिः अपेक्षिता. *ननु कस्यचिद् भक्तस्य मुक्तिं विनापि भगवत्प्राप्तिः स्मर्यते तत् कथं सेत्स्यति?* इति आशङ्क्य आहुः **शास्त्रतः** इति, शास्त्रतस्तु एवमेव व्यवस्था. प्रमेयबलेन मुक्तिं विनापि भगवत्प्राप्तिः भवति. सा नः केनापि निवार्या इति भावः॥१॥

अनन्यत्वं तदा सिद्ध्येत् नत्वध्यासे मनागपि॥
प्रपञ्चविस्मृतिः कृष्णासक्तिश्चाध्याससम्भवे॥२॥

ननु मुक्त्यैव चारितार्थ्ये निरोधस्य किं प्रयोजनम्? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **अनन्यत्वं तदा** इत्यादि, यतो मनागपि अध्यासे अनन्यत्वं न सिद्ध्यति. अतो यदा अध्यासस्य दौर्बल्यं तदा अनन्यत्वं सिद्ध्यति. अतो अध्यासदुर्बलीकरणेन अनन्यत्वसिद्ध्यर्थं निरोधो अपेक्षितः. किञ्च प्रपञ्चविस्मृतिः कृष्णासक्तिश्च अध्याससम्भवे भवति नतु अध्यासनाशे. तथा सति अनन्यत्वसिद्ध्यर्थम् अध्यासनाशो अपेक्षितः. प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्त्यर्थं देहाध्यासो अपेक्षितः इति उभयोः सिद्ध्यर्थम् अध्यासशैथिल्यं साधु इति बोध्यम्. अध्यास-तदभावयोः एकत्र सत्ता दुर्लभेति देहाध्यासो निवृत्तकल्पो यथा भवेत् तथा यतनीयम्. तत्प्रकारश्च निरोधलक्षणग्रन्थे उक्तः "तदध्यासोऽपि सिद्ध्यति" (निरो.लक्ष.१४) इत्यारभ्य "शेषभावं तनौ नयेद्" (निरो.लक्ष.१८) इत्यन्तेन, अनेन प्रकारेण इन्द्रियाणां

भगवत्सम्बन्धिविषयग्राहकीकरणात् कृष्णसेवोपयोगाद् अध्यासः सिद्ध्यति फलसाधको भवति इति अर्थः. अतएव अनुपदं वदिष्यन्ति शिथिलाध्यासो निरोधेन भविष्यति इति, अध्यासस्य शैथिल्यमात्रम् अपेक्षितं, भगवदीयकार्योपयोगितया तत्र ममतास्पदता नतु पृथक् स्वोपकारकर्तृत्वेन[3] इति फलितो अर्थः. इदमेव उक्तं व्रजसुन्दरीभिः "जयति तेऽधिकं जन्मना व्रज" (भाग.पुरा.१०।२८।१) इति श्लोके "त्वयि धृतासवः त्वां विचिन्वते" (भाग.पुरा.१०।२८।१) इति. त्वयि त्वदर्थमेव प्राणानां धारणम् इति तदर्थात्. अतो निरोधे अध्यासशैथिल्यं मुक्तौतु अध्यासनाशः इति विशेषः॥२॥

भजनानन्दसिद्ध्यर्थं द्विरूपत्वमपीष्यते॥
एकत्वे शिथिलाध्यासो निरोधेन भविष्यति॥३॥

ननु तर्हि मुक्तौ अद्वैतस्फूर्त्या भजनानन्दानुभवो न भविष्यति इति आशङ्क्य आहुः भजनान्दसिद्ध्यर्थं द्विरूपत्वमपीष्यते एकत्वे इति, एकत्वे भेदाभावेऽपि भजनानन्दसिद्ध्यर्थं द्विरूपत्वमपि इष्यते, एकस्यैव भगवतो लीलापरिकररूपत्वात्. तथाच पुरुषोत्तमएव स्वाभिन्नैः भक्तैः सह क्रीडां करोतीति अनेकरूपैः लीलापि स्वच्छन्दतया सिद्ध्यति भक्तानां भजनानन्दानुभवः च निराबाधः. एवञ्च अन्योन्याभावरहितस्य व्यक्तिबहुत्वस्य सिद्धान्ते स्वीकाराद् अभेदो भजनानन्दानुभवः च इति द्वयं सिद्ध्यति इति तात्पर्यम्॥३॥

नाशो ज्ञानेन मुक्तस्य सम्यगाश्रयसिद्धये॥
अवतारवदेवात्र निरूपणमपीष्यते॥४॥
यथाधिकारबोधाय सर्वा लीलाः फलावधि॥
मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः॥५॥

मुक्तौतु अध्यासनाशएव इति आहुः नाशो ज्ञानेन इति. प्रयोजनम् आहुः मुक्तस्य सम्यगाश्रयसिद्धये इति, आश्रयप्राप्तौहि दोषाः प्रतिबन्धकाः

मुक्तौतु सकलदोषनिवृत्तिः अतो मुक्तानां सम्यगाश्रयसिद्धिः युक्तैव इति भावः. अवतारवदेव अत्र निरूपणमपि इष्यते यथाधिकारबोधाय इति, तामसादिक्रमेण यथाधिकारबोधाय यद् अस्मिन् भक्तिशास्त्रे भगवच्चरित्रादिनिरूपणं तद् अवतारवद् इष्यते. अवतारो यथा मुक्तिप्रदः तथा भगवच्चरित्रमपि मुक्तिदायकत्वेन इष्यते, "आच्छिद्य कीर्तिं सुश्लोक्यां वितत्या ह्यञ्जसा नु कौ, तमोऽनया तरिष्यन्तीत्यगात्स्वं पदमीश्वरः" (भाग.पुरा.११।१।७) इति वाक्याद्, अत्र इति शब्देन, स्वकीर्तेः उद्धारकत्वं ज्ञात्वा नैश्चिन्त्यं प्राप्तो भगवान् स्वधाम गतवान् इति अर्थो लभ्यते; अतो, अवतारवदेव अत्र निरूपणमपि इति उक्तिः समीचीनैव, "कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह, कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनादितः" (भाग.पुरा.१।३।४३) इति वाक्यात् च. अतो यथा रूपं मोचकं तथा नामापि मोचकम् इति उभयोः तौल्यं प्रतिपादितम्. निबन्धेऽपि उक्तम् "भगवान् वा भागवतं वा नान्यो मोक्षदानसमर्थः" (त.दी.नि.प्र. । ।) इति. सर्वा लीलाः फलावधि इति, सर्वाः सर्गादिनिरोधान्ताः लीलाः फलावधि मोक्षावधि इति अर्थः. जीवानां मुक्तिपर्यन्तं भगवान् लीलां करोति. दशमः आश्रयस्तु भगवानेवेति नवैव लीलाः, "दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्" (भाग.पुरा.२।१०।२) इति शुकवाक्यात्. अतः परं मुक्तिं लक्षयितुं शुकोक्तलक्षणमेव उपन्यस्यन्ति "मुक्तिर्हित्वा" (भाग.पुरा.२।१०।६) इत्यादि. अन्यथारूपम् इति, अन्यथारूपं मायाप्रेरिताविद्याजन्य-देहाद्यध्यासकृत-दुःखित्वादिरूपं त्यक्त्वा स्वरूपेण भगवदभिन्नांश-निर्दोष-भगवत्सेवक-रूपेण या स्थितिः सा मुक्तिः इति अर्थः॥४॥५॥

लीला भगवतः सेयमाश्रयो भगवानतः॥
विषयाः सात्त्विका जीवा निर्गुणाश्च द्विरूपतः॥६॥

ननु मुक्तिर्हि जीवानां भवतीति जीवधर्मत्वात् कथं भगवल्लीला इति उच्यते? इति आशङ्क्य न इदं जीवकृतिसाध्यं किन्तु भगवत्कार्य्यं, "तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागराद्" (भग.गीता.१२।७) इत्यादिवाक्यैः

पराश्रयमोक्षस्वीकाराद् इति आहुः **लीला भगवतः सेयम्** इति, इयं **मुक्तिलीला भगवतः** भगवत्कर्तृका इति अर्थः. **आश्रयो भगवानतः** इति, यतो मुक्त्यन्ता लीला भगवतो अतो नवलीलाश्रयत्वाद् 'आश्रय'शब्दवाच्यो भगवानेव इति अर्थः. केषाम् अधिकारिणां मुक्तिः? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **विषयाः सात्त्विका जीवा निर्गुणाश्च** इति, सात्त्विकानां निर्गुणानां च मुक्तिः इति अर्थः. तत्र हेतुः **द्विरूपतः** इति, मोक्षस्य सायुज्य-ब्रह्मभाव-भेदेन द्विरूपत्वाद् इति अर्थः ॥६॥

वसुदेवोद्धवौ तत्र विषयौ सत्त्वनिर्गुणौ ॥
अन्यथारूपमीशस्य माययेति हरेः कृपा ॥७॥
यैर्धर्मैस्ते हि वक्तव्या अन्यथारूपनाशकाः ॥
भक्ताएव हि तज्ज्ञाः स्युः सार्वज्ञ्यं केवलं हरौ ॥८॥

वसुदेवोद्धवौ तत्र विषयौ सत्त्वनिर्गुणौ श्रीवसुदेवस्य सायुज्यम् उद्धवस्य ब्रह्मभावः इति ज्ञेयम्. *ननु "मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः" (भाग.पुरा.२।१०।६) इति लक्षणे अन्यथारूपस्य त्यागः उक्तः, तत्र कथं त्यागप्रतियोग्यन्यथारूपप्राप्तिः?* इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **अन्यथारूपमीशस्य मायया** इति, ईशस्य वस्तुतो भगवदभिन्नांशस्य जीवस्य **अन्यथारूपं मायया** भवति इति अर्थः. ईशस्य भगवतो मायया अन्यथारूपम् जीवस्य भवति इति वा. अस्मिन् पक्षे 'ईश' पदस्य 'माया' पदेन सम्बन्धः, पूर्वोक्तपक्षेतु **'अन्यथारूपम्'** इत्यनेन सम्बन्धः. मायाप्रेरिता अविद्या भगवच्छक्तिः भगवदंशभूते जीवे देहाध्यासम् उत्पाद्य दुःखित्वादिरूपं सम्पादयति अतो माययैव अन्यथारूपं दुःखित्वादिकं भवति, न वस्तुतः. अतएव संसारित्वम् औपाधिकम्, "अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिः न निवर्तते" (भाग.पुरा.३।२७।४) इति वाक्यात्. **हरेः कृपा** इति, **हरेः कृपा यैः धर्मैः तेहि वक्तव्याः** इति अग्रिमेण अन्वयः. भगवत्कृपाहेतुभूताः धर्माः भगवद्धर्माः श्रवणादयो नवयोगिभिः उक्ताः अतएव भगवद्धर्मैः भगवत्कृपा सिद्ध्यति. भगवत्कृपया मोक्षो भवति. तथाच मायया अन्यथारूपप्राप्तिः

भगवत्कृपया स्वस्वरूपप्राप्तिः[४] इति सिद्धम्. भगवद्धर्माणां कार्यम् आहुः **अन्यथारूपनाशकाः** इति, अन्यथारूपस्य दुःखित्वादिरूपस्य नाशकाः भगवच्छ्रवणकीर्तनादयः इति अर्थः. तेच भगवद्धर्माः भगवदीयैकज्ञेयाः इति आहुः **भक्ताएव हि तज्ज्ञाः स्युः** इति. अतएव "मन्ये भगवतः साक्षात् पार्षदान् वो मधुद्विषः" (भाग.पुरा.११।२।२८) इति वाक्याद् भगवदीयाएव नवयोगिनः उपदेष्टारो निरूपिताः नारदः च परमभागवतो वक्ता वर्णितः. *ननु भगवद्धर्ममात्रं भगवल्लीलामात्रं च सायुज्यप्रकरणे नवयोगिभिः उक्तम्. ब्रह्मभावप्रकरणइव सर्वपदार्थनिर्णयः कुतो न उक्तः?* इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **सार्वज्ञ्यं केवलं हरौ** इति, ब्रह्मभावप्रकरणेतु साक्षाद् भगवान् वक्ता, सच सर्वज्ञइति सर्वपदार्थनिर्णयम् उक्तवान्, सायुज्यप्रकरणेतु भगवद्भक्ताः वक्तारः तेषां जीवत्वेन सर्वज्ञत्वाभावात् न तत्र प्रकरणे सकलप्रमेयनिर्द्धारः इति भावः ॥७-८॥

स्वरूपेण व्यवस्थातु सार्वज्ञ्येनैव नान्यथा ॥
आज्ञाकृतिर्निर्भयत्वं व्यवाभ्यामुच्यते स्फुटम् ॥९॥

एवं "मुक्तिर्हित्वान्यथारूपम्" (भाग.पुरा.२।१०।६) इति मुक्तिलक्षणे उक्तस्य अन्यथारूपस्य मायया उत्पत्तिं भगवच्छ्रवणादिधर्मजन्यभगवत्कृपया अन्यथारूपनिवृत्तिं च उक्त्वा स्वरूपेण व्यवस्थितिः इत्यनेन उक्तां स्वरूपव्यवस्थितिं निरूपयन्ति **स्वरूपेण व्यवस्थातु सार्वज्ञ्येनैव नान्यथा** इति, "यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः" (मुण्ड.उप.१।९) इति श्रुतेः सार्वज्ञ्यस्य भगवद्धर्मत्वात् तत्प्राप्तिः स्वरूपस्थितिः इति अर्थः. उपलक्षणञ्च एतद् अन्येऽपि भगवद्धर्माः निर्भयत्वादयः समायान्ति. एवञ्च मायिकसकलधर्म-निवृत्तिपूर्वक-भगवद्धर्माविर्भावयुक्ता स्थितिः मुक्तिः इति ज्ञेयम्. *ननु तर्हि भगवद्रूपतासिद्धौ भगवत्सेवनं निवर्तिष्यते* इति आशङ्क्य आहुः **आज्ञाकृतिर्निर्भयत्वं व्यवाभ्याम् उच्यते स्फुटम्** इति, आज्ञाकृतिः भगवदाज्ञाकरणं **निर्भयत्वं** भयाभावः इति उभयं **व्यवाभ्यां** व्यवस्थितिशब्दान्त-र्गताभ्याम् उपसर्गा('वि'-'अवा')भ्याम् उच्यते इति अर्थः. तत्र जीवस्य भगवदंशत्वं

सेवकत्वं च स्वाभाविको धर्मो, अतो धर्मद्वयं मुक्तावपि तिष्ठति. तत्र सेवकत्वधर्मस्य सत्त्वाद् भगवदाज्ञाकरणम् भगवदभेदात् निर्भयत्वं, "द्वितीयाद् वै भयं भवति" (बृह.उप.१।४।२) इति श्रुतेः अभेदे भयाभावात्॥९॥

जीवस्य यादृशं रूपं तेन नित्यं व्यवस्थितिः॥
यदौपनिषदं ज्ञानं प्रेम वा नेह तत्कथा॥१०॥
व्यवस्थाश्रयसिद्धौतु तत् तृतीयेऽपि सूचितम्॥
द्वितीयेऽपि स्फुटं नोक्तं केवलौपनिषत्त्वतः॥११॥

निगमयन्ति जीवस्य इति, जीवस्य मुक्तस्य भगवदाज्ञाकारित्व-भगवदभिन्नत्व-युक्तं यादृशं स्वरूपं तेन या नित्यं व्यवस्थितिः वर्तमानत्वं तद् मुक्तिः इति निष्कर्षो भागवतशास्त्रस्य. *नतु उक्तरूपा मुक्तिः कदा भवति?* इति आकाङ्क्षायाम् आहुः यदौपनिषदं ज्ञानं प्रेम वा इति, उपनिषत्प्रतिपाद्यम् अभेदज्ञानं उपनिषत्प्रतिपाद्यम् आत्मत्वेन यत् प्रेम, एतद् द्वयं यदा भवति तदा मुक्तिः इति ज्ञेयम्. तथाच मुक्तिं प्रति तादृज्ज्ञानत्वेन तादृक्प्रेमत्वेन च कारणता इति ज्ञेयम्. एवं जीवमुक्तिं निरूप्य ब्रह्ममुक्तावपि इदमेव कारणम् इति आशङ्क्य ब्रह्ममुक्तौ पूर्वोक्तं कारणद्वयमपि नास्ति इति आहुः नेह तत्कथा व्यवस्थाश्रयसिद्धौतु इति, व्यवस्थायाः जीवस्य स्वरूपेण व्यवस्थितिरूपायाः मुक्तेः आश्रयो भगवान् तस्य सिद्धौ मुक्तौ...... (?इह अक्षराणां दुर्वाच्यता) औपनिषदज्ञानस्य प्रेम्णः च कारणत्वेन कथा नास्ति इति अर्थः. 'सिद्धि'शब्दो अत्र मुक्तिवाची, ब्रह्ममुक्तौ औपनिषदं ज्ञानं उपनिषदुक्तं प्रेम च न कारणं किन्तु तन्मुक्तौ केवलं नाट्यत्यागमात्रम् अपेक्षितम् इति. तत्र भगवदिच्छामात्रं कारणं न साधनान्तरापेक्षा इति भावो, "ब्रह्ममुक्तिर्निजेच्छातः" (सुबो.कारि.११।१।०।८) इति एकादशस्कन्ध-प्रथमाध्यायार्थनिरूपकसुबोधिन्याः. तत् तृतीयेऽपि सूचितम् इति, तद् औपनिषदं ज्ञानम् औपनिषदं प्रेम च तृतीयस्कन्धे मुक्तिकारणत्वेन सूचितम्-एव नतु स्फुटं निरूपितम् इति अर्थः, औपनिषदज्ञानस्य केवलम् अद्वैतरूपत्वात्. अतो मैत्रेयेण "भगवानेक आसेदम्" (भाग.पुरा.३।५।२३) इत्यारभ्य शुद्धम्

उपनिषत्प्रतिपाद्यं ज्ञानम् उपदिश्य तत्र विदुराधिकारम् अदृष्ट्वा सगुणप्रकरणे सगुणज्ञानमेव सविस्तरम् उक्तम्. एवं कपिलेन "मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ, लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्" (भाग.पुरा.३।२-९।११) इत्यारभ्य प्रेम निरूपितमपि न निरूपितम्, उदाहरणाकथनात्. अतः तृतीयस्कन्धे तादृशज्ञानप्रेम्णोः न सम्यक्तया निरूपणम् अस्ति. मैत्रेयकपिलदेवावपि वक्तारौ न स्फुटम् ऊचतुः, तादृशम् अन्यो जीवः कथं वदेत्! सार्वज्ञ्याभावात्. सार्वज्ञ्यस्य केवलभगवद्धर्मत्वं पूर्वं निरूपितमेव. किञ्च यत्र साक्षात् पुरुषोत्तमो ब्रह्माणं प्रति उपदिष्टवान् तत्रापि "ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितं, सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया" (भाग.पुरा.२।९।३०) इत्यनेन 'रहस्यं'पदेन तत्प्रेम सूचितं, 'गृहाण' इति पदेन वरत्वेन दत्तं च, नतु स्फुटतया वर्णितं, येन सर्वेषां ज्ञानविषयः स्याद् इति आहुः द्वितीयेऽपि स्फुटं न उक्तम् इति, तत्र हेतुः केवलौपनिषत्त्वतः इति, तादृशज्ञानप्रेम्णोः उपनिषदेकप्रतिपाद्यत्वाद् इति अर्थः. उपनिषत्सु प्रकारद्वयेन ब्रह्मनिरूपणम् अस्ति : "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" (तैत्ति.उप.३।१।) इत्यादिभिः जगज्जन्मादिकारणत्वेन "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिवीम् अन्तरो यमयति" (बृह.उप.३।७।३) इत्यारभ्य "एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः" (बृह.उप.३।७।२) इत्यादिना आत्मत्वेन. तत्र जगज्जन्मादिकारणत्वादिना माहात्म्यं—आत्मत्वेन निरुपधिस्नेहविषयत्वम् उक्तम्. तथा सति "माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः, स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस् तया मुक्तिर् नचान्यथा" (नार.पञ्च.)इति तन्त्रोक्तलक्षणा प्रेमभक्तिरेव उपनिषदां तात्पर्यविषयः इति सिद्धं, "भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया, तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन्यतो भवेत्" (भाग.पुरा.२।२।३४) इति द्वितीयस्कन्धे शुकवाक्यात्. एतच्च तत्त्वदीपे शास्त्रार्थप्रकरणे स्फुटम्॥१०-११॥

अतः सर्वज्ञतासिद्ध्यै सर्वनिर्णयमुक्तवान्॥
आदिमध्यावसानेषु मुख्यलीलोच्यते हरेः॥१२॥
हेतूद्यमफलैर्द्वेधा सामग्री नाट्यतः फलम्॥

अतस्तु प्रथमेऽध्याये लीला भगवतोच्यते ॥१३॥
हेतुरूपा ससामान्या प्रश्नः पूर्वविनिश्चितः॥

तथाच तादृशम् औपनिषदम् अद्वैतं प्रेम उदाहरणप्रदर्शनपूर्वकं तृतीये द्वितीये च न प्रतिपादितम्. इह एकादशेतु उदाहरणप्रदर्शनपूर्वकम् उक्तमिति एकादशप्रसङ्गः सर्वोत्कृष्टः इति आहुः **अतः सर्वज्ञतासिद्ध्यै सर्वनिर्णयमुक्तवान्** इति, यतः तयोः औपनिषदज्ञानप्रेम्णोः उदाहरणपूर्वकं निरूपणं न अस्ति **अतो** हेतोः उद्धवस्य **सर्वज्ञतासिद्ध्यै सर्वनिर्णयं** भगवान् श्रीकृष्णः **उक्तवान्**. सर्वस्य निरुपधिप्रेम्णः तदधिकारिणां तत्साधनस्य च **निर्णयम्** इति अर्थः. तत्र "सुगोप्यमपि वक्ष्यामि" (भाग.पुरा.११।११।४९) इति महतीं प्रतिज्ञां कृत्वा "न रोधयति मां योगः" (भाग.पुरा.११।१२।१) इत्यादिना स्ववशीकरणे साधनान्तराणि निरस्य "केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो खगा मृगाः, येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा" (भाग.पुरा.११।१२।८) इत्यनेन केवलभावेन तादृशप्रेम्णा गोपिकादीनां भगवद्वशीकरणरूपा स्वप्राप्तिः उक्ता. अत्र 'भाव' पदेन उक्तः प्रेमा औपनिषदएव इति बोध्यं, "मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनां याहि सर्वमात्मभावेन..." (भाग.पुरा.११।१२।१५) इत्यत्र आत्मत्वेन निर्देशात्. एवम् अत्र औपनिषदं प्रेम उक्तम्. तदधिकारिणो गोपिकादयो निरूपिताः. एवम् उदाहरणपूर्वकम् औपनिषदं प्रेम उद्धवाय उपदिष्टम्. अतएव उद्धवः सर्वज्ञो बभूव, "नोद्धवोण्वपि मन्न्यूनः" (भाग.पुरा.३।४।३१)इति वाक्यात्. उद्धवे एतादृशानुग्रहस्तु व्रजसुन्दरीणाम् अनुग्रहाद् अभूद् इति ज्ञेयम्. **आदिमध्यावसानेषु** इति, आदिप्रकरणं सायुज्यप्रकरणं, नारदवसुदेवयोः मध्यमं प्रकरणं, ब्रह्मभावरूपं श्रीकृष्णोद्धवयोः, अवसाने, ब्रह्ममुक्तिप्रकरणं नाटच्यत्यागात्मकम्. एवं आदिमध्यावसानेषु मुख्यलीला मुक्तिलीला उच्यते इति अर्थः. **हेतूद्यमफलैः** इति, यथाक्रमं त्रिषु प्रकरणेषु ज्ञेयम्. आदिप्रकरणे शापरूपो हेतुः उक्तो जीवमुक्तौ, नाटच्यत्यागात्मकब्रह्ममुक्तौ च हेतुः. मध्यमे प्रकरणे भगवत्कर्तृको मुक्तिसाधनोद्यमः उक्तः. अवसाने ब्रह्ममुक्तिप्रकरणे नाटच्यत्यागात्मिका मुक्तिः फलरूपा निरूपिता. एवं हेतूद्यमफलैः मुक्तिलीला निरूप्यते इति अर्थः.

सायुज्य-ब्रह्मभाव-नाट्च्यत्याग-निरूपकेषु प्रकरणत्रयेषु मुक्तिः निरूपिता. तत्र प्रकारम् आहुः **द्वेधा सामग्री** इति, ब्रह्मभावप्रकरणे सायुज्यप्रकरणे च मुक्तिसामग्री [१]कर्म-[२]ज्ञान-[३]मर्यादाभक्ति-[४]पुष्टिभक्ति-[५]योग-[६]पूजा-[७]वैराग्यादिरूपा निरूपिता. एवं मुक्तिनिरूपणं प्रकरणद्वये. अतो मुक्तिसामग्री द्वेधा इति अर्थः. **नाट्च्यतः फलम्** इति, त्रिंशैकत्रिंशाध्याययोस्तु भगवतो भगवदीयानां च नाट्च्यत्यागं प्रदर्श्य मुक्तिरूपं फलं निरूपितम्. **नाट्च्यतः** इत्यत्र तृतीयार्थे 'तसिल्'. तथाच नाट्च्येन फलं प्रदर्शितम् इति शेषः. एवं सायुज्यब्रह्मभावप्रकरणे मुक्तेः साधनं निरूपितं नारदश्रीकृष्णाभ्याम्, अवसानेतु मुक्तिः साक्षात् प्रदर्शिता इति विवेकः. **अतस्तु** इति, यतः पूर्वोक्तप्रकारेण त्रिधा मुक्तिलीला अतो हेतोः प्रथमाध्याये भगवता लीला भगवत्कर्तृका शापदानरूपा मुक्तिलीला उच्यते. "शापव्याजेन विप्राणां संजहे स्वकुलं विभुः" (भाग.पुरा.११।१।५) इति वाक्यात्. एवं सति शापदानम् आरभ्य वसुदेवनारदसंवादे उद्धवोपदेशो नाट्च्यत्यागः च इति सर्वं भगवत्कृतमेवेति मुक्तिलीला इयं श्रीकृष्णस्य इति बोद्धव्यम्. **लीला भगवतोच्यते** इत्यत्र हेतौ तृतीया. तत्रच भगवत्कर्तृकैव सर्वा शापदानादिनाट्च्यत्यागान्ता मुक्तिलीला इति सिद्ध्यति. शापदानस्यहि कथं भगवल्लीलात्वम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **हेतुरूपा** इति, शापदानलीलाहि मुक्तिलीलायां हेतुरूपा अतो भगवल्लीला इति अर्थः. **ससामान्या** इति, सामान्यं भूभारहरणं—स्वकुलहरणं विशेषो, भूभारहरणमध्ये यादवकुलहरणस्य प्रविष्टत्वात्. अतः सामान्यरूपभूभारहरणसहिता शापदानलीला प्रथमाध्याये निरूपिता इति अर्थः. **प्रश्नः पूर्वविनिश्चितः** इति, पूर्वं दशमस्कन्धारम्भे "अवतीर्य यदोर्वंशे भगवान् भूतभावन" (भाग.पुरा.१०।१।३) इत्यत्र उक्तः प्रश्नएव एकादशस्कन्धलीलाकथने प्रयोजकत्वेन निश्चितः. तत्प्रश्नस्यैव इदमपि उत्तरम् इति भावः. अतएव उक्तं दशमसुबोधिन्यारम्भे "प्रश्नोऽप्यत्राधिकः प्रोक्तः स्कन्धद्वितयवर्तनः" (सुबो.कारि.१०।१।१०।२६) इति. अतः "अवतीर्य यदोर्वंशे भगवान् भूतभावनः, कृतवान् यानि विश्वात्मा तानि नो वद विस्तराद्" (भाग.पुरा.१०।१।३) इत्यत्र कृष्णावतारलीला विस्तरेण वक्तव्या इति परीक्षितो हार्दात् स्कन्धद्वयकथाः तत्प्रश्नोत्तरत्वेनैव सविस्तरं श्रीशुकेन निरूपिताः. मध्ये प्रश्नास्तु बहवः सन्ति तेषाम् उत्तरन्तु कतिपयवाक्यैरेव दत्तम्. अतो मुख्यः

प्रश्नस्तु दशमारम्भे कृतः तस्य उत्तररूपाः सर्वाः कृष्णकथा इति निखिलम् अनवद्यम्॥१२-१३॥

॥ इति एकादशस्कन्धार्थ-निरूपक-स्वतन्त्र-त्रयोदशकारिका-व्याख्या॥

[८. ''सविशेष-निर्विशेष...धर्मयुक्तं ब्रह्म इति सिद्धम्'' (विद्व.मण्ड.)इति फक्किकोक्तोपपत्तिनिर्णयः]

विद्वन्मण्डने-

तथाच सविशेषनिर्विशेषनिरूपकयोः श्रुत्योः विरोधाभावात् प्रापञ्चिकधर्मरहितं सहजानन्तधर्मयुक्तं ब्रह्म इति सिद्धम्.

इति.

अत्र कश्चिद् : **वस्तुतो ब्रह्मणि धर्माः न सन्ति किन्तु मायाकल्पिताः श्रुत्या बोध्यन्ते, शुद्धस्य ब्रह्मणो ज्ञानसिद्ध्यर्थम्. अतः श्रुत्युक्तधर्माणाम् उपलक्षकत्वमेव नतु तादृग्धर्मयुक्तं ब्रह्म; यथा[५], ''काकवन्तो देवदत्तस्य गृहा''इत्यादौ काकवत्त्वस्य उपलक्षकत्वमेव नतु गृहेषु सर्वदा काकवत्त्वम् अस्ति. नवा ज्ञातेषु देवदत्तगृहेषु पुनः काकवत्त्वस्य अपेक्षा अस्ति. तथा इह ब्रह्मण्यपि जगत्कर्तृत्वादेः उपलक्षकत्वमेव, नतु सर्वदा विद्यमानत्वं धर्माणां, नवा शुद्धब्रह्मज्ञानानन्तरं पुनः जगत्कर्तृत्वाद्यपेक्षा अस्ति. अतो निरस्तनिखिलधर्मं ब्रह्म** इति आह.

न एतद् युक्तं, दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः अत्यन्तं वैषम्यात्. तथाहि ''काकवन्तो देवदत्तस्य गृहाः'' इत्यादौ काकवत्त्वस्य वास्तवत्वाद् उपलक्षकत्वम् अबाधितं — प्रकृतेतु जगत्कर्तृत्वादेः भवन्मते मायिकत्वेन मिथ्यात्वाङ्गीकाराद् उपलक्षकत्वं दुरुपपादमेव, बुध्यारोपितस्य कर्तृत्वादेः शुद्धस्वरूपज्ञापकत्वम् असमञ्जसं, कस्यामपि अवस्थायां काकवत्त्वसाम्यस्य जगत्कर्तृत्वादौ वक्तुम् अशक्यत्वात्. जगत्कर्तृत्वादेः भवन्मते मायारोपितत्वेन अवास्तवत्वाङ्गीकारात्. अतो दृष्टान्तवैषम्याद् भवदुक्तरीतिः न विद्वदादरणीया. अपिच श्रुतिसिद्धानाम्

अनन्तकल्याणगुणानां कल्पितत्वकथने तेषां ब्रह्मणि अभावाद् धर्ममात्राहित्येन अकिञ्चित्करत्वापत्तौ हेयत्वापातो, अज्ञेयत्वाद् अप्राप्यत्वाद् अफलत्वात् अनुत्कृष्टत्वात्[६] च. नहि सकलशोभनगुणराहित्ये उत्कर्षः सिद्ध्यति, उत्कर्षसाधकस्य अभावात्. अतः क्लिष्टकल्पनया उत्कर्षं साधयन्तोहि अनुत्कर्षसाधकाः भवन्ति.

यदपि आहुः : मनसा ध्यातस्य सर्वस्यैव कल्पितत्वाद् भगवदाकारादिचिन्तनमपि अज्ञानकार्यम् इति. तत् तुच्छं, निर्गुणत्वेन चिन्तनस्यापि मनःसाध्यत्वेन अज्ञानकार्यत्वापत्तेः. अज्ञानावस्थायां कल्पितधर्माधारं वस्तुतो निर्विशेषम् इत्यादिरूपचिन्तनमपि मनसैव भाव्यं नतु नासिकादिभिः. तथा सति निर्गुणत्वस्यापि मनःकल्पितत्वेन मायिकत्वं किं न स्यात्? ''श्रुतिसिद्धत्वेन मायिकत्वं न स्याद्'' इति कथनेतु आकारादीनामपि ''सर्वतः पाणिपादान्तम्''[७] (भग.गीता.१३।१३) ''विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुख'' (श्वेता.उप.३।३)इत्यादिश्रुतिसहस्रसिद्धत्वात् सिद्धमेव पारमार्थिकत्वं, ''यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि तत्समः'' (   ) इति न्यायात्. ''मनसा ध्यातमेव च'' (भाग.पुरा.११।२८।-४१) इति एकादशस्कन्धवाक्येतु श्रुत्यादिप्रमाणपराङ्मुखेन मनसा ध्यातस्य कल्पितत्वं तात्पर्यविषयीभूतम्. अन्यथा मनसा ध्यातस्य एतद्वाक्योक्तस्य कल्पितत्वस्यापि कल्पितत्वं स्यात्. अपिच वेदस्य कल्पितत्वे तदुक्तस्य निर्विशेषब्रह्मणोऽपि कल्पितत्वेन मिथ्यात्वं किं न स्यात्? वाचकस्य मिथ्यात्वे वाच्यमिथ्यात्वनियमात्[८] अतः श्रुत्यादिप्रमाणस्य तत्प्रतिपाद्यस्य च पारमार्थिकत्वमेव उरीकार्यं न निर्विशेषाग्रहेण क्लिष्टकल्पनया स्थूलतुषावघातः कर्तव्यः. ''अस्थूलमनणु...'' (बृह.उप.३।८।८) इत्यादिनिषेधस्तु प्रतीतिमात्रप्राप्तानां प्राकृतधर्माणामेव, ''अजरममरम्'' (नृसिं.उ.ता.उप.१।२) इत्यादिश्रौतपदैः जरामरणनिषेधवद् इति दिक्. विशेषतस्तु मया सेवाकौमुद्यां निरूपितमिति ततो अवधेयम्. ततोऽपि अधिकजिज्ञासायां भाष्यनिबन्धविद्वन्मण्डनादयो द्रष्टव्याः इति अलं लेखेन.

[९. श्रीमत्प्रभुचरणाचार्यचरणवचनेषु एकवाक्यतानिर्णयः]

(क. ''वैदिकतान्त्रिक...स मेऽस्तु सर्वस्वम्'' (भ.हं.)इति प्रभुचरणोक्तमङ्गलाच-

भक्तिहंसे—

मन्त्रोपासन-वैदिक-तान्त्रिक-दीक्षार्चनादिविधिभिर्यः।
अस्पृष्टो रमते निजभक्तेषु स मेऽस्तु सर्वस्वम्॥

इह उपपत्तयस्तु[१] तत्रैव भक्तिहंसे भूयस्यो निरूपिताइति न अत्र लिख्यन्ते; परन्तु, कैश्चिद् एतद्ग्रन्थोक्तप्रमेये श्रीमदाचार्यवर्यवचनविरोधः उच्यते, तद् न, प्रथमस्कन्धप्रथमाध्याये "धर्मप्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो" (भाग.पुरा.१।१।२) इत्यस्य सुबोधिन्याम् "असाधारणम् उपासनाकाण्डोत्कर्षम् आह मन्त्रशास्त्रम् उपासनाकाण्डं पञ्चरात्रं च. तत्र मन्त्रशास्त्रे देवता स्वाधीना भवति, परं न ईश्वररूपा. पञ्चरात्रेऽपि मन्त्राधिष्ठानस्वरूपेणैव स्वाधीनता. तथा स्थानाधिष्ठानेष्वपि. साक्षात्पुराणपुरुषस्तु अत्रैव हृदि अवरुध्य..." (सुबो.१।१।२) इति उक्तम्. इह पञ्चरात्रस्य मन्त्रशास्त्रत्वम् उक्त्वा "मन्त्रशास्त्रे देवता स्वाधीना भवति परं न ईश्वररूपा" इति उक्तम्. तेन मन्त्रशास्त्रस्य पुरुषोत्तमपरत्वं निवारितम्. अग्रे "साक्षात्पुराणपुरुषस्तु अत्रैव हृदि अवरुध्य..." इत्यनेन नारदपञ्चरात्रादिनिरूपितप्रकारकोपासनाप्राप्यस्य भागवतप्रतिपादितभक्तिप्राप्येन पुरुषोत्तमेन सह स्फुटएव भेदः प्रतिपादितः. अतः एतच्छ्लोकसुबोधिन्यनुसारेण भक्तिहंसे "**मन्त्रोपासन-वैदिक-तान्त्रिक-दीक्षार्चनादि-विधिभिः यः, अस्पृष्टः**" इति उक्तम्. एवं सति श्रीमदाचार्योक्तेरेव अनुवादः श्रीमत्प्रभुचरणैः कृतइति न कोऽपि विरोधः.

किञ्च सर्वनिर्णये "विश्वासार्थं पुराणेषु पठितं भक्तिहेतुकम्" (त.दी.नि.२।६५) इत्यस्य व्याख्याने "तर्हि पञ्चरात्रवत् स्वतन्त्रता स्याद्" इति आशङ्क्य "तद्धि उपासनाविधायकम्" इति समाहितम्. तेन नारदपञ्चरात्रादेः उपासनाविधायकत्वं नतु भक्तिविधायकत्वम्. तथा सति न तन्त्रोक्तप्रकारकोपासनादिभिः पुरुषोत्तमप्राप्तिः इति सिद्धं, पुरुषोत्तमस्य भक्त्यैकलभ्यत्वाद्, "भक्त्याऽहमेकया ग्राह्य" (भाग.पुरा.११।१४।२१) इति भगवद्वाक्यात्. श्रीभागवतस्यतु "पठितं भक्तिहेतुकम्" (त.दी.नि.२।६५) इति उक्त्या

भक्तिप्रतिपादकत्वेन पुरुषोत्तमप्रापकत्वं निरूपितम्. अतोऽपि तन्त्रोक्तप्रकारेण उपासनायां न पुरुषोत्तमप्राप्तिः इति आचार्यवर्याणां स्फुटएव आशयः. तथाच न विरोधलेशोऽपि. वेदोक्तविधिसिद्धकर्मणामपि पुरुषोत्तमांशरूप-यज्ञात्मकस्वरूप-प्रापकत्वं नतु साक्षात् पुरुषोत्तमप्रापकत्वम् इत्येव आचार्यवर्याणाम् आशयः. निबन्धे सर्वनिर्णयान्तर्गतसेवाप्रकरणे "यस्यैकैकोंऽशः काण्डद्वयेन प्रतिपाद्यते स ज्ञानक्रियोभययुतः सएव फलम्" (त.दी.नि.२।२२०) इति उक्तत्वात्. तृतीयस्कन्धे षड्विंशाध्यायसुबोधिन्यां "विष्णुर्गत्यैव चरणौ" (भाग.पुरा.३।२६।६३) इत्यस्य व्याख्याने "इन्द्रियेण सह प्रविष्टो विष्णुः तावन्मात्रप्रयोजको न अधिकं कार्यं करोति. एवं सर्वत्र ज्ञातव्यम्. मन्त्राधिष्ठातृरूपेष्वपि मर्यादा एषा. पुरुषोत्तमस्तु सर्वं करोति चेत् स सेवितुं शक्यते प्राप्यते वा" (सुबो.३।२६।६३) इति उक्तम्. अत्र मन्त्राधिष्ठातृरूपस्य पुरुषोत्तमेन स्फुटएव भेदः उक्तः. तदनुसारेण भक्तिहंसेऽपि तथा उक्तमिति न दोषः.

एवं सर्वत्रैव श्रीमदाचार्य-श्रीविट्ठलेश्वरोक्तिषु न क्वापि विरोधगन्धोऽपि.

(ख. टिप्पण्यां रहस्यलीलानिरूपणस्य सुबोधिन्यैकवाक्यतानिर्णयः)

यत्तु टिप्पण्यां रहस्यलीलाकथनं तत्तु "स्त्रीभावो गूढः पुष्टिमार्गे तत्त्वम्" (सुबो.१०।१८।५) इत्यादिफक्किकानुवादरूपम्.

(ग. व्रजगोपिकोत्कर्षनिरूपणे उभयोः एकवाक्यतानिर्णयः)

यदपि व्रजसुन्दरीणाम् उत्कर्षप्रतिपादनं तत् "एकादशविधास्तेन तासां वाचो जयन्ति हि"(सुबो.कारि.१०।२६।३१।१) इत्यादिषु आचार्यवर्यैः तासाम् उत्कर्षो निरूपितः तदनुवादरूपम्.

(घ. व्रजस्थानां पक्षपाताविष्करणेऽपि आचार्यवचनैकवाक्यतानिर्णयः)

यदपि व्याख्याने व्रजस्थानां पक्षपातः तदपि "कृष्णाधीनातु मर्यादा

स्वाधीना पुष्टिरुच्यते'' (त.दी.नि.३।५।२६) इत्यादिनिबन्धोक्तोत्कर्षस्यैव निर्वाहकः.

(ङ. श्रीगोकुलाष्टकाचार्यवचनयोः एकवाक्यतानिर्णयः)

श्रीगोकुलाष्टकन्तु ''गोकुलोत्सवमीशानां गोपगोपीगवां हितम्, ज्ञानतः कर्मतश्चैव तामसानां नमाम्यहम्'' (सुबो.कारि.१०।५।३२।१७) इति उत्सवाध्यायकारिकायां ज्ञानतः कर्मतो विविधरमणैः हितकारित्वं निरूपितं तदनुवादरूपम्.

(च. उल्लासग्रन्थाचार्यवचनयोः एकवाक्यतानिर्णयः)

उल्लासग्रन्थस्तु ''नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वताम्'' (भाग.पुरा.२।४।१-४) इति श्लोकसुबोधिन्यां निरूपितस्य रमणस्य प्रपञ्चकर्ता.

(छ. रससर्वस्वग्रन्थाचार्यचरणवचनयोः एकवाक्यतानिर्णयः)

रससर्वस्वग्रन्थस्तु व्रतचर्याध्यायस्थसुबोधिन्यां परोक्षवादेन अलौकिककामदानादि(सुबो.१०।१९।९-१०)कथनस्य, ''रसाकराः जाताः''(सुबो.१०।१९-।२३)इत्यादिकथनस्य, पुंस्त्वरूपबालकैक्यादिकरण(सुबो.१०।१९।८)कथनस्य प्रपञ्चरूपः.

(ज. प्रभुचरणरचिताष्टकस्तोत्र(?)श्रीमदाचार्यचरणवचनयोः एकवाक्यतानिर्णयः)

''नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वताम्'' (भाग.पुरा.२।४।१४) इत्यस्य सुबोधिन्याः ''गमनाभावात् नमनाधिकारः'' (सुबो.२।४।१४) इति उक्त्या परमभक्तानां शुकादीनामपि यद्वस्तुनो दौर्लभ्यं वर्णितं तादृशदुर्लभपरमपुरुषार्थप्राप्तिः दैन्येनैव भवति इति अष्टकस्तोत्रे(?).

(झ. यमुनाष्टपदी-यमुनाष्टकयोः एकवाक्यतानिर्णयः)

[१०]यमुनाष्टपदीतु यमुनाष्टकस्तोत्रे निरूपितं यत् 'सघोषगतिदन्तुरा' इति,

'मुकुन्दरतिवर्धिनी' इति, 'प्रियाभिरिव सेविताम्' इति, ''तरङ्गभुजकङ्कणप्रकटमुक्तिकावालुकानितम्बतटसुन्दरी नमत कृष्णतुर्यप्रियाम्'' इति, ''इयं तव कथाधिका सकलगोपिकासङ्गमस्मरश्रमजलाणुभिः सकलगात्रजैः सङ्गमः'' इति निरूपितस्य रसात्मकप्रियारूपस्य निरूपिका इति[१०].

(ञ. गुप्तरसग्रन्थाचार्यचरणवचनयोः एकवाक्यतानिर्णयः)

चौर्यलीलानिरूपकगुप्तरसग्रन्थे भगवद्भोग्यनवनीतादिवस्तूनां ''रजतमयेऽनतिसूक्ष्मे[११] पात्रे नवनीतम् अतिनवं निहितम्'' (गु.र.६) इत्यादिश्लोकैः स्वामिनीमुखारविन्दस्थरसरूपत्वादिनिरूपणन्तु जन्मोत्सवाध्यायस्थ— ''गन्धो रूपं तथा स्पर्शः कटाक्षभ्रमरोक्तयः, ताभिश्चतुष्टयं ज्ञेयं रसं ज्ञास्यति माधवः'' (सुबो.कारि.१०।५।१०।१६) एतत्कारिकामूलकम्.

एवम् अन्यत्राऽपि श्रीमदाचार्योक्तेरेव अनुसरणं श्रीमद्विठ्ठलेशप्रभुचरणैः कृतमिति न तदुक्तौ क्वापि[१२] विरोधः शङ्कनीयः इति दिक्.

श्रीबालकृष्णो अस्मत्कुलपतिः प्रसीदतु!

इति श्रीमद्गोवर्द्धनधर-श्रीवल्लभाचार्य-श्रीविठ्ठलेश्वर-चरणानुचरसेवकेन
लालूभट्टोपनाम-बालकृष्णेन कृते निर्णयार्णवे
द्वितीयः तरङ्गः सम्पूर्णः



॥ पाठभेदतालिका ॥

१.अयोध्याकाण्डे (१५।३) अयं श्लोकः भिन्नप्रसङ्गे— यथाहि ''उदिते विमले सूर्ये पुष्ये चाभ्यागतेऽहनि लग्ने कर्कटके प्राप्ते जन्म रामस्य च स्थिते, अभिषेकाय रामस्य द्विजन्द्रैरुपकल्पितम्'' इति श्रीरामराज्याभिषेकमुर्हूतनिरूपणपरः उपलभ्यते. बालकाण्डे (१८।९-१०)— ''नक्षत्रेऽदितिदैवत्ये स्वोच्चसंस्थेषु पञ्चसु ग्रहेषु कर्कटे लग्ने वाक्पताविन्दुना सह... कौसल्याजनयद् रामं दिव्यलक्षणसंयुतम्'' इत्यनेन पुनर्वसुनक्षत्रे भगवतः श्रीरामस्य प्राकट्यं श्रावितम्. एतेन सूर्योदयकालव्यापि नक्षत्रं पुनर्वसु इति

भगवज्जन्मकालव्यापि च पुष्यनक्षत्रं कदाचित् स्याद् इति कल्पनीयम्. २. इह मु पाठे आद्यसम्पादकीया पादटिप्पणी "'तावद्' इति कदाचिद् भवेद्" इति. ३.इह मु पाठे आद्यसम्पादकीया पादटिप्पणी "'पृथक् सोपकारकर्तृत्वेनेति' इति ख . ४.इह मु पाठे आद्यसम्पादकीया पादटिप्पणी "'स्वस्वरूप-' इति ख " इति, अस्मदुपलब्धेऽपि च पाठे तथैव. ५. 'यथा' इति च. ६.'अनुत्कृष्टत्वाद्' इति घ च. ७.इह मु पाठे आद्यसम्पादकीया पादटिप्पणी "प्रचलितः पाठः 'पाणिपादं तत्'" इति. ८.इह मु पाठे आद्यसम्पादकीया पादटिप्पणी "स्वप्ने शब्दस्य मिथ्यात्वं तद्वाक्यस्य मिथ्यात्वानुभवात्. स्वप्ने मिथ्यात्वंहि केनचिद् उक्तं तुभ्यं शतमुद्रा दत्ता इति तत्र तदुक्तेः मिथ्यात्वेन मुद्रालाभः इति अधिकं क " इति. ९.इह 'श्रुतिस्मृतिपुराणाद्युपपत्तयः' च . १०.एतत्संख्यांकितोंशः च पाठे अधिकः च मातृकायाः इहैव समाप्तिः. इतो अग्रे घ मुद्रितपाठौ अनुसृत्य. ११.'रजतमयेप्यतिसूक्ष्मे पात्रे' इति गुप्तरसीयपाठे. १२.'क्वापि' इति च .



❋ तृतीयस्तरङ्गः ❋

॥ श्रीगिरिधारी तनोतु मङ्गलानि ॥

श्रीमद्गोवर्द्धनाधीशव्रजसीमन्तिनीपदः ॥
नामं-नामम् अहं वच्मि तृतीयं भक्ततुष्टये ॥१॥
सर्वस्वमाभीरनितम्बिनीनां
मित्रं महद् विठ्ठलदीक्षितानाम् ॥
तात्पर्यवृत्तेर्विषयः श्रुतीनां
गोवर्द्धनाधीश तव स्वरूपम् ॥२॥

[१. "तरङ्गोत्क्षिप्तमोक्षेषु...निमज्जनम्" (   ) इति श्रीमत्प्रभुचरणकृत-श्लोकप्रामाण्यनिर्णयः]

तरङ्गोत्क्षिप्तमोक्षेषु पञ्चाध्यायीरसाब्धिषु ॥
पुनरुत्थानरहितं चित्रं बिन्दौ निमज्जनम् ॥३॥

ननु अयं श्रीमद्विठ्ठलेश्वरश्लोकः किम्प्रमाणसिद्धः ?

इति चेत्, शृणु!

"मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादि चतुष्टयं, नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविप्लुतम्" (भाग.पुरा.९।४।६७), "सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्यैकत्वमप्युत, दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः" (भाग.पुरा.३।२९।१३), "नैच्छन् नृपस् तदुचितं महतां मधुद्विट्सेवानुरक्तमन-सामभवोऽपि फल्गुः" (भाग.पुरा.५।१४।४४), "राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किङ्करो वः, अस्त्येवमङ्ग भगवान् भजतां मुकुन्दो, मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्" (भाग.पुरा.५।६।१८), "नारायणपरा लोके न कुतश्चन बिभ्यति, स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः" (भाग.पुरा.६।१७।२८) इत्यादि श्रीभागवतवचःसमूहो मानम् इति गृहाण.

किञ्च "वासांसि ताभ्यः प्रायच्छत् करुणस्तेन तोषितः" (भाग.पुरा.१०।१९।२१) इति दशमैकोनविंशाध्यायश्लोकसुबोधिन्यां "व्रजसुन्दरीभ्यो मुक्तिं कुतो न दत्तवान्?" (सुबो.१०।१९।११) इति आशङ्क्य 'तोषित' इति पदेन समाहितम्. तथाच व्रजभक्तानाम् उपरि भगवतः तोषाद् मुक्तिः न दत्ता भगवता. तथा सति भक्तानाम् उपरि यदा तोषाभावः तदा मुक्तिदानम् इति अर्थः फलति. एवं सति मुक्तेः भजनानन्दापेक्षया हीनत्वं स्फुटमेव. "एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानाम्" (भाग.पुरा.१०।२९।२१) इत्यस्य सुबोधिन्यां भगवदर्थमेव लोवेदस्वत्यागो व्रजभक्तैः कृतो नतु मोक्षार्थम् इति उक्तम्. अतो ज्ञायते ये मोक्षार्थकं त्यागं कुर्वन्ति न ते भगवदर्थत्यागिनः इति. तथाच मोक्षस्य भगवदर्थत्वापेक्षया भेदएव प्रतिपादितइति मोक्षे हीनत्वम्. अपिच, "वीक्ष्यालकावृतमुखम्" (भाग.पुरा.१०।२६।३९) इत्यस्य सुबोधिन्यां दास्यस्यैव परमपुरुषार्थत्वम् उपपादितम्. सारूप्य-सामिप्य-सालोक्य-सायुज्यानां दास्यापेक्षया अतिहीनत्वं निरणायि. एवं सति श्रीभागवतं सुबोधिनी च "तरङ्गोत्क्षिप्तमोक्षेषु" इत्याद्युक्तौ मानम् इति सर्वं समञ्जसम्. अपिच "पुंसामेकान्ततः श्रेयः तन्नः शंसितुमर्हसि" (भाग.पुरा.१।१।९) इत्यस्य सुबोधिन्यां "स्वर्गिणां पुत्रादिषु न श्रेयस्त्वं, तथा मुक्तानां स्वर्गे, भक्तानां मुक्तौ" (सुबो.१।१।९) इति निरूप्य भक्तानां मुक्तौ श्रेयस्त्वं निराकृतम् अतोऽपि तथा.

[२. "भगवतो हि ज्ञानं गदितमपि... इति सिद्धवत्कारेण ददन् आह" (सुबो.२।९।३०) इत्यत्र 'ददन्' प्रयोगसाधुत्वनिर्णयः]

द्वितीयस्कन्धे —

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद् विज्ञानसमन्वितम्।
सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया॥
(भाग.पुरा.२।९।३०) इति.

अस्य सुबोधिन्यां "भगवतोहि ज्ञानं गदितमपि कृपाव्यतिरेकेण

न प्राप्यतइति सिद्धवत्कारेण ददन् आह" इति.

नच *'ददन्' इति रूपं न सम्भवति, "नाभ्यस्ताच्छतुः" (पाणि.सू.७।१।७८) इत्यनेन 'नुम्' निषेधाद्* इति वाच्यं, "'दद'=दाने" (पाणि.धा.पा.भ्वादि.१७) इति भौवादिकधातोः इदं रूपमिति, तत्र दोषसम्भावनायाएव अभावात्. नच *तर्हि "'दद'=दाने" इत्यस्य आत्मनेपदित्वाद् 'ददन्' इति रूपासिद्धिः* इति वाच्यं, "अनुदात्तेत्त्वलक्षणम् आत्मनेपदम् अनित्यम्" (पाणि.परि.पाठः.९८) चक्षिङो ङित्करणाज् ज्ञापकाद् इति शब्दशास्त्रसुज्ञानां सिद्धान्तात्. अतएव "अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः" "उदयति यदि भानुः पश्चिमायां दिशायाम्" इत्यादि सिद्धम् इति आहुः. अतो अत्रापि न दूषणम् इति ज्ञेयम्.

[३. 'पूर्वसंस्कारतस्तत्र...संसारे न भवेत् तदा" (त.दी.नि.२।२१७) इत्यस्य अनश्वरभक्तिबीजविषयकसिद्धान्तेन अविरोधनिर्णयः]

निबन्धे सर्वनिर्णये —

पूर्वसंस्कारतस् तत्र भजन् मुच्येत जन्मभिः।
अत्यन्ताभिनिवेशश्चेत् संसारे न भवेत् तदा॥
(त.दी.नि.२।२१७) इति.

इह "अत्यन्ताभिनिवेशो न भवेत् चेत् तदा मुच्यते; यदि, अत्यन्ताभिनिवेशः स्यात् तदा न मुच्यते" इति अर्थो न कर्त्तव्यो, भक्तिबीजस्य नश्वरत्वापाताद्, "देवानां गुणलिङ्गानाम्" (भाग.पुरा.३।२५।३२) इत्यस्य सुबोधिन्यां भक्तिबीजस्य नश्वरत्वाभावप्रतिपादनाद् इह संसाराभिनिवेशानभिनिवेशाभ्यां भक्तिफलाभावफलात्मकसन्देहकथने पूर्वोक्तसुबोधिनीविरोधापातात्; किन्तु, "संसारे अत्यन्ताभिनिवेशः चेत् न स्यात् तदा नाम तस्मिन् जन्मनि मुच्यते" इति अर्थो ज्ञेयः. एवं सति जन्मनां सावधित्वकथनेन भक्तिबीजस्य अनश्वरत्वम् उपपन्नं भवतीति न

कश्चिद् विरोधः. "जन्मभिः मुच्यते" इत्यत्र मानन्तु जडभरतेन्द्रद्युम्नादीनां हरिणासक्तिजन्य नित्यकर्मत्यागरूपागस्त्यमुन्यनादरणरूप-पापजन्य-हरिणगजयोनि-प्राप्त्यनन्तर-भक्तिभगवत्प्राप्ति-कथैव इति आकलनीयम्.

[४. "बुद्धिप्रेरककृष्णस्य...सर्वदा स्वतः" (त.दी.नि.३।५।१) इति कारिका-तात्पर्यनिर्णयः]

पञ्चमस्कन्धनिबन्धे मङ्गलाचरणकारिका —

बुद्धि - प्रेरक - कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु।
ध्यानासमर्थजीवानाम् अस्माकं सर्वदा स्वतः॥
(त.दी.नि.३।५।१) इति.

इदम् अत्र ज्ञेयम् : इह पञ्चमस्कन्धे भगवतो मर्यादालीला प्रतिपाद्यते. सातु "वेदस्य विद्यमानत्वात् मर्यादाऽपि व्यवस्थिता" (पु.प्र.म.३) इति, पुष्टिप्रवाहमर्यादानिरूपकग्रन्थवाक्याद् वेदमूलिका. वेदस्य गायत्रीमूलत्वं, "गायत्रीं वेदमातरम्" (पद्मपुरा.स्व.५३।५७) इति वाक्याद्, "गायत्री बीजं वेदो वृक्षः श्रीभागवतं फलम्" (सुबो.१।१।१) इति प्रथमस्कन्धसुबोधिन्यां गायत्र्याः बीजत्वेन उक्तेः च. एवं सति मर्यादालीलायाः गायत्री मूलम् इति सिद्धम्. तथाच मर्यादालीलाविवरणोपक्रमे गायत्र्यर्थानुसारेण मङ्गलम् आचरितुम् उचितम्. अतः तादृशमेव मङ्गलम् आचरन्ति बुद्धिप्रेरककृष्णस्य इत्यादिना. गायत्रीचरमपादे बुद्धिप्रेरणम् उक्तं तथा अत्रापि बुद्धिप्रेरकत्वम् उच्यते. तत्र 'सवितृ'पदेन जगत्कर्ता मूलरूपो भगवान् भणितः तथा इहापि मूलरूपत्वज्ञापनाय 'कृष्ण' पदम् उक्तं, कृष्णस्य मूलरूपत्वात्, " 'कृषि' र्भूवाचकः प्रोक्तो 'ण'श्च निर्वृतिवाचकः, तयोरैक्यं परं ब्रह्म 'कृष्ण' इत्यभिधीयते" (गो.पू.ता.उप.१/१) इति गोपालतापिन्यारम्भपठितश्रुतेः. परम् अत्र अयं विशेषः : गायत्र्यां 'धीमहि' इति क्रियापदेन साधनरूपं ध्यानम् उक्तम् इहतु ध्यानासमर्थजीवानाम् इत्यनेन साधनाभावः उक्तः. तर्हि साधनं विना कथं फलसिद्धिः ? इति आशङ्क्य अनुग्रहेण फलसिद्धिः; अतो, भगवत्प्रसादं

प्रार्थयन्ति प्रसीदतु इति. सामान्यजीवेभ्यो मर्यादास्थेभ्यः पृथग् गणनार्थम् अस्माकम् इति उक्तम्, अस्माकं नाम पुष्टिमार्गीयाणाम् इति अर्थः. एवञ्च मर्यादास्थानां साधनैरेव इष्टसिद्धिः पुष्टिस्थानान्तु भगवत्प्रसादाद् इति विवेचितम्. अतएव पादपद्मम् इति पदेन चरणमेव प्रसादनीयत्वेन उक्तं, भक्तानां चरणसम्बन्धाभिलाषित्वात्, चरणानां भक्तिरूपत्वात्. पादपद्मम् इति एकवचनेन एकैव पुष्टिभक्तिः उक्ता. अतएव स्वतः पदम् उक्तं, स्वतएव प्रसीदतु नतु साधनबलेन इति अर्थः, पुष्टिजीवानां निःसाधनत्वात्. एवं बुद्धिप्रेरक पदेन गायत्रीचरमपदस्मृतिः कारिता. ध्यानासमर्थजीवानाम् इति 'ध्यान' पदेन 'धीमहि' इति पदं स्मारितम्.

[५. "अभेदाद् अनुपाधित्वात्...बाधनम्" (विद्व.मण्ड.) इति कारिका-व्याख्यानम्]

विद्वन्मण्डने —

अभेदाद् अनुपाधित्वाद् जगदप्रत्ययाप्तितः।
सर्वाधारत्वतः तावच्छक्तित्वात् नास्य बाधनम्॥
(विद्व.मण्ड.).

तावच्छक्तित्वाद् इति, "परास्य शक्तिः विविधैव श्रूयते" (श्वेता.उप.६।८) इति श्रुतेः. नच *"निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्" (श्वेता.उप.६।१९) इत्यादिश्रुतिषु निर्विशेषनिरूपणात् सविशेषश्रुतयो लक्षणया सोपाधिकपराः* इति वाच्यं, मुख्यार्थबाधस्य अनुचितत्वात्. नच *"आयुर्वै घृतम्" (तैत्ति.संहि.२।३।२) इत्यादौ लक्षणाङ्गीकाराद् अत्रापि तथा अस्तु!* इति वाच्यं, घृतस्य प्रत्यक्षत्वेन आयूरूपत्वाभावस्यापि प्रत्यक्षतया तत्र लक्षणायाः स्वीकारेऽपि, प्रकृते ब्रह्मणितु निर्विशेषत्वसविशेषत्वयोः श्रुत्येकसमधिगम्यत्वेन मुख्यार्थबाधस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणैः अनुपलब्धेः लक्षणायाः असम्भवात्. "निर्विशेषश्रुतीनां प्राकृतनिषेधपरत्वं सविशेषश्रुतीनाम् अप्राकृतगुण-निरूपकत्वम्" इति व्यवस्थैव युक्ता. सोपाधित्वं निरुपाधित्वं ब्रह्मणि

न कल्पनीयम् इति अलं लेखेन.

इति श्रीमद्गोवर्द्धनधर-श्रीवल्लभाचार्य-श्रीविट्ठलेश्वर-चरणसेवकेन
लालूभट्टोपनाम-बालकृष्णेन कृते निर्णयार्णवे
तृतीयः तरङ्गः सम्पूर्णः



❋ चतुर्थस्तरङ्गः ❋

॥ श्रीगिरिधारी तनोतु मङ्गलानि ॥

श्रीमद्गोवर्द्धनाधीशं राधास्येन्दुचकोरकम्।
यशोदोत्सङ्गसंशोभिबालकृष्णं नमाम्यहम्॥

अथ निर्णयार्णवे चतुर्थः तरङ्गः आविर्भाव्यते :

[१. अक्षरस्य भगवच्चरणरूपतानिरूपणस्य (त.दी.नि.२।१०२) उपपत्तिनिर्णयः]

निबन्धे सर्वनिर्णये —

अक्षरस्य भगवच्चरणरूपत्वे "चैद्ये च सात्वतपतेश्चरणं प्रविष्टे" (भाग.पुरा.१०।७५।८) इति श्रीभागवतवाक्यं प्रमाणत्वेन उपन्यस्तम्. तत्र शिशुपालो भगवच्चरणे प्रविष्टः इति उक्तेः कथम् अक्षरस्य चरणरूपता?

इति चेत्, शृणु!

तृतीयस्कन्धे(!?) "त्रिभिर् लोकाय कल्पताम्"(भाग.पुरा.७।१।३८) इति वाक्याद् जयविजययोः जन्मत्रितयानन्तरं पुनः वैकुण्ठलोकगमनं निश्चितम्. इहतु "सात्वतपतेश्चरणं प्रविष्टे" इति उक्त्या चरणसायुज्ये लोकप्राप्तिः बाधिता. एवं सति उभयवाक्यसामञ्जस्याय चरणवैकुण्ठयोः अभेदः स्वीकर्त्तव्यः. तथा अक्षरस्य वैकुण्ठरूपत्वात् चरणरूपत्वं निराबाधम्. अक्षरस्य वैकुण्ठत्वे प्रमाणन्तु "अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः तमाहुः परमां गतिम्, यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम" (भग.गीता.८।२१) इति गीतावाक्ये 'धाम' पदम्. "तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणम्, विष्णोर्धाम परं साक्षात् पुरुषस्य महात्मनः"(भाग.पुरा.३।११।४१) इति तृतीयस्कन्धे 'धाम' पदं च अक्षरस्य वैकुण्ठत्वे प्रमाणम्. नच *"परं धाम इति उक्त्या 'धाम' पदस्य स्वरूपवाचकत्वात् परं स्वरूपम् इति अर्थः स्याद्"* इति वाच्यं, साक्षात् पुरुषस्य इति उक्त्या ततः परस्य वक्तुम् अशक्यत्वात्, "पुरुषान्न परं किञ्चित्" (कठोप.३।११) इति श्रुतेः. किञ्च, "दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां

तमसः परं, सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म ज्योतिः सनातनम्'' (भाग.पुरा.१०।२५।-१४) इति दशमस्कन्धे स्फुटमेव वैकुण्ठलोकस्य ब्रह्मरूपत्वोक्तिरिति निराबाधम् अक्षरस्य वैकुण्ठत्वम्. सिद्धे च वैकुण्ठत्वे वैकुण्ठाभिन्नत्वात् चरणत्वमपि अक्षरस्य इति मञ्जुलम् अखिलम्.

अथ इदं चिन्त्यते : अक्षरस्य चरणरूपत्वोक्तौ पुरुषोत्तमचरणानाम् आनन्दमयत्वं न स्याद्, अक्षरस्य गणितानन्दत्वात्. नच इष्टापत्तिः, ''एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति'' (तैत्ति.उप.२।८) इत्यादिश्रुतेः, ''आनन्दमयोऽभ्यासात्'' (ब्र.सू.१।१।११) इति न्यायात्, ''...आनन्दमूर्त्तिमजहाददिदीर्घतापम्'' (भाग.पुरा.१०।४५।७) इति दशमस्कन्ध-कुब्जाख्यान-वाक्यात्; च, पुरुषोत्तमस्य आनन्दमयत्वेन सर्वत्र एकरूपत्वे चरणमात्रे गणितानन्दत्वकथनस्य अनुचितत्वाद्, ''आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः'' (   ) इति तन्त्रवाक्ये एकक्रमपठितानां करचरणादीनां साम्यस्वीकारस्यैव उचितत्वात्. एवं सति कथम् अक्षरस्य चरणत्वम् इति चेद् ? अत्र ब्रूमः. पूर्वोक्तश्रुतिन्यायादिभिः पुरुषोत्तमस्य साकारपरब्रह्मणः श्रीकृष्णस्य आपादशिखं परमानन्दरूपत्वात् चरणानामपि आनन्दमयत्वमेव. अक्षरस्य तादृशचरणरूपत्वन्तु जीवस्य ब्रह्मभावइव बोध्यम्. नहि जीवस्य ब्रह्मैक्ये जीवनिष्ठतिरोहितानन्दत्वं ब्रह्मणि आयाति; एवम्, अक्षरस्य पुरुषोत्तमचरणैक्येऽपि अक्षरनिष्ठं गणितानन्दत्वं भगवच्चरणे न आयातीति न पुरुषोत्तमचरणयोः आनन्दमयत्व हीयते. नहि अत्र कृष्णचरणयोः अक्षरत्वम् उच्यते; अपितु, अक्षरस्य चरणरूपत्वम्. अतः प्रत्युत अक्षरस्य चरणाभेदे सति आनन्दमयत्वं सम्पद्यते, ''नर्मदा सागरोऽभवद्'' इतिवत्. नहि सागरस्य नर्मदात्वम् अपितु तस्याः सागरत्वम्; एवम्, इहापि. न तर्हि अक्षरस्य गणितानन्दत्वम्. अतः पुरुषोत्तमचरणभावं प्राप्तम् अक्षरस्य स्वरूपं गणितानन्दस्वरूपाद् भिन्नमेव. अतएव ''व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते'' (भाग.पुरा.१०।३।२५) इत्यस्य विवृतौ ''पुरुषोत्तमाभिन्ने अक्षरे वा''(सुबो.१०।३।२५) इति उक्त्वा अक्षरस्य पृथगेव तादृशं रूपम् अङ्गीकृतम् इति सकलं शुभम्.

[२. सर्वपदार्थानां नित्यत्वेऽपि भगवदिच्छया न सर्वदोपलम्भप्रसङ्गः (विद्व.मण्ड.आवि.तिरो.वादे) इति शङ्कासमाधानेन निर्णयः]

विद्वन्मण्डने आविर्भावतिरोभाववादे सर्वपदार्थस्य नित्यत्वेन सर्वदा

उपलम्भप्रसक्तौ भगवदिच्छायाः नियामकत्वम् अङ्गीकृत्य अतिप्रसङ्गो वारितः.

अत्र केचिद् आहुः : *ननु यस्य घटस्य श्वः प्राप्तिः भविष्यति, तत्र तादृशी भगवदिच्छा अस्ति इति मन्तव्यम्, अन्यथा श्वो घटप्राप्तिः न भवेत्. एवं सति तद्घटस्य, श्वःकालस्य, भगवदिच्छायाः च, नित्यत्वेन अद्यापि सत्त्वाद् अद्यैव घटप्राप्तिः कुतो न भवेद्! इति. नच *तन्नित्यत्वेऽपि तदनाविर्भावात् न उपलम्भः* इति वाच्यं, तदाविर्भावस्यापि नित्यत्वात्. तथाच तस्य घटस्य, श्वःकालस्य, भगवदिच्छायाः, तदाविर्भावस्य च, नित्यत्वाद् अद्यैव तदुपलम्भः !*

इति चेत्, मा एवम्! ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म'' (छान्दो.उप.३।१४।१) इति श्रुतेः क्रमस्यापि भगवद्रूपत्वात् क्रमरूपेण भगवता प्रतिबन्धात् क्रमेण श्वः कालएव घटोपलब्धिः नतु अद्य इति सिद्धान्तात्, क्रमरूपस्य भगवतः तादृशत्वात्. नहि वस्तुस्वरूपम् उपपत्तिम् अपेक्षते. अपिच यादृशो यः पदार्थो वेदपुराणादिषु लोके च व्यवह्रियते शिष्टैः तादृशस्य बुद्धिकल्पित-सर्वानुपपत्त्यादि-दोषरहितस्यैव ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म''(छान्दो.उप.३।१४।१) इति श्रुतिगत'सर्व' शब्दवाच्यत्वाद् देशकालक्रमहेतुकोपलम्भकस्य घटादेरेव ब्रह्मत्वाद् उपलम्भातिप्रसङ्गो अनवसरपराहतएव. यावती उपलम्भसाङ्कर्यादिरूपा अनुपपत्तिः उद्भाव्यते तावतीम् अनुपपत्तिं परिहृत्यैव वर्तमानस्य वस्तुरूपत्वाद्, वस्तुरूपस्य ब्रह्मरूपत्वात्. अन्यथा ''शृङ्गी गजः'' इति प्रत्ययस्यापि प्रमात्वेन वस्त्वन्तरसाङ्कर्यं स्याद्, उपलम्भसाङ्कर्यवत्. अतः प्रापञ्चिकपदार्थेषु घटादिषु कालादिषु यथोचितरूपेणैव वस्तुत्वाद् वस्तुनएव ब्रह्मत्वात् सर्वानुपपत्तयः परिहृताः बोध्याः.

अन्यच्च *श्वःकाले यस्य घटस्य उपलम्भो भावी तस्य अद्यैव उपलम्भः स्यात् नित्यत्वाद्* इति उच्यते, तत् न सम्भवति, ''अद्य उपलम्भो मास्तु'' इत्याकारकभगवदिच्छान्तरस्य प्रतिबन्धकत्वात् इच्छायाः कार्यानुमेयत्वाद् इति अलं लेखेन.

[३. ''नच तत्तद्देशकालयोरपि नित्यत्वाद् युगपत्सकलोपलम्भप्रसङ्गोऽनुपलम्भ-प्रसङ्गो वा स्यादिति वाच्यम्'' (विद्व.मण्ड.) इत्यत्र शङ्कासमाधानेन निर्णयः]

विद्वन्मण्डने—

> नच *तत्तद्देशकालयोरपि नित्यत्वाद् युगपत् सकलोपलम्भप्रसङ्गो अनुपलम्भप्रसङ्गो वा स्याद्* इति वाच्यम्, अस्मिन् सृष्टिकालात्मके स्थूले कालोपाधौ क्रमिके तस्य-तस्य पुरुषस्य तत्तदुपलम्भो भवतु इति इच्छाविषयत्वस्य तत्त्वात्.
>
> इत्यादि.

अयम् आशयः : यथा कृष्णपक्षपञ्चम्यां घटोपलम्भो देवदत्तस्य अस्तु! इति, सएव घटः षष्ठ्यां तस्यैव देवदत्तस्य अनुपलब्धो अस्तु! इति च विचारितं भगवता, तत्र पञ्चम्यां तद्घटोपलम्भावसरे तद्घटानुपलम्भएव कुतो न स्यात्? अनुपलम्भावसरस्य षष्ठीदिनस्य पञ्चमीसमयेऽपि सत्त्वाद्, ब्रह्मत्वेन षष्ठ्याः नित्यत्वात्. एवम् उपलम्भसामग्र्याः अनुपलम्भसामग्र्याः च विद्यमानत्वाद् उपलम्भसमये अनुपलम्भो अनुपलम्भसमये उपलम्भः स्यात्. एवं पटादीनां सर्वेषां व्यवस्था. एवं सति सर्वेषाम् उपलम्भसमये अनुलब्धिः अनुपलब्ध्यवसरे उपलम्भः. एवम् अतिप्रसक्तिः. तदेतद् उक्तं युगपत् सकलोपलम्भप्रसङ्गो अनुपलम्भप्रसङ्गो वा स्याद् इत्यनेन, 'वा' शब्दप्रयोगोऽपि अतएव. सएव पूर्वपक्षिणः आशयः. तत्र उत्तरम् आहुः अस्मिन् सृष्टिकालात्मके स्थूले कालोपाधौ इत्यादिना, अस्मिन् ब्रह्मणो द्वितीये परार्द्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे अष्टाविंशतितमे कलियुगे स्थूले कालोपाधौ क्रमप्राप्ते तत्तदवयवात्मक-संवत्सरीय-चैत्राद्यन्यतर-मासे कृष्णपक्षपञ्चम्यां घटः उपलभ्यताम् इत्याकारकभगवदिच्छायाः नियामकत्वेन अतिप्रसङ्गवारणात्. इच्छायाः कार्यानुमेयत्वाद् इच्छामध्ये क्रमनिवेशे सर्वदोषवारणात्. पञ्चम्याः समये षष्ठीप्राप्तौ क्रमस्वरूपभङ्गभिया तिथिद्वयसाङ्कर्यानङ्गीकारात्. क्रमात्मकस्य ब्रह्मस्वरूपस्य यौगपद्यभञ्जकस्वभावत्वात्. नहि वस्तुस्वरूपे उपपत्तिः

अभिलष्यते. तथाच यावत्या अनुपपत्तिपरिहारः तावतीं सामग्रीम् आदायैव क्रमस्वरूपेण भगवदाविर्भावइति न कोऽपि शङ्कालवः. अपिच भगवदिच्छायाः कार्यमात्रं प्रति कारणत्वाङ्गीकारात् षष्ठ्याम् उपलभ्य घटस्य पञ्चम्याम् उपलम्भो न भविष्यति, इच्छायाः अभावात्. नच *इच्छायाः नित्यत्वेन तदभावो न वक्तुं शक्यः* इति वाच्यं, तादृगिच्छानुमापककार्याभावाद् इच्छायाः कल्पयितुम् अशक्यत्वात्. अन्यथा षष्ठ्याम् उपलभ्य पञ्चम्याम् उपलम्भः स्यात्. सतु न दृश्यते. अतः तादृशि इच्छैव भगवतो नास्ति इति ज्ञायते. यदि तादृशी इच्छा स्यात् तदा तस्याः नित्यत्वेन षष्ठ्याम् उपलभ्यस्य घटादेः पञ्चम्याम् उपलम्भः आपाद्येत. इच्छैव तादृशी नास्तीति न अतिप्रसङ्गः. इच्छातु 'कार्यानुमेया' इति उक्तं प्राक्. नहि शशशृङ्गादिविषया भगवदिच्छा अस्ति इति वक्तुं शक्यते. एवं सति शशशृङ्गादिविषयायाः भगवदिच्छायाः नित्यत्वविचारो दूरापास्तएव. एवं प्रकृते ''षष्ठ्युपलभ्यघटादेः पञ्चम्याम् उपलम्भो अस्तु!'' इत्याकारकभगवदिच्छायाः अभावात् तन्नित्यत्वचिन्ता दूरापास्तेति न उपलम्भातिप्रसङ्गः इति दिक्.

नच *प्रत्यक्षतो घटस्य उत्पत्तिनाशानुभवात् कथं सत्त्वम् अङ्गीकृत्य आविर्भावतिरोभावौ अङ्गीकार्यौ स्याताम्* इति वाच्यम्, ''एकोऽहं बहु स्याम्'' (?) इत्यनेन वेदेन प्रादुर्भावस्य ''हन्त तिरोसानि'' (बृह.उप.१।४।४) इति वेदेन तिरोभावस्येत्येवं आविर्भावतिरोभावयोः ब्रह्मधर्मत्वे सिद्धे ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत'' (छान्दो.उप.३।१४-।१), ''कथमसतः सज्जायेत'' (छान्दो.उप.६।२।२), ''पुरुष एवेदं सर्वम्'' (श्वेता.उप.३।१५), ''इदं सर्वं यदयमात्मा'' (बृह.उप.२।४।६), ''स वै सर्वमिदं जगत्'' (महानारा.उप.२३।१) इत्यादिश्रुतिभिः प्रपञ्चस्य ब्रह्मत्वोक्तेः त्रैकालिकसत्त्वाङ्गीकारात् प्रपञ्चे आविर्भावतिरोभावयोः अङ्गीकारस्यैव उचितत्वात्.

अत्र मायावादिनः—

> *ननु प्रतीत्या पदार्थाः कल्प्यन्ते. तथाच ''घटो

अस्ति'' इति प्रत्ययेन सत्त्वे, ''घटो नास्ति'' इति प्रत्ययेन तदसत्त्वे, निर्णीति सदसद्रूपतायां प्राप्तायां प्रतियोगि-तदभावयोः एकाधिकरणवृत्तित्वायोगात् सदसद्विलक्षणत्वं घटादौ कल्पनीयम्. तदेव हि अनिर्वचनीयत्वं तदेव च मिथ्यात्वं नाम. एवं सति सृष्टिकाले जगति सत्त्वप्रतीतेः प्रलयकालेतु असत्त्वप्रतीतेः सत्त्वासत्त्वोभयप्रतीतिबलात् सदसद्रूपतायां प्राप्तायां प्रतियोगितदभावयोः एकाधिकरणवृत्तित्वाद्यनुचितकल्पनत्वात् सत्सदसद्विलक्षणम् अनिर्वचनीयं जगद् इति कल्प्यते. एतावता, ब्रह्म सदेव, वन्ध्यापुत्रादि असदेव, जगत्तु सदसद्विलक्षणम् अनिर्वचनीयं मिथ्या* इति सिद्धम्.

इति.

तत् न, प्रतीत्यनुरोधेन पदार्थकल्पनेतु ''घटो अस्ति—घटो नास्ति'' इति प्रतीतिद्वयानुरोधात् सदसद्रूपतैव उरीकार्या. नच *सदसद्रूपस्य पदार्थस्य कुत्रापि अनुपलम्भात् तत्कल्पना कर्तुम् अशक्या* इति वाच्यं, सदसद्विलक्षणस्यापि वस्तुनः कुत्रापि असिद्धत्वेन तत्कल्पनस्यापि अशिष्टत्वापादकत्वात्. किञ्च पाकदशातः पूर्वं घटे ''रक्तो नास्ति'' इति प्रत्ययात् तदनन्तरं ''रक्तो अस्ति'' इति प्रतीतेः, उभयानुरोधाद् रक्तारक्तविलक्षणो ''घटो अयम्'' इति व्यवहारापत्त्या ''रक्तो अस्ति—रक्तो नास्ति'' इति व्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात्. नच *तत्र कालभेदेन रक्तत्वारक्तत्वयोः प्रतीत्या ''रक्तो घटो अस्ति—रक्तो घटो नास्ति'' इति व्यवहारद्वयसिद्धौ रक्तारक्तविलक्षणत्वं तत्र न आदर्तव्यम्* इति वाच्यं, कालभेदेनैव घटो(टे)ऽपि 'अस्ति-नास्ति' इति व्यवहारसिद्धौ सदसद्विलक्षणत्वकल्पनायाः अप्रामाणिकत्वात्. तथाच जगतोऽपि, स्थितिकाले सत्त्वप्रतीत्याः, प्रलयकाले नास्ति इति प्रतीत्याः, कालभेदेनैव सिद्धेः जगति सदसद्विलक्षणत्वं न कल्पनीयम्. अपिच प्रतीत्यनुरोधेतु ''घटो अस्ति''-''पटो अस्ति''—''घटो नास्ति''-''पटो नास्ति'' इति उभयप्रत्ययात् सदसद्रूपत्वमेव उरीकार्यं नतु

सदसद्विलक्षणत्वं, तादृक्त्वस्य प्रत्ययमात्रबाह्यत्वात्. यच्च उक्तं *प्रतियोगितदभावयोः एकाधिकरणवृत्तित्वस्य वक्तुम् अशक्यत्वात् सदसद्विलक्षणता निगद्यते* तदपि असमञ्जसं, कालभेदेन प्रतियोगितदभावयोः एकाधिकरणवृत्तित्वस्य सर्वसम्मतत्वात् कालभेदेन घटेऽपि सत्त्वासत्त्वयोः सुवचत्वेन उभयवैलक्षण्यकल्पनायाः अन्याय्यत्वात्. अन्यच्च यदि प्रपञ्चस्य उत्पत्तिनाशौ अङ्गीक्रियेते, तर्हि काणादमतात् कोऽपि विशेषो न स्यात्. यदिवा सूक्ष्मरूपेण प्रलयेऽपि जगतः सत्त्वं मन्यते तर्हि सृष्टिकाले तदुत्पादनस्य वक्तुम् अशक्यत्वाद् ''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'' (तैत्ति.उप.३।१)इत्यादिश्रुतिवैयर्थ्यपरिहाराय जगदाविर्भावएव त्वयापि आदरणीयइति अस्मन्मतप्रविष्टः चिरं जीव!

तथाच सिद्धम् एतत् : श्रुतिबलविचारेतु अस्मन्मतमेव प्रबलं युक्तिबलविचारेतु नैयायिकराद्धान्तएव दृढः इति श्रुतियुक्त्युभयविरुद्धा सदसद्विलक्षणकल्पना इति विद्वांसो विदांकुर्वन्तु!

अपरञ्च ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' (छान्दो.उप.३।१४।१) ''स हैतावानास'' (बृह.उप.१।४।३) ''इदं सर्वं यदयमात्मा'' (बृह.उप.२।४।६) ''स आत्मानं स्वयमकुरुत'' (तैत्ति.उप.२।७) ''पुरुषएवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्'' (ऋ.वे.संहि.१०।९०।२) ''ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'' (छान्दो.उप.६।८।७) ''सवै सर्वमिदं जगद्'' (महानारा.उप.२३।१) इत्यादिश्रुतिभ्यो ब्रह्मत्वेन सत्यत्वं प्रपञ्चस्य प्रतिपाद्यते. ''सत्त्वाच्चावरस्य'' (ब्र.सू.२।१।१६) इत्यादिसूत्रैः भगवता वेदव्यासेन प्रपञ्चसत्यत्वं यत्नबाहुल्येन प्रतिपादितं तत् केन दूरीकार्यम्, प्रत्यक्षानुमानादीनां ततो हीनत्वात्! नच *युक्तिविरोधात् प्रपञ्चस्य भगवदात्मत्वं न आद्रियते* इति वाच्यं, भवन्मते निर्धारितस्य निर्धर्मकत्वस्यापि युक्तिविरोधाद् अनादरणीयत्वापत्तेः. नहि केनापि कुत्रापि निर्धर्मकः पदार्थः उपलभ्यते. नच तर्हि ''घटो नास्ति'' इति ज्ञानस्य निर्विषयत्वापातः, तस्य तिरोभावविषयत्वात्. दृश्यतेहि चौरे लीने ''चोरो नास्ति'' इति प्रत्ययः; एवं, घटे तिरोहिते ''घटो नास्ति'' इति प्रयोगस्य लब्धावकाशत्वात् न तदनुरोधेन घटस्य असत्त्वं वक्तव्यम्. ''नासतो विद्यते भावो नाभावो

विद्यते सतः'' (भग.गीता.२।१) इति भगवद्वाक्यात् सद्रूपस्य घटस्य अभावो न स्वीकार्यः, पूर्वोक्तश्रुतितत्त्वसूत्रैः जगतः सत्त्वनिर्द्धाराद् इति दिक्.

केचित्तु —

''नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम्''
(ऋ.वे.संहि.१०।५।३।२)इति.

श्रुतिं जगतः सदसद्विलक्षणत्वे प्रमाणयन्ति, तद् असङ्गतं, श्रुत्यर्थानवबोधात्.

तथाहि : तदानीं सृष्टिपूर्वकाले असत् सूक्ष्मं कार्यं, सत् स्थूलं कार्यं, न आसीत् न प्रादुर्भूतं; किन्तु, भगवतो जगत्सिसृक्षया सृष्टिकाले सूक्ष्मं स्थूलं च सर्वं कार्यं 'जगदा'ख्यं प्रादुरासीद् इति अर्थः. नच *तदानीं न आसीत् न स्थितं तदनन्तरम् उत्पन्नम् इत्येव अर्थः कुतो न ?* इति वाच्यं, 'आसीत्' पदस्य प्राकट्यवाचकत्वात्. ''एको नारायण आसीद्'' (महोप.१)इति श्रुत्यन्तरेण तथा निश्चयात्. नहि परब्रह्मणि नारायणे उत्पत्तिः वक्तुं शक्यते, ''सवा एष महानज आत्मा'' (बृह.उप.४।४।२५) इत्यादिश्रुतिभ्यः. तस्माद् 'असच्' छब्देन सूक्ष्मं कार्यं, 'सच्' छब्देन स्थूलं कार्यमेव वक्तव्यम्. नच 'असत्-सच्'छब्दाभ्यां सूक्ष्मस्थूलकार्योक्तौ मानाभावः, ''सदसदिदं विभाति यत्र'' (भाग.पुरा.५।२५।१०) इत्यादौ श्रीभागवते जगतः 'सद्-असत्' पदाभ्यां स्थूलसूक्ष्मकार्यात्मकत्वोक्तेः मानत्वात्. ''शक्तिः सदसदात्मिका माया नाम महाभागा'' (भाग.पुरा.३।५।२५) इत्यादावपि तदात्मकत्वोक्तेः च. यत्तु *तदानीं सृष्टिपूर्वकाले जगत् सत् न आसीत् असत् न आसीत् किन्तु सदसद्भ्याम् विलक्षणम् आसीद्, अतो न जगतः सत्यत्वं किन्तु अनिर्वचनीयत्वम्* इति आहुः, तद् असमञ्जसम्, अस्यां श्रुतौ जगद्वाचकपदाभावात्, ''सदेव सौम्येदमग्र आसीद्'' (छान्दो.उप.६।२।१) इति श्रुत्यन्तरे इदमा निर्दिष्टस्य प्रपञ्चस्य सत्त्वनिरूपणात् च. किञ्च ''तदानीं जगत् सद् न आसीत्

असद् न आसीत्'' इति उक्ते ''इदानीं सद् आसीत्(अस्ति!) असद् आसीद्(अस्ति!)'' इति अर्थः स्फुटति, तद् मायिकवादिनाम् अनिष्टम् इति बोध्यं, सदैव सदसद्वैलक्षण्यस्वीकारात्.

अत्र कश्चिद् आह —

'असच्'छब्दः शशविषाणादौ रूढः.
इति.

तत् तुच्छं, रूढ्या एकस्य शशशृङ्गस्य वन्ध्यापुत्रस्य वा उपस्थाप्यत्वेन शशशृङ्गादीनाम् उपस्थित्यसम्भवात्. ''न अस्ति'' इति 'असद्' इति व्युत्पत्त्या शशशृङ्गादीनां ग्रहणेतु योगएव न रूढिः. यत्र कुत्रचिद् 'असच्'छब्दस्य रूढिस्वीकारेतु घटादावपि 'असच्'छब्दरूढेः अतिप्रसक्तिः. किञ्च '''असच्' छब्दः प्रतीत्ययोग्ये वन्ध्यापुत्रादौ रूढः'' इति उक्तौ मानाभावः, ''शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सांनिध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः'' (न्या.सि.मु.८१)इति वाक्येन शक्तिग्रहनियामकानां व्याकरणादीनाम् अस्मिन् अर्थे प्रयोजकत्वादर्शनात्. नच *मायिकमतीयैः वाचस्पत्यादिभिः तथा उदितत्वाद् आप्तं वाक्यम् अत्र मानम्* इति वाच्यं, तेषां स्वस्वमते आप्तत्वाद् अन्यैः विद्वद्भिः अनङ्गीकारात्. अन्यच्च *''नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम्'' (ऋ.वे.संहि.१०।५।३।२) इत्यत्र सत्त्वासत्त्वनिषेधे सदसद्वैलक्षण्यं कल्प्यम्* इति आहुः, तद् आपातरमणीयं, भगवद्गीतासु ''ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि'' (भग.गीता.१३।१३) इति उपक्रम्य ''अनादिमत्परं ब्रह्म न सत् तन्नासदुच्यते'' (भग.गीता.१३।१२) इत्यनेन परब्रह्मणोऽपि सत्त्वासत्त्वनिषेधात् सदसद्वैलक्षण्यापत्तेः. एवं ''नायं गुणः कर्म न सन्न चासन् निषेधशेषो जयतादशेषः'' (भाग.पुरा.८।३।२४) इत्यादावपि सदसन्निषेधाद् ब्रह्मणः सदसद्वैलक्षण्याङ्गीकारे मिथ्यात्वापातात् च.

यदपि उक्तं '''मिथ्या' शब्देन सदसद्विलक्षणं वस्तु उच्यते'' इति,

तद् अनुचितं, तादृशपदार्थस्यैव अप्रसिद्धत्वात्. "नाऽसतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः" (भग.गीता.२।१६) इति भगवद्वाक्ये पदार्थद्वयस्यैव कथनाद्, अनिर्वचनीये पदार्थे 'मिथ्या' शब्दस्य शक्तिग्राहकाभावात् च. अन्यच्च 'मिथ्या' शब्दोहि असत्ये गृहीतशक्तिकः "सर्वे मिथ्याभिशंसिनः" (भाग.पुरा.१०।८।३५) "मिथ्याभिशापम्[1]" (भाग.पुरा.१०।५३।३१) इत्यादौ श्रीभागवते 'मिथ्या' शब्दस्य असत्यवाचकत्वनिर्द्धारात्.

[४. "सर्वाधारं...उत्तमम्" (त.दी.नि.१।६७) इति कारिकार्थनिर्णयः]

निबन्धे शास्त्रार्थप्रकरणे—

सर्वाधारं वश्यमायमानन्दाकारमुत्तमम्

इति.

अत्र इदं विचार्यते : "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतःपात्." (श्वेता.उप.३।३) "सर्वतः पाणिपादं तद्" (श्वेता.उप.३।१६) त्यादिश्रुतिभ्यो ब्रह्म साकारम् इति अध्यवसीयते. "तस्माद्वा एतस्मादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः" (तैत्ति.उप.२।५) इति तैत्तिरीयोपनिषत्सु "स वा एष पुरुषविध एव" (तैत्ति.उप.२।५) इत्यनेन पुरुषत्वोक्तेश्च. नच *आनन्दमयस्य साकारत्वे ब्रह्मणि कथं साकारत्वम्* इति वाच्यम्, "आनन्दमयोऽभ्यासाद्" (ब्र.सू.१।१।११) इति आनन्दमयाधिकरणे महता यत्नेन व्यासचरणैः आनन्दमये ब्रह्मत्वस्य साधितत्वाद्, "आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्" (?) "आनन्दरूपममृतं यद् विभाति" (मुण्ड.उप.२।२।७) इत्यादिश्रुतिषु ब्रह्मणि आनन्दात्मकरूपस्य निरूपितत्वात् च. नहि निराकारे वस्तुनि रूपवत्त्वं सम्भवति. अतो रूपनिर्देशेन साकारत्वमेव स्फोर्यते . अतएव ब्रह्मणः पुरुषत्वं "पुरुषान्न परं किञ्चिद्" (कठोप.३।११) इत्यादिश्रुतिभिः प्रतिपाद्यते. नच *संसारदशायाम् अविद्याकुण्ठितबुद्धेः निराकारं ब्रह्म न ज्ञानविषयो भवितुम् अर्हति इतिहार्दया श्रुत्या "विश्वतश्चक्षुः" (श्वेता.उप.३।३) इत्यादिवाक्यैः साकारं प्रतिपाद्य "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता"

(श्वेता.उप.३।१९) इत्यादिभिः निराकारत्वं पठ्यते पारमार्थिकमुक्त्युपयोगिदशायां तादृज्ज्ञानस्य भवितुं योग्यत्वाद्* इति वाच्यं, पारमार्थिकदशायां खण्डनीयस्य साकारत्वस्य पूर्वं प्रतिपादने श्रुतेः प्रतारकत्वापत्तेः, "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्" (लौकि.न्या.सा.३४२) इति न्यायेन अप्रतिपादनस्यैव ज्यायस्त्वात्. नच *निषेधस्य प्राप्तिपूर्वकत्वनियमाद् निषेध्यानां प्रापणार्थं पूर्वम् आकारोक्तिः* इति वाच्यं, अविद्योत्थदोषबाहुल्यजभ्रमादेव प्राप्तेः सत्त्वात्. भ्रमप्रतीतानां धर्माणामेव प्रायः श्रुतौ निषेधात्. श्रुतिप्राप्तानां श्रुतौ निषेधाङ्गीकारे "एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति" (बृह.उप.३।८।८) इत्यत्र 'अजरम्'-'अमृतम्'-'अभयम्' इत्यादिपदैः जरामरणादिनिषेधस्य प्राप्तिपूर्वकत्वाभावाद् निषेधस्य प्राप्तिपूर्वकत्वनियमो भज्येत. नहि कापि श्रुतिः ब्रह्मणि जरादि विधत्ते, येन पूर्वं विहितं पश्चाद् 'अजरम्-अमृता' दिपदैः निषिद्धम् इति वक्तुं शक्येत. अतो निषेधस्य प्राप्तिपूर्वकत्वनियमाद् अत्रच श्रुत्या प्राप्तेः अभावाद् भ्रमप्राप्तमेव निषिध्यते इति अङ्गीकार्यम्. तथाच सर्वत्र श्रुतौ भ्रमप्राप्तानां धर्माणामेव प्रतिषेधात् श्रुत्युक्तानां धर्माणान्तु श्रुतौ निषेधाभावाद् "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखः" (श्वेता.उप.३।३) "सर्वतःपाणिपादं तद्" (श्वेता.उप.३।१६) इत्यादिश्रुतिप्रतिपाद्यं साकारत्वं निराबाधम् . "अपाणिपादः" (श्वेता.उप.३।१९) इत्यादिनिषेधानान्तु भ्रमप्राप्ताः प्राकृतपाणिपादादयो विषयाः इति निष्कर्षः . यद् आह भगवान् भाष्यकारः "प्रतीतं च निषेध्यं नाप्रतीतं न श्रुतिप्रतीतम्" (ब्र.सू.भा.१।१।२) इति. भ्रमाद् धर्माणां प्राप्तेः अनङ्गीकारे सुतरां दोषो, विधाननिषेधयोः उभयोरपि वृथात्वापातात्. केनापि प्रकारेण अप्राप्तान् जगत्कर्तृत्वसाकारत्वादीन् धर्मान् स्वयं विधाय स्वयमेव खण्डयेद् इतितु श्रुतेः लाघवापादकम्. "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्" (लौकि.न्या.सा.३४२) इति न्यायात्. ननु *ब्रह्मज्ञानं पुरुषार्थसाधकं, तत्तु सम्पादनीयं, ब्रह्मतु वस्तुतो निर्धर्मकं, निर्धर्मकस्य निरूपणं धर्मनिरूपणं विना न भवति, अभावस्य प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणत्वात्. अतः प्रथमं धर्मनिरूपणम् अस्ति. न एतावता निषेधार्थम् उक्तानां धर्माणां वास्तवत्वं वक्तुं शक्यते* इति चेत्, न, श्रुत्याहि ब्रह्मज्ञानार्थं

धर्मिमात्रं बोधनीयं तत्तु "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तैत्ति.उप.२।१) इति एतावद्वचनेनैव सिद्धमिति ततो अधिकनिरूपणे प्रयोजनाभावात्. ब्रह्मणः सधर्मकत्वस्य केनापि अप्राप्यत्वाद् विधायकानां निषेधकानां च उभयेषां वैयर्थ्यात्. अतो न मायिकमतानुसारेण श्रुतीनां सार्थक्यम्. ततो भ्रमात् प्राप्तिम् अङ्गीकृत्य प्राकृतानामेव कर्तृत्व-साकारत्वादीनां निषेधः, श्रुतिप्राप्तानाम् अलौकिककर्तृत्वादीनान्तु ब्रह्मणि वास्तवी सत्ता स्वीकार्या इति दिक्. तथाच "अपाणिपादः" (श्वेता.उप.३।१९)इत्यादिश्रुतीनां प्राकृतपाणिपादविषयत्वं "सर्वतःपाणिपादं तद्" (श्वेता.उप.३।१६) इत्यादीनाम् अप्राकृतानन्दरूप-करचरणादि-विधायकत्वमिति विधिनिषेधौ भिन्नविषयावेव इति मन्तव्यं, व्याससचरणानां मते विधिनिषेधयोः भिन्नविषयत्वस्वीकारात्. अतएव "देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिनाम्" (भाग.पुरा.७।१।३४)इत्यादिवाक्यैः वैकुण्ठस्थानां देहादिनिषेधः "सर्वे चतुर्बाहव उन्मिषन्मणिप्रवेकनिष्काभरणाः सुवर्चसः" (भाग.पुरा.२।९।११) इत्यादिवचोभिः देहविधानं च श्रीमद्भागवते लभ्यते. अतः प्रतिषेधस्य भिन्नविषयत्वं विधानस्य तदितरविषयत्वमिति समस्तप्रशस्तविद्वत्प्रशस्या इयं सरणिः. तस्मात् सर्वोपाधिसमुज्झितं शुद्धमेव ब्रह्म साकारम् इति सकलैः सकलैः आकलनीयम्. अतएव गोपालतापिन्यां "'कृषि' र्भूवाचकः शब्दो 'ण' श्च निर्वृतिवाचकः, तयोरैक्यं परं ब्रह्म 'कृष्ण' इत्यभिधीयते" (गो.पू.ता.उप.१।१)इति कृष्णस्य परब्रह्मत्वं निरूप्य "द्विभुजम्[२]" (गो.पू.ता.उप.१।५) इत्यादिना साकारत्वम् अभाणि. भगवद्गीतासु "ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि" (भग.गीता.१३।१२) इति प्रतिज्ञाय "सर्वतःपाणिपादं तद्" (भग.गीता.१३।१४) इत्यादिना साकारत्वमेव स्फोरितम्. तेच आकाराः स्वरूपाद् अभिन्नाः. "आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः" ( ) इति वैष्णवतन्त्रात्. आनन्दस्य स्वरूपत्वाद्, "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानाद्" (तैत्ति.उप.३।६) इति उपनिषद्भ्यः. तस्मात् सरूपाभिन्नानन्दात्मकाकारं ब्रह्म इति श्रुतीनाम् आशयः स्फुटति. एवं सति स्वगतद्वैतमपि परिहृतं भवति. नच *"व्यापकेषु नभोदिगादिषु निराकारत्वस्य अनुभवाद् व्यापकं ब्रह्मापि निराकारम् अस्तु"* इति वाच्यं, धर्मिग्राहकोपनिषद्रूपमानेन साकारत्वस्यैव

सिद्धत्वात्. यथा सर्वेषां ज्ञानानां जन्यत्वनियमेऽपि परमेश्वरीयज्ञानस्य नित्यत्वं तथा अन्येषां व्यापकानां निराकारत्वेऽपि परं ब्रह्म व्यापकमपि साकारमेव. यथावा नश्वरभावस्य जन्यत्वनियमेऽपि मायिकमते ज्ञाननाश्यायाः भावरूपायाअपि मायायाः अजन्यत्वं तथा इह ब्रह्मणो व्यापकत्वेऽपि न निराकारत्वमिति निरवद्यः पन्था आर्याणाम्. किञ्च मायायाः सान्तानादित्वं प्रमाणवैमुख्यात् शुष्कतर्कनिर्मितम् अवलम्बराहित्याद् विद्वद्भिः पात्यते. अस्मन्मतस्थापितं ब्रह्मणः साकारत्वन्तु निखिलनिगमनिगदितम् इति महद्भिः आद्रियतएव इति अलं लेखेन.

[५. "वस्तुविचारे सर्वस्यापि ब्रह्मत्वाद् विशेषस्तु 'एनम् उद्धरिष्यामि' इति तदा मृदादेः प्रादुर्भूतः" (त.दी.नि.प्र.२।२२८)इति फक्किकाशयनिर्णयः]

निबन्धे सर्वनिर्णये—

तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित्।
परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्र च स्थितम्॥
(त.दी.नि.२।२२८) इति.

अस्य व्याख्याने—

वस्तुविचारे सर्वस्यापि ब्रह्मत्वाद् विशेषस्तु अयम् : 'एनम् उद्धरिष्यामि' इति तदा मृदादेः प्रादुर्भूतः.

इति.

अत्रहि प्रापञ्चिकपदार्थेभ्यो भगवन्मूर्तौ विशेषः प्रतिपादितः. अत्र इदं विचार्यते : *"ननु घटपटादौ यथा चिदानन्दयोः तिरोभावः तथैव भगवन्मूर्तावपि, तत्रापि चिदानन्दयोः अनुपलभ्यमानत्वाद्, घटपटतः को

वा विशेषः स्फूर्तौ?* इति चेत् शृणु! घटपटादौ चिदानन्दयोः तिरोभावो द्रष्टृन् प्रति, घटपटादीन् प्रत्यपि. नहि घटादयः स्वस्मिन् तिरोहितौ चिदानन्दौ उपलभन्ते, स्वनिष्ठज्ञानानुभवाभावात् स्वकीयसुखानुभवाभावात् च. श्रीमूर्तिस्तु स्वस्मिन् वर्तमानौ चिदानन्दौ स्वयम् अनुभवति. अतएव हरिमूर्तिः सर्वज्ञत्वेन सेवमानाय सकलाभीष्टं ददाति. नहि घटपटादीनां स्वसेवन-स्वावज्ञादि-दोषबोधो अस्ति नवा दुःखानुभवः. अतः, तेषां जडत्वात्, तेषु चिदानन्दयोः तिरोभावो अन्येषां विषयो अस्ति. श्रीविग्रहेतु चिदानन्दतिरोभावौ स्वेच्छयैव अन्यान् प्रति जातौ, अन्यान् प्रति विषयौ, स्वस्यतु स्वनिष्ठौ चिदानन्दौ विषयाविति घटपटादिभ्यो वैलक्षण्यम्. भगवन्मूर्तौ ज्ञानशक्तिः सर्वापि विराजते. अतएव कस्मैचिद् भाग्यवते पुरुषाय उत्तमप्रकारेण अधमप्रकारेण वा सेवा वृत्ता इति स्वप्नादौ ज्ञापयति. घटपटादयः परकीयविषयक-स्वविषयकज्ञानशून्याः. अतः चिदानन्दतिरोभाववन्तो 'जड' पदेन व्यवह्रियन्ते. हरिमूर्तिस्तु स्वविषयक-परविषयक-ज्ञानवती दिव्याचिन्त्यालौकिकज्ञानवती भूत-भविष्यद्-वर्तमान-पदार्थविषयक-ज्ञानवती भगवानेव इति वेदज्ञैः व्यवह्रियते. तादृशसर्वज्ञत्वन्तु अचिन्त्यपदार्थबोधनाद् अचिन्त्यकार्यकरणात् च ज्ञायते. अतो अन्येषां बुद्ध्या भगवन्मूर्तौ चिदानन्दतिरोभावसत्त्वेऽपि न वस्तुतः चिदानन्दतिरोभवः. जड़जीवयोस्तु वस्तुतः चिदानन्दतिरोभावः. अतएव अस्मदादिषु आनन्दो न अन्यैः अनुभूयते. अस्माभिरपि न स्वकीयः आनन्दो अनुभूयते. अतो युक्तएव अस्मासु आनन्दतिरोभावः. एवं घटे चैतन्यम् आनन्दः च न अन्यज्ञानविषयो नवा घटविषय — इति तदुभयोः तिरोभावाद् जडत्वम्. श्रीविग्रहेणतु स्वानन्दः स्वचैतन्यं विषयीक्रियतइति महावैलक्षण्यात् न जडत्वलवोऽपि. एवमेव श्रीशालग्रामेऽपि. अतएव गोपालोत्तरतापिन्यारम्भे "विष्णोर(ष्ण्व!)र्चायां शिलाधीः, गुरुषु नरमतिः, वैष्णवे जातिबुद्धिः, विष्णोर्वा वैष्णवानां कलिमलमथने पादतीर्थेम्बुबुद्धिः, मन्त्रे तन्नाम्नि विष्णोः पुरुषकलुषहे शब्दसामान्यबुद्धिः विष्णौ सर्वेश्वरेशे तदितरसमधीः यस्य वा नारकी सः" (?   ) इत्यनेन भगवन्मूर्तौ शिलाबुद्धिमतो नरकप्राप्तिः श्रूयते. "विष्णोः अर्चायां शिलाधीः" इत्यादौ शिलाधिसामान्यबुद्धिः इति अर्थो वक्तव्यः. उत्तरार्धे शब्दसामान्यबुद्धिः इत्यत्र सामान्य पदात् तदेकान्वयिनां तथैव अर्थस्य

उचितत्वात्. तथाच शिलादिबुद्धिः जड़त्वबुद्धिः यस्य स नारकी किन्तु सच्चिदानन्दरूपएव चिदानन्दतिरोभावरहितो भगवान् श्रीकृष्णो जीवोद्धाराय मूर्तिरूपेण प्रकटसच्चिदानन्देन आविर्भूतः इति बुद्धिमन्तो भक्ताः पुरुषोत्तमं प्राप्नुवन्ति इति अवदातो महानुभावानां मार्गः. भक्तिज्ञानरहितानां भगवन्मूर्तौ चिदानन्दस्फुरणाभावस्तु तस्यैव मूर्तिरूपस्य भगवतः इच्छाविशेषेण इति दिक्.

[६. "अज्ञानम् अन्यथाज्ञानं..." (सुबो.कारि.१०।१।०।२८) इत्यत्र अन्यथाज्ञानस्य अन्यख्यातिवादेन सह विरोधो नवा इति शङ्कासमाधानेन निर्णयः]

दशमसुबोधिन्याम् —

अज्ञानमन्यथा ज्ञानं कृष्णगं विनिवार्यते
(सुबो.कारि.१०।१।०।२८) इति.

इदम् इह विमृष्यते : *ननु अन्यथाज्ञानं न प्रमात्मकम् अतो भ्रमरूपं मन्तव्यं, तथा सति अन्यथाख्यातिरेव स्यात्. सातु "संशयोऽथ विपर्यासः" (भाग.पुरा.३।२६।३०) इति तृतीयस्कन्धश्लोकसुबोधिन्यां दूषिता — अन्यख्यातिरेव स्थापिता, सा अन्यथाज्ञानस्वीकारे विरुद्ध्यते!*

इति चेत्, शृणु! "संशयोऽथ विपर्यासः" इत्यत्र बुद्धिवृत्तित्वेन उक्तो यो 'विपर्यास'शब्दाभिधेयो भ्रमः स अन्यख्यातिरेव. तस्याः अन्यख्यातेः, 'भ्रम'शब्दवाच्यायाः, विषयस्य रजतादेः बुद्धिजन्यतास्वीकाराद्, बाह्यत्वाभावेन केवलम् आन्तरत्वेन बुद्ध्यैव गृह्यमाणतया इन्द्रियविषयात् शुक्त्यादिरूपाद्, अन्यस्य रजतादेः ख्यातिः अन्यख्यातिः इति सिद्धान्तात्. तद् उक्तं वेदस्तुतिविवृतौ "रजतन्तु तदनन्तरं बुद्ध्या जन्यते विषयीक्रियते च" (सुबो.१०।८४।३७) इति. विवर्तमते मायाकल्पितम् अनिर्वचनीयं रजतं चक्षुषा गृह्यतइति अनिर्वचनीयख्यातिः तेषाम्. अस्मन्मतेतु शुक्तिरेव नयनैः विषयीक्रियते रजतन्तु बुद्ध्या उत्पाद्यते बुद्ध्यैव गृह्यतइति न चक्षुर्ग्राह्यं रजतम्. ततः चक्षुर्ग्राह्यात् शुक्त्यादेः अन्यस्य रजतादेः ख्यातिः बुद्धिवृत्तिरूपा

अन्यख्यातिः 'भ्रम'शब्दवाच्या.

अन्यथाज्ञानन्तु संशयविपर्यासादिभ्यो भिन्नं मायिकं ज्ञानान्तरमेव नतु भ्रमः. "ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत" (भाग.पुरा.२।९।३३) इति उपक्रम्य "तद् विद्याद् आत्मनो मायाम्" (भाग.पुरा.२।९।३३) इति भगवद्वाक्यात्. अस्मिन् अन्यथाज्ञाने मायाजन्यधर्मयुक्तो विषयो भासते. "घटो भ्राम्यति", "सिता कट्वी", "शङ्खः पीतः" इत्यादौ घटस्य सितायाः शङ्खस्य च प्रत्ययो न बाध्यते; अपितु, घटे भ्रमणं, सितायां कटुत्वं. शङ्खे पीतत्वं विषयतारूपम् अधिकं भातीति स्थिरेऽपि घटे भ्राम्यत्त्वेन, मिष्टायां सितायां कटुत्वेन, श्वेते शङ्खे पीततया, प्रत्ययात् मायिकधर्मयुक्तो भगवद्रूपो घटादिः विषयो भवतीति अन्यथाज्ञानत्वम् एतस्य. शुक्तिरजतस्थलेतु शुक्तिप्रत्ययबाधात् केवलं रजतप्रत्ययो बुद्धौ भवतीति इन्द्रियगृहीतायाः शुक्तेः अन्यस्य रजतस्य ख्यातिः भवतीति न अन्यथाज्ञानं किन्तु अन्यज्ञानमिति अन्यख्यातिरेव. सैव 'भ्रम' शब्दवाच्या, बुद्धिवृत्तिरूपत्वात्. "संशयोऽथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च" (भाग.पुरा.३।२६।३०) इति वाक्ये विपर्यासरूपत्वेन उक्तायाः बुद्धिवृत्तेरेव भ्रमत्वात्. तस्यां ख्यातौ विषयो रजतादिः बुद्धिकल्पितः स आन्तरएव इति उपपादितं ख्यातिविवेके.

अन्यथाज्ञानेतु विषयो बाह्यः चक्षुरादीन्द्रियगृहीतव्यः. यथा प्रमात्मके ज्ञाने सितायां रसनेन्द्रियगृहीतायां तदीयं वास्तवं मिष्टत्वं रसनया गृह्यते; एवं, सितायां रसनेन्द्रियगृहीतायाम् उपाधिविशेषपित्तादिदोषवशाद् आगन्तुकम् अवास्तवमपि कटुत्वं विषयतारूपं गृह्यते. एवं मिष्टत्वज्ञानाभावं सम्पाद्य कटुत्वेन सितायाः प्रत्ययं प्रकटयन्ती माया स्वचमत्कृतिं दर्शयति, तदेतद् अन्यथाज्ञानम्. अतएव सुबोधिन्यां भणितम् "अन्यत्र अन्यविषयतां सम्पादयति" (सुबो.२।९।३३) इति, अन्यस्मिन् घटादौ अन्यस्य चक्षुषः विषयतारूपं भ्रमणं सम्पादयति इति अर्थः. तद् उक्तं तत्रैव सुबोधिन्याम् "अन्यत्र स्थिता भ्रमिः अन्यत्र आनीयते" (सुबो.२।९।३३) "तया व्यामोहिता बुद्धिः पदार्थान् अन्यथा मन्यते" (सुबो.२।९।३३) इति च. अन्यथा यदि भ्रमद्घटो भिन्नएव मायया उत्पादितः स्यात् तदा अन्यत्र स्थिता भ्रमिः अन्यत्र

आनीयते इति न उक्तं स्याद्, भ्रमिसहितस्यैव मायया उत्पादितत्वात्, पुनः भ्रमेः आनयने प्रयोजनाभावात्. "विषये विषयता काचित् स्वीकर्त्तव्या" (सुबो.२।९।३३) इत्यपि न उच्येत, भ्रमणविशिष्टस्य घटान्तरस्यैव त्वया अङ्गीकृतत्वाद्, भ्रमदृष्टेः तादृशघटविषयत्वेन सविषयत्वात् निर्विषयतायाः अनवसरपराहतत्वात्. अतो "घटो भ्राम्यति" इत्यादिरूपे अन्यथाज्ञाने विषयः सएव घटः; परं, मायया विषयतारूपं भ्रमणं तत्र निक्षिप्यते. ततो विषयताविशिष्टं घटं दृष्ट्वा "घटो भ्राम्यति" इति अन्यथाज्ञानम् उद्भवति.

एवं प्रकृते : श्रीकृष्णे परब्रह्मणि परमतत्त्वरूपे स्वेच्छया सकलदृग्गोचरेऽपि ये ज्ञानभक्तिरहिताः तेषाम् "अयं मनुष्यः" इति मनुष्यत्वेन बोधः, तदिदम् अन्यथाज्ञानम्. अतएव "मायामनुष्यस्य" (भाग.पुरा.१०।१।७) इति श्लोकसुबोधिन्यां तथाप्रतीतिविषयस्य इति उक्त्या अन्यथाज्ञानम् उक्तं भगवद्विषयकम्. "माययैव रूपान्तरम्" ( ) इत्यस्य टिप्पण्यां "रूपान्तरत्वेन भानम्" ( ) इति व्याख्याय अन्यथाज्ञानं प्रदर्शितम्. येतु शास्त्रेण श्रीकृष्णं परं ब्रह्म जानन्ति तेषां भगवति मायया मनुष्यधर्मभानेऽपि न मनुष्यत्वनिर्द्धारइति न तेषां भ्रमः; किन्तु, अन्यथाज्ञानमात्रं मायया. तदपि शास्त्रोत्थेन परब्रह्मत्वबोधेन बाध्यतएव. अतो बुद्धौतु तेषां पुरुषोत्तमज्ञानं प्रमात्मकमेव. ये पुनः बहिर्मुखाः तद्बुद्धेः मायया व्यामोहितत्वात् पुरुषोत्तमत्वनिर्द्धाराभावात् केवलमनुष्यत्वेन भानाद् अन्यथाज्ञानत्वमेव.

एवं सति सिद्धम् एतत् : मायाकल्पितमिथ्याधर्मयुक्तस्य सत्यपदार्थस्य चक्षुरादिभिः बहिर्भानं यत् तद् अन्यथाज्ञानं, बुद्धिकल्पितस्य रजतादेः केवलम् अन्तरेव भानं भ्रमः इति अन्यथाज्ञान-भ्रमयोः विवेकः.

तत्र अन्यथाज्ञानं द्विविधं लौकिकालौकिकविषयभेदात् :—

(१)लौकिके "शङ्खः पीतः" इत्यादौ पीतत्वेन भानं मायानिर्मितपीतत्ववैशिष्ट्येन जायते, शङ्खे पीतत्वस्य मायाकार्यत्वात्.

(२)भगवति परब्रह्मणि श्रीकृष्णे यत् मनुष्यत्वेन भानं तद् अन्यथाज्ञानम्. परं तत्र मायया न मनुष्यत्वम् उत्पाद्यते किन्तु भगवानेव स्वमायया जीवानां बुद्धिं व्यामोहयित्वा स्वस्मिन् मनुष्यत्वज्ञानं सम्पादयति. अतो न भगवति मनुष्यत्वं नवा शरीरीत्वम्.

अतएव अन्तस्तद्धर्माधिकरण(ब्र.सू.भा.१।१।१९)भाष्ये : ब्रह्मण: शरीरं न अङ्गीकृतम्. सर्वसमर्थस्य ब्रह्मणः का वा अनुपपत्तिः! येन स्वस्यापि शरीरं कल्पयेत् किन्तु लीलार्थम् अन्यथा प्रदर्शयेत् नटवद् इति उक्तम्. तेन भगवता प्रदर्शितं मनुष्यत्वं जीवप्रत्ययगोचरो भवति. तदेतद् अन्यथाज्ञानम्. अतो न मायिकं शरीरं हरौ अङ्गीकर्तव्यम्; अपितु, केवलानन्दविग्रहएव मायया अन्यथा प्रतीयते. तन्निवृत्तिप्रकार: सुबोधिन्यां पठितो "अज्ञानमन्यथाज्ञानं कृष्णगं विनिवार्यते" (सुबो.कारि.१०।१।०।२८) इत्यनेन निखिलं निरवद्यम्.

[७. "गायत्री च तथाच्छन्दः"(पुरु.सह.ना.स्तो.५) इत्यत्र उपलभ्यमानानुष्टुप्छन्दोबद्धे अस्मिन् स्तोत्रे नाम्नामेव गायत्री छन्दः इति निर्णयः]

पुरुषोत्तमसहस्रनामस्तोत्रे —

"गायत्री च तथाच्छन्दः"
(पुरु.सह.ना.स्तो.५) इति.

ननु प्रत्यक्षतः इह अनुष्टप्छन्दसः उपलभ्यमानत्वात् कथम् उक्तं "गायत्री च तथाच्छन्दः" इति चेत्, शृणु! इहहि "गायत्री च तथाच्छन्दः" इति उक्तिस्तु न सहस्रनामग्रन्थापेक्षया, प्रत्यक्षतो अनुष्टुप्छन्दसैव सहस्रनामग्रन्थनिर्माणात्. अस्मिन् ग्रन्थे यानि भगवतः सहस्रनामानि "श्रीकृष्णः सच्चिदानन्दो नित्यलीलाविनोदकृत्" (पुरु.सह.ना.स्तो.९) इत्यारभ्य "श्रीभागवतरूपश्च सर्वार्थिफलदायकः" (पुरु.सह.ना.स्तो.२४८) इत्यन्तानि मन्त्ररूपाणि तेषां गायत्री छन्दः. तथाच प्रत्येकं नाम्नां गायत्री छन्दः इति ज्ञेयम्.

अतएव उक्तं "कृष्णनामसहस्रस्य ऋषिरग्निर्निरूपितः, गायत्री च तथाच्छन्दः" (पुरु.सह.ना.स्तो.५) इति. अनेन नामसहस्रस्य गायत्री छन्दो नतु ग्रन्थस्य इति बोधितम्. भगवन्नाम्नां मन्त्ररूपत्वाद् भगवन्मन्त्रस्य गायत्रीच्छन्दस्कत्वात्. भगवन्मन्त्राणां गायत्रीच्छन्दस्कत्वं गौतमीयतन्त्रे उक्तम्. तथाहि गौतमीये महामन्त्रे षड्विंशाध्यायसमाप्त्यनन्तरम् एवं दृश्यते —

श्रीनारद उवाच

कामश्चाऽष्टसमारूढः सर्गवान्मन्त्रनायकः।
'कृष्णे'ति द्व्यक्षरः प्रोक्तः कामपूर्वो गुणाक्षरः॥
कामाद्यन्तश्चतुर्वर्णश् चतुर्वर्गफलप्रदः।
ङेऽन्तः कृष्णो नमोऽन्तश्च पञ्चवर्णो महामनुः॥
सएव कामपूर्वश्चेत् षडक्षरमनुः स्मृतः।
एवं जप्त्वा त्रिकालज्ञः शातातपमुनीश्वरः॥
अस्य संस्मरणादेव सार्वज्ञ्यं कवितां पराम्।
लभते नाऽत्र सन्देहः सत्यं-सत्यं हि मद्वचः॥
कृष्णगोविन्दकौ ङेऽन्तौ कामाद्यष्टाक्षरो मनुः।
आद्यन्ते कामबीजश्चेत् नवाक्षरमनुर्मतः॥
सुप्रसन्नात्मते(?) वह्निवल्लभा अष्टवर्णकः।
कामबीजं धराबीजं पुनः कामं समुच्चरेत्॥
श्यामलाङ्गप्रदं ङेऽन्तं नमोन्तोऽयं दशाक्षरः।
एतेषां मनुवर्याणां नारदो मुनिरीरितः॥
उक्तं छन्दस्तु गायत्री बालकृष्णोऽस्य देवता।
(गौत.म.मन्त्र.अ.२६) इत्यन्तेन.

"कृष्णाय नमः" इत्यादिमन्त्राणां गायत्री छन्दः इति निरूपितम्. नहि गायत्री छन्दो वर्णविचारे सर्वेषां "कृष्णाय नमः" इत्यादिमन्त्राणां सम्भवति. अत्रैव उक्तेषु कस्यचिद् द्व्यक्षरत्वात्, कस्यचित् पञ्चाक्षरत्वात्, कस्यचित् षडक्षरत्वात्, कस्यचिद् अष्टाक्षरत्वात्, कस्यचिद् दशाक्षरत्वात्.

ततो अत्र भगवन्मन्त्राणां गायत्रीच्छन्दस्कत्वम् अनुशासनिकं बोद्धव्यम्. "एतेषां मनुवर्याणां नारदो मुनिरीरितः, उक्तं छन्दस्तु गायत्री बालकृष्णोऽस्य देवता" इति श्रीनारदानुशासनात्. एवं सहस्रनामग्रन्थेऽपि यानि सहस्रं नामानि तेषां गायत्रीच्छन्दः. तेषां मन्त्ररूपत्वात्. तथाच यानि अस्मिन् सहस्रनामग्रन्थे सहस्रं नामानि तेषां गायत्री छन्दो ग्रन्थरूपस्य सहस्रनामस्तोत्रस्य अनुष्टुप्छन्दः इति उभयविधतास्वीकारे न कश्चिद् दोषः. उभयविधतासूचनार्थमेव "गायत्री च तथाच्छन्द" इत्यत्र 'च'कारः उक्तः इति दिक्.

इति श्रीमद्गोवर्धनधर-श्रीवल्लभाचार्य-श्रीविट्ठलेश्वर-चरणानुचरसेवकेन
लालूभट्टोपनाम-बालकृष्णेन कृते निर्णयार्णवे
चतुर्थः तरङ्गः सम्पूर्णप्रायः[३]

(इति उपलब्धो निर्णयार्णवः)



॥ पाठभेदतालिका॥

१.इह मुद्रिते पाठे "अभिमार्ष्टुमुपाजहार" इति पादोत्तरार्धः प्रमादपतितो भाति.
२.इह मुद्रिते पाठे 'मुरलीधरम्' इति उपलभ्यते उपनिषदि परं तन्न उपलभ्यते.
३.इह आद्यसम्पादकीया पादटिप्पणी— "इतिश्री..." इत्यादिसमाप्तिलेखानुपलम्भेऽपि तरङ्गस्य ग्रन्थबाहुल्येन परिसमाप्ततानुमानात् 'प्रायः'पदोपादानेन सम्पूर्णत्वोल्लेखः.

॥ श्रीगिरिधारी तनोतु मङ्गलानि ॥

॥ सेवाकौमुदी ॥

❋ प्रथमं प्रकरणम् ❋

श्रुतिसिद्ध[१]-रसाम्भोधि-रासमण्डल-मण्डनम्॥
गोपिकानयनानन्दं गोवर्धनधरं भजे॥१॥
श्रीवल्लभपदाम्भोज-रजांसि प्रणमाम्यहम्॥
यत्सम्पर्काद् व्रजाधीशप्रेमसेवां जनोऽश्नुते॥२॥
श्रीविठ्ठलेश्वरं वन्दे कृष्णसेवाप्रवर्तकम्।
येन गोवर्धनाधीशः सख्येनात्मवशीकृतः॥३॥

[ग्रन्थोपक्रमः]

अथ पुष्टिमार्गीया सेवा किम्प्रमाणमूलिका इत्यादिविचारः आरभ्यते.

[सेवायाः प्रामाणिकत्वसिद्ध्यर्थं श्रीभागवतस्य प्रमाणमूर्धन्यत्वसाधनम्]

तत्र "सर्ववेदेतिहासानां" (भाग.पुरा.१।३।४२) "निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्" (भाग.पुरा.१।१।३) इत्यादिवचस्सहस्रैः सर्वश्रुतिसारभूतत्वाद् निखिलप्रमाणमूर्द्धन्यता समाधिभाषारूपस्य श्रीभागवतस्य अभ्युपेया. निबन्धेच "वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि" (त.दी.नि.१।७) इति सन्दर्भे "उत्तरं पूर्वसन्देहवारकं परिकीर्तितम्" (त.दी.नि.१।८) इत्यनेन सर्वसन्देहवारकत्वं श्रीभागवतस्यैव निरणायी.

[तत्र भगवदेकार्पितायाः नवविधभक्तेः मुख्यतायाः उपदेशः]

तत्रच "श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्, अर्चनं वन्दनं

दास्यं सख्यम् आत्मनिवेदनम्, इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेत् नवलक्षणा, क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्'' (भाग.पुरा.७।५।२३-२४) इत्यनेन नवविधभक्तेरेव मुख्यतया कर्त्तव्यता उपदिश्यते. नवलक्षणा श्रवणादि-निवेदनान्ता भक्तिः भगवति अर्पिता क्रियते चेत् तद् अधीतम् उत्तमं मन्ये इति अन्वयः. तथाच ''अर्पिता क्रियते'' इति उक्त्या भक्तेः अर्पितकरणं विवक्षितम्. नतु अर्पितायाः कृतिविषयत्वम्. ''चकार तद्र्थ्यैव हताश्वकुञ्जरम्'' (भाग.पुरा.१०।५६।१६) इत्यादौ भूतार्थक'क्त'प्रत्ययार्थ-विवक्षया सैन्यगताश्व-कुञ्जर-विषयक-हननस्य कृतिविषयत्वं नतु हतानां तथा इहापि. अर्पणञ्च इह स्थापनं, ''यन्मेऽर्पितः शिरसि पद्मकरप्रसादः'' (भाग.पुरा.७।९।२६)इत्यादौ तथा सिद्धेः. एवं सति नवविधायाअपि भक्तेः भगवति अर्पणं, स्थापनं, नतु फलान्तरे विनियोगः कार्यः, इति भावः.

[भक्तौ सर्वेषामेव अधिकारः]

इह वाक्ये 'पुंसा' इति सामान्यनिर्देशात् सर्वाधिकारकत्वं भक्तेः. अत्रैव नारदोऽपि ''श्रवणं कीर्तनं चाऽस्य स्मरणं महतां गतेः, सेव्येज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मनिवेदनं, नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः'' (भाग.पुरा.७।११।११-१२) इति अवदत्. अतोऽपि सर्वेषां भक्तौ अधिकारः.

[नवविधभक्तिस्वरूपम्]

(१)तत्र भगवदीयवक्तृमुखाद् भगवज्-जन्म-नाम-स्तोत्रादीनां श्रद्धया आकर्णनं श्रवणं, ''शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणेः जन्मानि कर्माणि च यानि लोके'' (भाग.पुरा.११।२।३९) इत्यादौ जन्मकर्मणां श्रवणविषयत्वोक्तेः, उपलक्षणविधया नामादीनाञ्च संग्रहाद् वाक्यान्तरेषु उक्तत्वात् च.

(२)भगवन्-नाम-कर्म-स्तोत्रादीनां श्रद्धया कथनं कीर्तनं, ''गृणन्ति गुणनामानि कृष्णस्याऽनुस्मरन्ति च'' (भाग.पुरा.१।५।३६), ''गीतवेणुरनुगेडित-कीर्तिः'' (भाग.पुरा.१०।३२।२२) इत्यादिना नामकर्मादीनां कीर्तनविषयत्वोक्तेः.

(३)भगवत्-स्वरूप-लीला-परिकरादीनां श्रद्धया चिन्तनं स्मरणं, ''स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिं'' (भाग.पुरा.११।३।३१) ''स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः'' (भाग.पुरा.१।८।३६) इत्यादौ स्मरणविषयत्वेन रूपलीलादीनाम् उक्तेः.

(४)निरन्तरं श्रद्धया परिचर्या पादसेवनम्. 'पादसेवन' शब्देन सर्वापि परिचर्या, नतु चरणसेवामात्रं, नारदोक्त-नवविध-भक्तौ ''सेवेज्या...'' (भाग.पुरा.७।११।११) इत्यनेन सेवामात्रस्य ग्रहणात्.

(५)माहात्म्यबुद्ध्या लोकविलक्षणोपचारकरणम् अर्चनम्.

(६)स्वदैन्याविष्कारपूर्वकं श्रद्धया नमनं वन्दनम्.

(७)अनन्यगामित्वं दास्यम्.

(८)श्रद्धया भगवति अप्रेरितप्रियकरणं सख्यं, ''सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति'' (भग.गीता.५।२९) इति गीतावाक्ये 'सुहृत्' पदार्थस्य तथा निर्णयात्. चतुर्थस्कन्धे ''चरन्तं विश्वसुहृदं वात्सल्याद् लोकमङ्गलम्'' (भाग.पुरा.४।६।३५) इत्यत्र विश्वसुहृत्त्वाद् विश्वहितकारित्वम् उच्यते. दशमस्कन्धे ''कुर्वन् पारोक्ष्यसौहृदम्'' (भाग.पुरा.१०।७५।१) इत्यादौ अप्रेरित-हित-करणस्य सुहृद्धर्मत्वेन उक्तत्वात्. अन्यत्रापि सख्ये अप्रेरित-हित-करणस्य श्रूयमाणत्वाद्; यथा, ''वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा'' (भाग.पुरा.१०।४३।१) इति वाक्याद् भगवत्सखः श्रीमदुद्धवो बाल्यम् आरभ्य सपर्यां कृतवान्. तस्यां दशायाम् इतरप्रेरणासम्भवाद् अप्रेरितैव सपर्याकृतिः इति ज्ञेयम्. ''यः पञ्चहायनो मात्रा प्रातराशाय याचितः, तन्नैच्छद् रचयन् यस्य सपर्यां बाललीलया'' (भाग.पुरा.३।२।३) इति उद्धवप्रशंसक-तृतीयस्कन्ध-वाक्यात्. अतएव ''दृष्ट्वातपे व्रजपशून् सह रामगोपैः सञ्चारयन्तमनुवेणुमुदीरयन्तं, प्रेमप्रवृद्धमुदितः कुसुमावलीभिः सख्युर्व्यधात्

स्ववपुषाम्बुद आतपत्रम्'' (भाग.पुरा.१०।१८।१६) इत्यनेन अम्बुदस्य स्वसख्यौ भगवति अप्रेरित-प्रियकरण-रूपम् आतपनिवारक-च्छायाकरणं श्रुतिगोपिकाभिः निरूपितम्. किञ्च, ''कराविव शरीरस्य नेत्रयोरिव पक्ष्मणी, अप्रेरितं प्रियं कुर्यात् तन्मित्रं मित्रमुच्यते'' (लौकि.सुभा.)इति लोकन्यायात् च 'सख्य' शब्दाभिधेयम् अप्रेरित-प्रिय-करणम् इति इह आदर्तव्यं, ''शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च'' (न्या.सि.मु.८१)इत्यनेन व्यवहारतोऽपि शक्तिग्रहस्वीकारात्. श्रीधरस्वामिनोऽपि ''सख्यं विश्वासादि'' (   )इति उक्त्वा 'आदि' शब्देन अस्मदुक्तार्थमेव सञ्जगृहुः.

तद् इह भगवन्मूर्तिं सेवमानेन क्रियमाणाः तत्तद्देशकालानुकूलोपचाराः तूलकञ्चुक-चन्दनलेपन-प्रभृतयो, ''मालया दयितगन्धतुलस्या'' (भाग.पुरा.१०।३२।१८) इत्यादिवाक्यसिद्धाः. तुलस्यादयश्च भगवतः प्रियरूपा बोध्याः. अप्रेरितत्वन्तु विधायक-वचन-विषयत्वाभावः. तथा सति मन्त्रादिभिरेव उपचाराः विधेयाः इति आग्रहो न रक्षणीयः. तद् उक्तं निबन्धे ''मन्त्रमात्रपूजापरो न भवेद्'' (त.दी.नि.प्र.२।२३७) इति.

(९)आत्मनो जीवस्य सपरिकरस्य निवेदनं भगवत्सेवोपयोगिकरणम् आत्मनिवेदनम्. परिकरस्तु ''दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत् परस्मै निवेदनम्, एवं धर्मैः मनुष्याणाम् उद्धवात्मनिवेदिनाम्'' (भाग.पुरा.११।३।२८) इति एकादशे भगवद्वाक्याद् देहादयो दारादयः च अहन्ताममतास्पदभूताः. तत्सहितस्य आत्मनो भगवत्सेवोपयोगिकरणं विवक्षितम्.

तत्र ''क्रीड़ार्थम् आत्मन इदं त्रिजगत् कृतं ते'' (भाग.पुरा.८।२२।२०) इति वाक्याद् निखिलप्रपञ्चस्य भगवदीयतायाः सिद्धत्वेन, किं नाम निवेदनम्! इति भवति शङ्का. तत्र अयं सिद्धान्तो — देहादेः भगवदीयत्वेऽपि जीवस्य मायामोहित-बुद्धित्वाद् देहादौ स्वकीयत्वाध्यासरूपो दोषो निवेदनप्रतिबन्धकः. तन्निवृत्तिः अपेक्षिता. अष्टमस्कन्धे विन्ध्यावल्या ''क्रीड़ार्थमात्मन इदं त्रिजगत् कृतं ते'' (भाग.पुरा.८।२२।२०) इत्यनेन क्रीड़ार्थं प्रपञ्चनिर्माणम् उक्त्वा

''स्वाम्यन्तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः'' (भाग.पुरा.८।२२।२०) इत्यनेन मायोत्थ-मोहजन्य-कुधीत्व-प्रयुक्तं जीवानां देहादि-विषयक-स्वाम्याभिमानकरणम् अध्यासरूपम् उक्तम्. अतो अध्यासः परिहरणीयः. तथाच सिद्धम् इदं लक्षणं : स्वकीयत्वाध्यास-निवृत्तिपूर्वक-भगवदीयत्वबुद्धि-सम्पादनेन देहादीनां भगवत्सेवोपयोगिकरणम्=आत्मनिवेदनम्.

[नवविधभक्तीनां प्रेमात्मकभक्तिसिद्ध्यर्थं विनियोगः]

एवं नवविधा भक्तिः प्रेमात्मक-भक्ति-सिद्धये कर्तव्या, प्रेमलक्षणायाः भक्तेः फलरूपत्वाद्, ''राद्धं निःश्रेयसं पुंसां मत्प्रीतिः तत्त्वविन्मतम्'' (भाग.पुरा.३।९।४१) इति, ''अतो मयि रतिं कुर्याद् देहादिर्यत्कृते प्रियः'' (भाग.पुरा.३।९।४२) इति भगवद्वाक्यात्. द्वितीयस्कन्धे ''भगवान् ब्रह्म कात्स्न्र्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया, तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन्यतो भवेद्'' (भाग.पुरा.२।२।३४) इति निर्णीतत्वात्, ''प्रेमसेवातएव स्याद् विशिष्टव्यक्तिरुत्तमा'' (त.दी.नि.२।९२)इति निबन्धवाक्यात् च. एवं सिद्धे प्रेमलक्षणायाः फलत्वे ''केन साधनेन सा स्याद्?'' इति आकाङ्क्षायां पूर्वोक्त-नवविध-भक्त्या सा सिद्ध्यति इति अवधेयम्. ''भक्त्या सञ्जातया भक्त्या'' (भाग.पुरा.११।३।३१) ''उद्धवात्मनिवेदिनां, मयि सञ्जायते भक्तिः'' (भाग.पुरा.११।१९।२४) इत्यादिवाक्यात्. उक्तञ्च निबन्धे ''...प्रेम च साधनं, तत्साधनं नवविधा भक्तिः'' (त.दी.नि.प्र.२।२२०) इति. अन्यत्रापि ''श्रीवल्लभाचार्यमते : फलं तत्प्राकट्यम्, अत्राव्यभिचारिहेतुः प्रेमैव, तस्मिन् नवधोक्तभक्तिः, तत्रोपयोगोऽखिलसाधनानाम्'' (वैष्ण.वा.२५२।१।५) इति.

[एतस्याः नवविधभक्तेः स्वमार्गे अनुष्ठानरीतिः]

अतएव श्रीवल्लभाचार्यमतानुवर्तिभिः इयं नवधा भक्तिः अनुष्ठीयते.

तथाहि :—

श्रीभागवत-श्रीमदाचार्योदित[१]- सुबोधिन्यादि भगवन्नाम च श्रूयते.

श्रीभागवत-भगवद्गीता-भगवदीयविरचित-संस्कृतप्राकृतस्तोत्रादि पठ्यते, शरण-समर्पण-मन्त्र-भगवन्नामानि च आवर्त्यन्ते तत् कीर्तनरूपम्. बृहद्वन-वृन्दावनाद्यधिकरणक-लीलाविशिष्टः श्रीकृष्णो जपसमयादिषु स्मर्यते. भगवन्मन्दिर-मार्जन-वस्त्रप्रक्षालनादिकञ्च पादसेवनरूपा भक्तिः. पञ्चामृत-स्नाना-ऽधिवासन-संकल्प-देवोत्थापन-मन्त्रादि नैमित्तिकं, धूपदीपशङ्खोदकादिकं प्रात्याहिकं च अर्चनरूपा भक्तिः. इयं न पूजामार्गीया पूजा, भक्तिप्रकरणे पठितत्वात्. "भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत माम्" (भाग.पुरा.११।२७।५३) इत्यादिवाक्यैः पूजा-भक्त्योः पृथक्त्वावगमात्. वन्दनन्तु दैन्यरूपं स्पष्टम्. भगवदुपभुक्तशिष्टा-ऽन्न-वासः-स्रग्-गन्धैकोपजीविताहि[3] अनन्यगामित्वरूपं दास्यं, "त्वयोपभुक्तस्रगगन्धवासोऽलंकारचर्चिताः, उच्छिष्टभोजिनो दासाः तव मायां जयेमहि" (भाग.पुरा.११।६।४६) इति वाक्ये दासधर्मतया तदुपभुक्तान्नादि-ग्रहणस्य उक्तत्वात्. दिवा-रात्रौ तत्तत्कालोचित-तूलकञ्चुक-चन्दनलेपनाद्यर्पणं प्रातरारभ्य उत्तमपक्वान्न-पयो-दधि-माहिषपयःशर-सन्धान-नवनीतादि-विचित्रनैवेद्य-निवेदनं सख्यरूपा भक्तिः इति ज्ञेयम्. इयञ्च पुष्टिमार्गीयैः बहुधा सदैव अनुष्ठीयते. अस्यांहि वैधमन्त्र-न्यासविधायक-वाक्य-नियमाभावः. एतदभिसन्धायैव उक्तं भगवता "यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः, तत्तन्निवेदयेद् मह्यं तदानन्त्याय कल्पते" (भाग.पुरा.११।११।४१) इति. इह 'यद्-यद्' इति सामान्यनिर्देशात् न प्रातिस्विकरूपेण नोदनापेक्षा किन्तु उत्तमम् अनिषिद्धं भोग्यं पयोदध्यादि, परिधेयम् अम्बरादि, लेप्यं चन्दनादि, च यथादेशं यथाकालं भगवते समर्पणीयम् इति उपदेशः. तथा सति प्रातिस्विकरूपेण विध्यलाभेऽपि सामान्यविधिना क्रोडीकारात् न अविहितत्वदोषः. 'इष्टतमम्' इति 'तमब्' ग्रहणेन अनिष्टासम्भिन्नम् इष्टम् आदेयम्. अनिष्टासम्भिन्नत्वन्तु लोकवेदाद्यगर्हितम्. अतएव लोके सुस्वादुत्वेन प्रशस्तस्यापि कलञ्जस्य नार्पणं, "न कलञ्जं भक्षयेद्" (   ) इति निषेधेन इष्टतमत्वप्रतिरोधात्. वृन्ताकादेः निषिद्धत्वेऽपि व्यवस्थापक-वचनान्तरेण अनिषिद्धत्वाद् लोकेऽपि स्वादिष्टत्वेन अभ्यर्हितत्वात् निवेदनम्. मूलकादेः व्यवस्थापक-वाक्यान्तरेण वृन्ताकसमकक्षत्वेऽपि न भगवदर्पणं, दुरुद्गारत्वादिना लोके गर्हितत्वात्. तद् एवं लोकवेदादूषितम्

उत्तमं भगवते समर्पणीयम् इति सिद्धम्. तथा उक्तं निबन्धे "यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः, येन स्यान्निर्वृतिश्चित्ते तत् कृष्णे साधयेद् ध्रुवम्" (त.दी.नि.२।२३६) इति. [x]अतएव उक्तम् अन्यत्रापि "आत्मनः पूर्वसंस्कारः स्नानदानादिकर्मभिः, यथा देहे तथा देवे शयनोत्थानमासनम्" (   ) इति[x]. अतो यद् लोकवेदाद्यगर्हितं, लोके इष्टं, यत् च शास्त्रद्वारा भगवत्प्रियत्वेन अवगतं तत् कृष्णाय अर्पणीयम् इति सख्यभक्तिस्वरूपम् अवधेयम्. तथा उक्तं सुबोधिन्याम् "हरिण्योऽप्सरसो गाव" (सुबो.कारि.१०।१८।११।१८) इति सन्दर्भे मेघभावनिरूपणे—

उत्कर्षश्चापि वैराग्ये हरेरपि हरिर् यदि।
भक्त्या च तादृशत्वञ्च सा सेवा सेवकोचिता॥
(सुबो.कारि.१०।१८।११।२६) इति.

अर्थस्तु : हरेः सर्वदुःखहर्तुर् अपि **यदि हरिः** सर्वदुःखहर्ता स्यात्, तदा तस्मिन् पुरुषे वैराग्योत्कर्षो ज्ञेयो, यतः इदं वैराग्यकार्यं, मोक्षान्तफलेषु रागाभावे प्रभुसुखैकाकाङ्क्षायाम् एतादृग्भावोदयात्. स भावः कथं स्याद्? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः **भक्त्या च** इत्यादि, स्नेहेन तादृशत्वं भगवद्-दुःखहर्तृत्वरूपो भावः[5] स्याद् इति अर्थः. उपदिशन्ति : **सा सेवा** इत्यादि, **सा** मेघकर्तृका सेवा भगवद्दुःखहरणरूपा सेवकस्य पुष्टिस्थस्य उचिता कर्तव्या इति अर्थः.

इयञ्च सख्यरूपा, "सख्युर्व्यधात् स्ववपुषाऽम्बुद आतपत्रम्" (भाग.पुरा.१०।१८।१६) इति वाक्यात्. तथापि सर्ववस्तूनां लोकवेदाद्यगर्हितत्वं प्रभुप्रियत्वं च आकलयितुम् अशक्यम् अतो मार्गप्रवर्तकाचार्य-तत्तनुज-पद्धत्या भगवान् सेवितव्यः, "आचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति" (भाग.पुरा.११।२९।६) इति एकादशवाक्यात्, "साधूनां समयश्चापि प्रमाणं वेदवद् भवेद्"

( ) इति. साधवोहि स्वयं कृतार्थीभूय परान् कृतार्थयन्ति. तद् उक्तं दशमस्कन्धे गर्भस्तुतौ "स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन् भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते निधाय याताः सदनुग्रहो भवान्" (भाग.पुरा.१०।२।३१) इति. इह "सदनुग्रहो भवान्" इत्यनेन भगवतः सत्पुरुषविषयकानुग्रहवत्त्वाद् उक्तपथा प्रचरतः प्रभुः कृतार्थयति इति अर्थः सिद्ध्यति. अतः पूर्वोक्तं सुस्थम्.

एतत्सेवासरणौ मन्दिरमार्जन-वस्त्रप्रक्षालनादयः पादसेवनरूपाः, पञ्चामृताद्युपचाराः अर्चनभक्त्यात्मकाः स्नेहविलक्षणाः; तथा, विचित्रवासोऽलङ्कार-नैवेद्यार्पणादयः सख्यभक्त्यात्मकाः. एतद्भक्तित्रयबहुला सेवनरीतिः इति दिक्.

देहप्राणेन्द्रियान्तःकरणानि स्त्रीपुत्रगृहाप्तवित्तानि प्रभुसेवैकोपयोगीनि क्रियन्ते तत् निवेदनरूपा नवमी भक्तिः. तथा उक्तम् एकादशस्कन्धे योगीश्वरप्रसङ्गे कविना —

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद्यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत् तत्॥
(भाग.पुरा.११।२।३६)

अस्य अर्थस्तु प्रभुचरणैः व्याख्यातः. बोधसौकर्याय तदनुसारेण इहापि लिख्यते :—

कायादिकृतं पूजा-नामग्रहण-स्मरणादि फलान्तरापेक्षाराहित्येन भगवदर्थं चेद् विनियुक्तं तदा स भागवतो धर्मः. तत्र न केवलं विहितमेव कायादिकृतं भगवत्यर्पितं सद् भगवद्धर्मः; किन्तु, अनुसृतस्वभावात् साहजिकप्रकृतेः कृतं लौकिकमपि भगवदर्पितं सद् भगवद्धर्मो भवति इति अर्थः. इन्द्रियत्वाविशेषेऽपि वाङ्मनसोः विशिष्टकार्यम् आदाय पृथग्

गृहणम्. नारायणाय इति निमित्ते चतुर्थी, अनुसृतस्वभावात् कायादिना यत् करोति विधिबलात् च यत् करोति तत् सर्वं नारायणाय समर्पयेत्, नारायणार्थम् अनिषिद्धं स्वाभाविकं वैधञ्च कुर्याद् इति अर्थः. तथा सति ब्राह्ममुहूर्तम् आरभ्य वैधक्रिया-लौकिकक्रिये भगवदुपयोगिबुद्ध्यैव कार्ये. एवं सति उपरुद्धेन पूजादिकरणे अपचारः स्यादिति तन्निवृत्तये मूत्राद्युत्सर्गो नतु शरीरनिर्बन्धभावम् उद्दिश्य. पाकाद्युपयोगि-वागादिव्यापारोऽपि पाकादेः भगवद्भोगसाधकत्वेन. तथा अन्यानि पूजोपकरणानि रक्ष्यन्ते; तथा, स्वदेहस्यापि परिचर्यासाधकत्वेन रक्षा. स्त्रीपुत्रादेरपि सेवासाधनतया पोषणं नतु रागेण. परिचर्यानुपयुक्तपितृमात्रादेः पोषणं पापापकीर्तिभय-जनित-प्रभुसेवाशैथिल्याभावाय. एवं निद्रापि तदभावकृत-शरीरालस्यरूप-पूजाप्रतिबन्ध-निवृत्तये नतु सुखार्थम् इत्यादि ऊह्यम्. अनयैव रीत्या सर्वं लौकिकव्यवहारजातं भगवत्पर्यवसितं कर्तव्यम्. स भागवतो धर्मो भवति इति श्लोकार्थः फलितः.

अतएव भगवता उक्तम् "यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्, यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्" (भग.गीता.९।२७) इति. इह "यत्करोषि यदश्नासि" इत्यनेन सामान्यग्रहणाद् उपलक्षणविधया लौकिकक्रियाणां सर्वासां ग्रहणम्. "यज्जुहोषि" इत्यादिना वैधक्रियामात्रस्य. तथाच लौकिक-वैदिक-क्रियामात्रं मदर्पणं यथा स्यात् तथा कुरुष्व इति भगवदभिप्रायः. प्रभ्वर्पणन्तु पूर्वोक्तरीत्यैव भवति इति ज्ञेयम्. अयमेव निवेदनपदार्थः. अतः इयं निवेदनरूपा भक्तिः परमभाग्यभाजां श्रीकृष्णानुग्रहविशेषवतामेव सिद्ध्यति इति सहृदयैः विभावनीयम्.

[सिद्धान्तनिष्कर्षः]

तथाच सिद्धम् एतत् : कोविदैः भगवदङ्गीकृतैः निरन्तरम् आचरणीया

भगवद्भक्तिः, "तं ध्यायेत् तं भजेद्" (गो.पू.ता.उप.२।१३) इति, "परं ब्रह्मैतद् यो ध्यायति रसति भजति सोऽमृतो भवति" (गो.पू.ता.उप.१।१) इत्यादि श्रुतेः, "भक्त्याऽहमेकया ग्राह्यः" (भाग.पुरा.११।१४।२१) इति एकादशवाक्याद्, "अहं भक्तपराधीनः" (भाग.पुरा.९।४।६३) इत्यारभ्य "वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या" (भाग.पुरा.९।४।६६) इति नवमस्कन्धे भगवद्वाक्यात् च. "भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्" (भाग.पुरा.५।६।१८) इत्यादि वचस्सहस्रैः मोक्षाधिकत्वाच्च इति अलं विस्तरेण.

इति श्रीगोवर्द्धनधर-श्रीवल्लभाधीश-श्रीविट्ठलेश्वर-चरणानुचरसेवकेन श्रीलालूभट्टोपनामक-दीक्षितश्रीबालकृष्णेन विरचितायां सेवाकौमुद्यां प्रथमं प्रकरणम्



॥ पाठभेदतालिका ॥

१.'श्रुतिसिद्धरसा-' इति क ख ग घ च छ ज पाठे, 'श्रुतिसिद्धं रसा-' इति मु . २.'श्रीमदाचार्योक्त-' इति ग घ ङ, 'श्रीमदाचार्योदित-' इति क ख च ज मु. ३.'हि' इति मु पाठे नास्ति. ४.एतत्संख्यांकितोंऽशः क ख ग ङ च छ ज पाठेषु उपलभ्यमानो मु पाठे त्रुटितः. ५.'हर्तृत्वस्वभाव' इति मु , 'हर्तृत्वभाव' इति क ख ग च ज पाठेषु, 'हर्तृत्वरूपो भावः' इति ङ च पाठयोः. ६.'देहेन्द्रियान्तःकरणानि' इति क ख ग च ज मु पाठेषु. च मातृका एतावत्येव उपलब्धा.



❊ द्वितीयं प्रकरणम् ❊

[प्रकरणोपक्रमः]

एवं पूर्वप्रकरणे भागवतमूलिका पुष्टिभक्तिमार्गीया सेवा इति निरूपितम्. अथ तादृशसेवायाः विषयो निर्धार्यते.

[पुष्टिमार्गे सेव्यस्य श्रुत्यादिप्रमाणसिद्धत्वम्]

तत्र श्रुत्यादि-प्रमाण-चतुष्टयेन परमकाष्ठापन्नं निर्गुणं ब्रह्मैव विषयः इति सिद्धान्तः.

[उपनिषदेकगम्य-सर्वधर्मवद्-ब्रह्मणः स्वरूपम्]

नच *"यतो वाचो निवर्तन्ते" (तैत्ति.उप.२।४।१) इत्यादिनिगमैः सर्वाविषयस्य कथमिव सेव्यत्वम्!* इति वाच्यम्, "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" (तैत्ति.उप.२।४।१) इत्याद्यनुपदम् उक्तश्रुत्या विषयत्वे प्राप्ते, उभयाविरोधाय, लौकिकवागाद्यविषयत्वस्य भगवत्कृपादिना वाङ्मनआदिविषयत्वस्य[१] (च!) [२]व्यवस्थापितत्वात्. अन्यथा सर्वथैव ज्ञानाविषत्वे[३] वेदेनापि निरूपणं न स्यात्. तथा सति ब्रह्मणो निर्विशेषत्वाप्रतर्क्यत्वानिर्देश्यत्वादिरूपस्यापि अनवबोधः आपद्येत. बोधस्य "अथात आदेशो नेति नेति" (बृह.उप.२।३।६) इत्यादिश्रुत्यधीनत्वात्. इदञ्च "ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये" (भाग.पुरा.१०।८४।१) इति दशमस्कन्धीय-श्लोकसुबोधिन्यां स्फुटतरम् उपपादितम्. "यत्र वेदाः अवेदाः" (बृह.उप.४।३।२२)इत्यादि ज्ञातृत्वनिषेधकोपनिषदामपि इदमित्थतया वर्णनाशक्तिरेव तात्पर्यविषयः इति मन्तव्यम्. "सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशाद्" (ब्र.सू.१।२।१) इति अधिकरणव्याख्याने अयम् अर्थो भाष्यकारैः विवेचितः. "तं त्वौपनिषदं(पुरुषं) पृच्छामि" (बृह.उप.३।९।२६) इति श्रुतिः अतिरोहितम् एनं राद्धान्तं द्रढयति. किञ्च शुद्धब्रह्मणो अन्याज्ञेयत्वेऽपि वेदज्ञेयतातु अङ्गीकार्या.

अन्यथा निर्विशेषत्व-निराकारत्व-निर्धर्मकत्वादीनपि कथं वेदो वदेत्? अज्ञात्वा कथनेतु अस्मदादिवाक्यतुल्यतापत्तौ तदुक्तनिर्विशेषत्वादेः अनादरणीयत्वम् इति दिक्.

[निर्धर्मकत्वबोधकश्रुतीनां तात्पर्यनिरूपणम्]

एवमेव अस्थूलादिश्रुतयो लौकिकधर्मानेव निषेधयन्ति नतु अलौकिकान्, "अणोरणीयान्" (कठोप.१।२।२०) इत्यादि श्रुतिभिः अलौकिकाणुत्वादिदर्शनिन[3] तथा अवधारणात्. "यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः" (मुण्ड.उप.१।१।९) "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" (तैत्ति.उप.३।१) "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः" (बृह.उप.४।४।२२) "एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्यः" (गो.पू.ता.उप.१।५) "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखः" (श्वेता.उप.३।३) "सर्वकामः सर्वगन्धः" (छान्दो.उप.३।१४।२) इत्यादिश्रुत्युक्ताः अलौकिकाः नित्यधर्माः परमात्मनि विराजन्तएव. प्राकृतधर्माणामेव वेदे निषेधः. सर्वथा निर्धर्मकत्वन्तु न उररीकार्यम्. तथा सति व्यापकत्वस्यापि अनङ्गीकारापत्त्या ब्रह्मत्वस्यैव हानेः, "बृहत्वाद् बृंहणत्वात् च ब्रह्म" (   ) इति श्रु(स्मृ!)तौ व्यापकत्वेन निर्वचनात्.

नच *व्यापकत्वं स्वरूपानतिरिक्तो धर्मइति अस्तु तदङ्गीकारः!* इति वाच्यं, धर्मत्वव्याहतेः. 'प्रकाशाश्रय'(द्र. : ब्र.सू.३।२।२८)न्यायेन व्यापकत्वस्वीकारेतु तयैव सरण्या कर्तृत्वादीनपि अङ्गीकुर्वन्तु. नच *कर्तृत्वस्य कार्यसापेक्षतया नित्यत्वाभावात् न ब्रह्मधर्मता!* इति वाच्यं, व्यापकत्वस्यापि व्याप्यसापेक्षतया समकक्षत्वात्. अतो निषेधानां विशेषपरत्वं न सामान्यपरता इति ध्येयं, "देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिनाम्" (भाग.पुरा.७।१।३४) इति सप्तमस्कन्धवाक्ये लौकिकदेहेन्द्रियादीनां निषेधेन निषेधस्य विशेषपरतायाः व्यासचरणैः प्रदर्शितत्वात् च. इह वाक्ये सामान्यनिषेधाङ्गीकारे "सर्वे चतुर्बाहव उन्मिषन्मणिप्रवेकनिष्काभरणाः सुवर्चसः" (भाग.पुरा.२।९।११) इति वाक्यान्तरविरोधात्. अतएव "अनामगोत्रम्" (मुक्ति.उप.२।७२), "अजरममरम्" (नृसिं.उ.ता.उप.१।२) इत्याद्युपनिषत्सु "अनामरूपश्चिन्मात्रः सोऽव्यान्नः सदसत्परः" (भाग.पुरा.६।१६।२१) इति पुराणादिवाक्येषु नामनिषेधोऽपि

अस्मदादिनामतुल्यतां नामसु वारयति, नतु सर्वथा नामनिषेधः. अन्यथा धर्मविधायकनिषेधकवेदान्तानाम् अनवबोधकतापातः, 'आत्म'-'ब्रह्मे'त्यादि-पदानाम् अतन्नामत्वे बोधनाक्षमत्वात्. अन्यच्च "अस्थूला..."(बृह.उप.३।८।८)दिवाक्योदितानां स्थूलत्वादिप्रतियोगिकानाम् अभावानां ब्रह्मणि सत्तया परमते द्वैतापातः. नच *अभावानाम् अधिकरणात्मकतया न अद्वैतहानिः!* इति वाच्यं, शुद्धस्य भावपदार्थस्य ब्रह्मणो अभावेन सह ऐक्याङ्गीकारे अनेकनिगमव्याकोपात्. "किं तद् ब्रह्म?" इति आकाङ्क्षायां "निखिलाभावरूपं ब्रह्म" इति उक्तेः अभावपदार्थत्वापत्तेः.

किञ्च, अभावस्य अधिकरणात्मकताङ्गीकारे घटवति भूतले घटात्यन्ताभावप्रतीतिः, अधिकरणस्य भूतलस्य विद्यमानत्वात्. "भूतले घटाभावः" इतिवद् "भूतले भूतलम्" इति प्रयोगपत्तिः च. इत्यादि-तार्किक-नयसिद्ध-दूषण-पुञ्जाद् न अधिकरणाभेदो अभावस्येति तत्कृतं द्वैतं दुर्निवारम् इति दिक्.

अपरञ्च, "भूतले घटो नास्ति" इति प्रत्ययसाक्षिकः पदार्थविशेषो अभावः प्रतियोग्यसत्तारूपः; तथा, प्रकृतेः श्रौतस्थूलत्वाद्यभावः, तदभेदे ब्रह्मणि स्वीकृते सत्तारूपत्वापायात्, "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुतिव्याकोपः. यदितु अभावस्य प्रतियोग्यसत्तारूपत्वं न आद्रियते, पदार्थान्तरत्वम् अङ्गीक्रियते, तदातु 'अस्थूला'(बृह.उप.३।८।८)दिश्रुतिभिः धर्माणां निवारणासम्भवाद् ब्रह्मणः सधर्मकत्वमेव आयातीति जितं धर्मवादिभिः. अतो न अधिकरणात्मकता अभावस्य. एवञ्च तत्कृतद्वैतापत्तिः सिद्धैव. नच *स्थूलत्वादिप्रतियोगिकाभावानां मिथ्यात्वाङ्गीकारे द्वैतनिवृत्त्या सर्वं सुस्थम्* इति वाच्यं, धर्म-तदभाव-प्रतिपादकानां श्रुतीनां मिथ्यार्थप्रतिपादकतया समबलत्वेन भवदभिमत-गुणाभाव-प्रतिपादक-श्रुतिनिष्ठोपजीव्यत्वबाधात् सिद्धान्तभङ्गापत्तेः. अतः श्रुत्युक्त-धर्माभावो न आर्यमनोरोचकइति प्रातीतिक-प्राकृत-धर्माभावएव "अस्थूलमनण्वह्रस्वम्" (बृह.उप.३।८।८) इत्याद्युपनिषदां विषयः इति ज्ञेयम्.

सिद्धान्तेतु प्राकृतधर्माभावस्य मिथ्यात्वाङ्गीकारे न किञ्चिद् बाधकम्. नच प्राकृतधर्माणाम् अप्राप्ततया तन्निषेधो अनुपपन्नो, लोकप्रतीतत्वेन प्राप्तत्वात्. "असन्नेव स भवति" (तैत्ति.उप.२।६।१) इत्यादिश्रुतौ लोकप्रतीतस्यैव ब्रह्मासत्त्ववेदनस्य निन्दामुखेन निषेधात्. अतएव "आनन्दोऽजरोऽमृतः" (कौषि.उप.३।८) "अनामगोत्रम्" (मुक्ति.उप.२।७२), "अजरमभयममृतम्" (नृसिं.उ.ता.उप.१।२) इत्यादिश्रुतौ लोकप्रतीतस्यैव जरादेः ब्रह्मणि निषेधो नतु श्रुत्यन्तरप्राप्तस्य. नहि कापि श्रुतिः ब्रह्मणि जरादि विधत्ते. अतः श्रुत्यन्तराप्राप्तस्य लोकप्रतीतस्यैव प्राकृतधर्मसंघस्य सर्वत्र निषेधो ज्ञेयः. लोकप्रतीत्या प्राप्तत्वेन निषेधस्य सुवचत्वात्.

ननु "तदेजति तन्नैजति" (ईशा.उप.५) इति श्रुतिविमर्शे एजन-तदभावयोः मूर्तिभेदेन व्यवस्था इति विद्वन्मण्डने निरूपितं प्रभुचरणैः. तथा सति यद्रूपे एजनाभावः तस्य ब्रह्मत्वं न स्याद्, एकस्य श्रुत्युक्तैजनस्य अभावे निखिलश्रौतधर्मवत्त्वाभावाद् इति चेत्, सत्यम्, इह एजनाभावस्य एजनतिरोभावरूपत्वं, नतु प्रतियोग्यसत्तारूपतेति एजनस्यापि तत्र सत्वात् न पूर्वोक्तदोषो, "अभावास्तु अस्मन्मते तिरोभावातिरिक्ताः न भवन्ति" (सुबो.२।९।३२) इति द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्याम् उक्तत्वात्. नच *एवं प्रातीतिक-प्राकृत-धर्माभावस्याऽपि तिरोभावरूपत्त्वात् प्रातीतिक-प्राकृत-धर्मसत्तापि ब्रह्मणि स्वीकार्या!* इति वाच्यं, प्राकृतधर्माणां मिथ्यात्वेन तदभावस्यापि मिथ्यात्वं नतु तिरोभावरूपत्वम् इति सिद्धान्तात्. तथाच उपनिषदुक्तधर्माणां यत्र अभावः प्रतिपाद्यते तत्र अभावानां तिरोभावरूपत्वम्. नच तिरोभावकृता सिद्धान्ते द्वैतापत्तिः, "आविर्भाव-तिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिणः" (त.दी.नि.२।१४०) इति वाक्यात्, शक्तिरूपतया शक्तिमदभेदात्. यत्रतु प्रातीतिक-प्राकृत-धर्मप्रतियोगिकाः अभावाः प्रतिपाद्यन्ते तत्र प्रतियोगि-तदभावयोः उभयोरपि मिथ्यात्वं वन्ध्यासुत-तदभावयोरिव, इति न कश्चिद् दोषः. "अभावास्तु अस्मन्मते तिरोभावातिरिक्ताः न भवन्ति" (सुबो.२।९।३२) इति सुबोधिनीफक्किकायामपि सत्प्रतियोगिकाः अभावाः तिरोभावातिरिक्ताः न भवन्ति इति अर्थो बोद्धव्यः. तथाच सिद्धम्

अप्राकृतश्रौतधर्मवत्त्वं प्राकृतधर्मरहितत्वं ब्रह्मणः. प्राकृतधर्मास्तु प्रकृतिजन्याः अवास्तवभूताः स्थूलत्वादयः सन्तइव प्रतीयमानाः. ते श्रुत्या ब्रह्मणि निषिध्यन्ते. नच *"प्रकृतिर्ह्यस्योपादानम् आधारः पुरुषः परः, सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत् त्रितयं त्वहम्" (भाग.पुरा.११।२४।१९)इति वाक्यात्, प्रकृतेः ब्रह्मरूपत्वेन सत्त्वात् तज्जन्यानां कथम् असत्त्वम्?* इति वाच्यं, नटादिभ्यः सद्भ्यः उत्पन्नानां रसालादीनाम् असत्त्वस्य सर्वैः अनुभूयमानत्वात्. तस्मात्, सतः सद् उत्पद्यतेहि असदपि उत्पद्यतइति, न किञ्चिद् दूषणम्. *ननु प्रपञ्चस्य ब्रह्माभेदेन तत्स्थूलत्व-लघुत्वादीनामपि ब्रह्मणि सत्ता वाच्या! इति कथं प्रापञ्चिकधर्माभावो ब्रह्मणि सिद्धान्तितः?* इति चेत्, सत्यम्, "ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत" (सुबो.२।९।३३) इति चतुःश्लोकीवाक्ये सिद्धा या विषयता तद्विशिष्टत्वात् प्रपञ्चस्य प्रापञ्चिकस्थूलत्वाणुत्वादीनां विषयतायुक्तानां ब्रह्मणि अभावो युक्तएव इति बोद्धव्यम्. नच धर्मवत्त्वेन द्वैतापत्तिः, 'प्रकाशाश्रय'(ब्र.सू.३।२।२८)न्यायेन धर्म्यभेदात्.

[श्रीकृष्णः परं ब्रह्मैव]

तादृशं परं ब्रह्म श्रीकृष्णएव, "'कृषिर्' भूवाचकः शब्दो 'ण'श्च निर्वृत्तिवाचकः तयोरैक्यं परं ब्रह्म 'कृष्ण' इत्यभिधीयते, सोऽहम् ॐ तद् गोपालएव परं सत्यमबाधितं, सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकर्मणे" (गो.पू.ता.उप.१।१) इत्यादि गोपालतापनीयोपनिषद्भ्यः, "कृष्णो ब्रह्मैव शाश्वतम्" (कृष्णोप.१२) इत्यादिकृष्णोपनिषद्भ्यः च. "यस्मात् क्षरमतीतोऽहम् अक्षरादपि चोत्तमः" (भग.गीता.१५।१८) इति भगवद्वाक्यात् च.

[श्रीकृष्णाक्षरयोः प्रकृतेः च मिथो भेदः]

केचिद् अत्र 'अक्षर' शब्देन प्रकृतिम् आहुः, तत् न, तन्मते प्रकृतेः ज्ञाननाश्यत्वाङ्गीकारात् क्षरणधर्मवत्त्वेन अक्षरत्वाभावात्. अपितु "अक्षरं ब्रह्म परमम्" (भग.गीता.८।३) "अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्, यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम" (भग.गीता.८।२१) इत्यादिगीतासु

निरूपितस्य अक्षरब्रह्मणएव अत्र ग्रहणम्. ततो धामरूपाद् अक्षरब्रह्मणः सकाशात् पुरुषोत्तमस्य तत्स्वामिनो युक्तैव उत्तमता. नच *''धाम'शब्देन स्वरूपम्* इति वाच्यं, ''दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम्, सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्मज्योतिः सनातनम्'' (भाग.पुरा.१०।२५।१४) इति श्रीभागवत-दशमस्कन्धीय-वैकुण्ठदर्शन-प्रसङ्गे तस्यैव अक्षरस्य 'वैकुण्ठलोक'-त्वेन कथनात् तदविरोधाय गीतास्वपि 'धाम' पदेन लोकस्यैव ग्राह्यत्वात्.

अतः क्षराक्षरातीतः पुरुषोत्तमः परमकाष्ठापन्नः श्रीकृष्णः इति मन्तव्यं, ''द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दाद्'' (ब्र.सू.१।३।१) इति अधिकरणे ब्रह्मधर्मत्वेन सिद्धायाः विश्वाधारतायाः जृम्भाप्रसङ्गे मृत्स्नाभक्षणप्रसङ्गे च प्रकाशितत्वात्, ''यूयं नृलोके बत भूरिभागा लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति, येषां गृहानावसतीति साक्षाद् गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्'' (भाग.पुरा.७।१५।७५) इति सप्तमस्कन्धे नारदवाक्यात् च. श्रीकृष्णादपि कश्चित् परः इतितु न भ्रमितव्यं, ''मत्तः परतरं नाऽन्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय'' (भग.गीता.७।७) इति गीतोपनिषद्भ्यः.

[श्रीकृष्णस्य सेवा कार्या]

तस्य कृष्णस्य सेवा कार्या, ''परं ब्रह्मैतद् यो ध्यायति रसति भजति सोऽमृतो भवति'' (गो.पू.ता.उप.१।१), ''तं ध्यायेत् तं भजेत् तं रसेत्'' (गो.पू.ता.उप.२।१३) ''एको वशी सर्वगः कृष्णः ईड्य एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति. तं पीठगं येतु भजन्ति नित्यं तेषां सिद्धिः शाश्वती नेतरेषाम्'' (गो.पू.ता.उप.१।५) इति श्रुतेः. '''भज' सेवायाम्'' (पाणि.धा.पा.भ्वादि.१०२३) इति धात्वर्थात्, ''तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः, नृणां येनहि विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः'' (भाग.पुरा.४।३१।९), ''मधुद्विट्सेवानुरक्तमनासामभवोऽपि फल्गुः'' (भाग.पु-रा.५।१४।४४), ''मत्सेवया प्रतीतञ्च सालोक्यादि चतुष्टयं, नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविप्लुतम्'' (भाग.पुरा.९।४।६७) इत्यादिवाक्येभ्यः सेवायां सर्वसाधनोत्कर्षः सिद्धइति सेवैव कार्या.

[श्रीकृष्णसेवा श्रीकृष्णमूर्तावेव युक्ता]

सेवाच कृष्णमूर्तौ कार्या, ''पूजनं प्रतिमायान्तु उत्तमं परिकीर्तितम्'' (विष्णुधर्मो.पुरा.) इति कालनिर्णयदीपिकास्थ-विष्णुधर्मोत्तरवाक्यात्. नच *''यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरं हित्वाऽर्चां भजते मौढ्याद् भस्मन्येव जुहोति स'' (भाग.पुरा.३।२९।२२) इति कपिलवाक्यात् प्रतिमार्चनं न कर्तव्यम्!* इति वाच्यं, भगवतः सर्वत्र व्याप्तिम् अज्ञात्वा प्रतिमेतरावज्ञां कुर्वतः परिच्छिन्नदृष्ट्या ''मूर्ताविव भगवान् अस्ति'' इति बुद्ध्या परिचरतो भजनस्य निन्दाविषयत्वात्. ''हित्वाऽर्चां भजते मौढ्याद्'' इत्यत्र प्रतिमेतर-विषयक-भगवदज्ञानजन्यावमानस्य 'त्याग' पदार्थत्वाद्, ''अहमुच्चा-वचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयाऽनघे, नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः'' (भाग.पुरा.३।२९।२४) इति वाक्यान्तरेण भूतावमान-सहित-पूजायाएव भगवदप्रीतिसाधकत्वकथनेन तदनुसारेण अन्यत्रापि तथैव स्वीकारात्. किञ्च, 'मौढ्याद्' इति पदेन भगवच्छास्त्रोक्त-स्वतन्त्र-भक्तिमार्गो न निन्द्यते अपितु मौढ्यकल्पितः प्रमाणविमुखः इति सूचितम्. अतएव एतच्छ्लोकविवृतौ श्रीमदाचार्यवर्यैः उक्तं ''नतु स्वतन्त्रो भगवन्मार्गो निषिद्धः. स गुणातीतः इति एकादशे वक्ष्यते 'मन्निकेतन्तु निर्गुणम्' (भाग.पुरा.११।२५।२५) इत्यादिभिः. प्रकरणेनच वाक्यानि सम्बद्धानि तत्प्रकरणस्थमेव गुणदोषं वदन्ति'' (सुबो.३।२९।२२) इत्यादि. अतएव ''अर्चादावर्चयेद् यो मां पृथग्भावः स राजसः'' (भाग.पुरा.३।२९।९) इति भगवता तादृक्पूजायाः राजसत्वम् अभाणि. तथाच सगुणभक्तौ पृथग्भावादिदोषस्य विद्यमानतया निन्दावाक्यानां तत्र सविषयत्वेन वक्ष्यमाणरीत्या— ''सर्वरूपो भगवान् सर्वत्र च भगवान्'' इति बुद्ध्या परिचरतः सेवायां निर्गुणभक्तिरूपायां न किञ्चिद् दूषणम्. अन्यथा श्रीकृष्णोद्धवसंवादे मूर्तिपूजाविधेः वैयर्थ्यं स्यात्. मूर्तिपूजाविधायकानि तन्त्रस्मृतिपुराणवाक्यानि च कुप्येरन्. एतेनैव ''अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते न तद्भक्तेषु चाऽन्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः'' (भाग.पुरा.११।२।४७) इत्यादीनि व्याख्यातानि. ''न तद्भक्तेषु च अन्येषु'' इति उक्त्या मूर्तीतरस्थले भगवदवज्ञाजन्यावमानस्यैव स्फुटीकरणात्. एवं सति ''सर्वत्र भगवान् अस्ति'' इति ज्ञात्वा सर्वेषाम् अवमानम् अकुर्वता भगवन्मूर्तिं परिचरता क्रियमाणं

भजनं निरवद्यमेव.

[सर्वस्य भगवद्रूपत्वे घटादीनामपि भजनीयत्वं सम्भवति न वा इति चिन्तनम्]

नच *एवं घटादावपि भगवत्सत्तया तस्यापि पूजा अस्तु!* इति वाच्यं, भगवन्मूर्त्ताविव मूलरूपभगवदाविर्भावेन ततो अन्यत्र जीवं प्रति हरितिरोभावात्. अन्यथा मूर्त्तिपूजनवद् घटपटादि-पूजापि भागवतादौ विधीयेत. एवमेव "यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके, स्वधीः कलत्रादिषु, भौम इज्यधीः, यत्तीर्थबुद्धिः सलिले, न कर्हिचित् जनेष्वभिज्ञेषु सएव गोखरः" (भाग.पुरा.१०।८४-१३) इत्यत्रापि "न कर्हिचित् जनेषु अभिज्ञेषु" इति उक्त्या अभिज्ञजनावमानबोधनेन सर्वत्र भगवद्बुद्ध्यभावबोधनात् तादृक्-सगुणभक्ति-युक्तस्यैव निन्दा नतु सर्वत्र भगवद्बुद्धिमतः इति ज्ञेयम्. अन्यथा अस्मिन्नेव श्लोके जलविषयकतीर्थबुद्धेः निन्दितत्वाद् गङ्गाजलादावपि तद्बुद्धिः बाध्येत*. तथा सति गङ्गादिजले तीर्थबुद्धिसम्पादकानि नाना-पुराण-तन्त्र-वाक्यानि च दुष्टानि स्युः. अतो यस्य परिच्छिन्नदृष्ट्या "अत्रैव भगवान् नेतरत्र" इति बुद्धिः स निन्द्यते. "भगवदर्चा इयं भौमा" इतिच यस्य बुद्धिः सोऽपि निन्द्यः, विष्णोरर्चायां(विष्ण्वर्चायां / अर्च्ये विष्णौ!) शिलाधीः गुरुषु नरमतिः वैष्णवे जातिबुद्धिः" (?) इति गोपालतापिनीयोपनिषत्सु निन्दाश्रवणात्, "शिलाबुद्धिर् न कार्या च तत्र नारद कर्हिचित्, ज्ञानानन्दात्मको विष्णुः यत्र तिष्ठत्यचिन्त्यकृद्"(   ) इति वाक्यात् च.

अतो अस्मत्सिद्धान्ते सर्वत्र व्यापकतया विराजमानः सर्वरूपो भगवान् मूर्त्तिरूपेण सेवकोद्धारार्थं प्रकटीभूतइति हरिमूर्त्तिः हरिरेव. "पुरुष एवेदं सर्वम्"(श्वेता.उप.३।१५) इति श्रुत्या पदार्थमात्रस्य भगवद्रूपत्वात्. अतएव सर्वनिर्णयप्रकरणे "आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिणः"(त.दी.नि.२।१४०) इति उक्त्वा तत्तत्कार्यार्थं तत्तद्रूपस्य हरेरेव अभिव्यक्तिः इति उपपादितम्.

तथाच जलाहरणार्थं घटरूपेण हरेरेव प्राकट्यम् इति ज्ञेयम्. एवं

पटादावपि आवरणादिरूप-प्रयोजनम् उद्दिश्य भगवदाविर्भावो ज्ञेयः. एवं सति भक्तोद्धारार्थं मूर्त्तिरूपेण आविर्भावः इति आकलनीयम्.

तत्तद्रूपेण आविर्भावे भगवदिच्छायाः नियामकत्वाद् "अनेन घटादिरूपेण जलाहरणादि करिष्यामि" इत्यादिरूपया इच्छया घटादिरूपेण स्फूर्तिः. इच्छाच कार्यानुमेया. अतो हरिमूर्त्या सेवकोद्धाररूपकार्यस्य पुराणादौ स्मरणाद् उद्धारेच्छा अनुमीयते. तथा सति वस्तुमात्रस्य ब्रह्मत्वेऽपि तादृगाविर्भावानाविर्भावौ सेव्यत्वासेव्यत्वप्रयोजकाविति न इतरसाधारण्यं मूर्त्तेः.

अतएव उक्तं निबन्धीय-सेवाप्रकरणे—

"मूर्त्तिं कृत्वा हरेः क्वचित्, परिचर्यां सदा कुर्यात्"
(त.दी.नि.२।२२८) इति.

व्याख्यातञ्च "मूर्त्तेः भगवत्त्वं त्रेधा निरूपयति" इत्यारभ्य "वस्तुविचारे सर्वस्याऽपि भगवद्रूपत्वात्, विशेषस्तु अयम् : 'एनम् उद्धरिष्यामि!' "[५] (त.दी.नि.प्र.२।२२८) इत्यन्तेन.

अयमर्थः—इतरपदार्थापेक्षया भगवन्मूर्तौ सेव्यत्वप्रयोजको अयं वक्ष्यमाणो विशेषः इति अर्थः. तमेव आहुः " 'एनम् उद्धरिष्यामि' इति तदा मृदादेः प्रादुर्भूतः" इति, एनं सेवनोत्सुकं सेवकं संसाराद् उद्धरिष्यामि इति इच्छया मूर्त्तिरूपेण प्रकटः इति अर्थः. इतरत्र घटादौ जलाहरणादिकार्यस्य स्फुटत्वात् तत्कारणीभूता "जलाहरणादि करिष्यामि" इत्यादिरूपा भगवदिच्छा अनुमीयते. तथैव इह "मूर्त्तिरूपेण उद्धरिष्यामि" इति इच्छा अनुमेया, तदुद्धाररूपकार्यस्य पुराणादिसिद्धत्वात्. अतो ब्रह्मवादविचारे सर्वस्य तौल्येऽपि मूर्त्तौ वैशिष्ट्यम् इति निर्दुष्टम् अखिलम्.

अतएव रामानुजाचार्यमतीयाः भगवन्मूर्त्तिम् 'अर्चावतारं' वदन्ति.

[मूर्ति-शालग्रामयोः तारतम्यविचारः]

ननु शालग्रामे भगवदाविर्भावस्य सर्वसच्छास्त्रसिद्धत्वात् तत्पूजयैव मूर्त्तिभजनस्य गतार्थता अस्तु ! इति चेत्, न, नवविधभक्तिनिरूपणे "नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः" (भाग.पुरा.७।११।१२) इति नारदवाक्याद् नवधाभक्तेः अवश्यकर्तव्यतया, तत्रच "यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः, तत्तन् निवेदयेन् मह्यं तदानन्त्याय कल्पते" (भाग.पुरा.११।११।४१) इत्यादिवाक्योक्तानां नानाविध-वसन-भूषण-प्रभृत्युपचाराणां सर्वथैव कर्तव्यत्वेन शालग्रामे तत्सौकर्याभावात्. अतो भगवन्मूर्त्तिसेवा कार्या. तत्रच अनेकविधालङ्कार-वसन-भूषणोपचाराणां सौकर्यात्. अतः कृष्णमूर्त्तिसेवनं शालिग्रामार्चनं च इति उभयमपि कर्तव्यम्.

इति श्रीगोवर्धनधर-श्रीवल्लभाधीश-श्रीविट्ठलेश्वर-चरणानुचरसेवकेन
श्रीलालूभट्टोपनामक-श्रीबालकृष्णेन विरचितायां
सेवाकौमुद्यां द्वितीयं प्रकरणम् सम्पूर्णम्

[अस्य ग्रन्थस्य तृतीयं प्रकरणं नोपलभ्यते]



॥ पाठभेदतालिका ॥

१. 'वाङ्मनआदिविषयत्वस्य' इति क ग घ ङ ज पाठेषु, 'मनसादिविषयत्वे' इति मु पाठः. २. एतत्संख्यांकितोंशः क ग घ ङ ज पाठेषु उपलभ्यते. ३. 'दर्शनिन' इति क ङ छ ज , 'दर्शनि' इति ग घ मु पाठः. ४. 'बोध्येत' इति मु , 'बाध्येत' इति क ख ग घ ङ छ ज . ५. "इति तदा मृदादेः प्रादुर्भूतः" इत्येतावानधिकोंऽशो मु पाठीयः क ग घ ङ छ ज पाठेषु नोपलभ्यते.

॥श्रीगिरिधारी तनोतु मङ्गलानि॥

❋ चतुर्थं प्रकरणम् ❋

॥ श्रीगिरिधारिणे नमः ॥

[भगवत्स्वरूपभावना-सेवाभावनयोः मिथो विसङ्गत्याशङ्कासमाधानाय शङ्कोपक्रमः]

ननु प्रेंखपर्यङ्काश्रितस्य अनुदितरदावलीकस्य भगवतो बालकृष्णस्य श्रीमूर्तौ पौगण्डवयोऽवस्था-धारणीय-बर्हापीडभूषणधारणं भावुकमनोऽसन्तोषाजनकत्वाद् न युक्तम् !

[तत्समाधानम्]

इति चेत्, न, वेदान्तसूत्रतृतीयाध्यायतृतीयचरणे जागरुकेण "नवा प्रकरणभेदात् परोवरीयस्त्वाद्" (ब्र.सू.३।३।७) इति बालहरेरपि बर्हापीडधारणस्य युक्ततमत्वात्.

तथाहि —

"सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाविशेषाद्" (ब्र.सू.३।३।१) इत्यनेन सर्वेषां मत्स्यादिरूपाणां परस्परभिन्नानामपि ब्रह्मत्वेन ऐक्यम् उक्तम्. तावद्रूपात्मकमेव ब्रह्म इति सिद्धान्तितम्. अग्रेच "नवा प्रकरणभेदात् परोवरीयस्त्वादिवद्" (ब्र.सू.३।३।७) इत्यत्र "अथवा पूर्वसूत्रेण पूर्वरूपेषु मिथः सर्वधर्माणाम् उपसंहारः प्राप्तः. सच एकान्तिक-भक्तानुभव-विरुद्धः इत्यत्र व्यवस्थितविकल्पम् आह" (ब्र.सू.भा.३।३।७)इत्यारभ्य "सर्वेषु भगवदवतारेषु साधारणी भक्तिः यस्य स सर्वत्र उपसंहारं करोतु नाम, यस्तु एकान्ती तस्य स्नेहोत्कर्षेण अन्तःकरणम् एकस्मिन्नेव रूपे पर्यवसि (तमिति रूपान्तरम् अन्तःकरणारूढं न भवत्येव)...(इत आरभ्य ग्रन्थे त्रुटिः).

[स्त्रीभावविचारोपक्रमः[1]]

[2]अथ भक्तिविशेषरूपः स्त्रीभावो विमृश्यते.

[तत्र 'भाव' पदार्थविवेचनम्]

तत्र भावो नाम रतिः, "रतिर्देवादिविषयो भाव इत्यभिधीयते" (द्र. : का.प्रका.४।३५) इति वाक्यात्. इह 'देव' पदेन माहात्म्यवैशिष्ट्यं बोध्यते, तद्विषया रतिः भावः. महिमवैशिष्ट्यञ्च स्वरूपसदपि प्रयोजकं नतु ज्ञातमेव इति नियमः. अतएव "अजानता महिमानं तवेदम्" (भग.गीता.११।४१) इति वाक्याद् ज्ञानव्यधिकरणोऽपि गुडाकेशस्नेहो भक्तिरूपएव. एवमेव माहात्म्यज्ञानशून्येऽपि पुत्रादिभावे भक्तित्वं निर्बाधम्. "ततो भक्तिः भगवति पुत्रीभूते जनार्दने" (भाग.पुरा.१०।८।५१) इति वाक्यात् माहात्म्यज्ञानयुक्तत्वेतु व्रजवरनितम्बिनीनां भावएव परमप्रशस्यत्वं, सर्वात्मभाव-जनकत्वाद् इति ज्ञेयम्. अतो "भगवद्विषयकः स्नेहो भक्तिः" इत्येव साधुः, सर्वत्र विविक्षितेषु अनुस्यूतत्वात्. "सापरानुरक्तिरीश्वरे" (शाण्डि.भ.-सू.२) इति मीमांसासूत्रात् च. ईशानुकथाविवेके[*] विवेचियिष्यते. भावविषयस्य अलौकिकत्वबोधनात् लौकिकस्त्रीपुत्रादिविषयकस्नेहे अतिव्याप्तिः च न.

[तत्र 'भाव' पदवाच्यासु विविधासु भक्तिषु 'स्त्रीभाव' पदार्थविवेचनम्]

सा 'भाव' शब्दवाच्या[२] भक्तिः पुत्रभाव-स्वामिभाव-सखिभाव-स्त्रीभाव-सर्वात्मभावादि-भेदेन बहुविधा. तत्र स्त्रीणाम् आधिदैविकशक्तीनां गोपिकानां[३] भावः स्त्रीभावः तत्सजातीयं प्रेम इति यावत्. तच्च प्रमाणानुसारिण्यां सरणौतु भगवत्साक्षात्कारविशेषानन्तरमेव भवितुम् अर्हति, यतः श्रुतीनामपि आधिदैविक-वृन्दावनाधिकरणक-नित्यलीला-मध्यपाति-भक्तवृन्द-विहारिहरि-दर्शनोत्तरं स प्रेमा समजनि. "कन्दर्पकोटि-लावण्ये त्वयि दृष्टे मनांसि नः, कामिनीभावमासाद्य स्मरक्षुब्धान्यसंशयः" (पद्मपुरा. ।।) इति वाक्यात्. अग्निकुमाराणामपि कोटि-स्मराधिक-रुचिर-रघुवर-समवलोकनेनैव तादृग्भावः प्रादुरभूद्[४] पाद्मे तथा उक्तत्वात्. अतः तादृश-फल-दित्सया प्रकटीकृत-

परमसौन्दर्ये भगवति, निरीक्षिते, तादृशो भावः समुल्लसति, नतु येन केनचिद् आविर्भावेन! अन्यथा उद्धवादेः अनिशं प्रभुसमीपवर्तिनः स भावः उदियादेव. अतएव तद्भावस्य चमत्कारं व्रजे अनुभूय तद्वतीनां चरणरेणुः अभिलषितः "आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्याम्" (भाग.पुरा.१०।४७।६१) इति वचनाद् एतासां चरणरेणुप्राप्त्या लीलौपयिकाधिदैविकदेहप्राप्तिः भवतीति तत्कामस्य श्रीमदुद्धवस्य निगूढाशयः. "या वै लसच्छ्रीतुलसीविमिश्रकृष्णाङ्घ्रिरेण्व-भ्यधिकाम्बुनेत्री" (भाग.पुरा.१।१९।६) इत्यादौ सिद्धा भगच्चरणरेणूनाम् अलौकिकदेहसम्पादकता स न्यायो अत्र अनुसन्धेयः.

[स्त्रीभावोपलब्धौ प्रमाण-प्रमेय-बल-भेदव्यवस्था]

एवं सति प्रमाणबलविचारे[५] रमणौपयिक[६]भगवद्दर्शनसापेक्षा स्त्रीभावोत्पत्तिः इति अध्यवसीयते. कस्यचित् परमानुग्रहवशात् श्रवणादिना तादृग्भावोदयः चेत् तदा प्रमेयबलेन तत्सिद्धिः इत्येव नतु प्रमाणबलेन विचारपदवीम् आरोढुम्[७] अर्हति. इदमेव श्रीमत्प्रभुचरणैः अभाणि विद्वन्मण्डने—

"अनेकजन्मसञ्चित-सुकृतराशेः अतिशयितभगवदनुग्रह
भाजनस्य महत्तमचरणरजोऽभिषिक्तस्य कस्यचित् पुरुषवि-
शेषस्य पूर्वोक्तन्यायेन नित्यलीला-मध्यपाति-भक्तभाव-
सजातीय-भावोत्पत्तौ..."

(विद्व.मण्ड.)इत्यादिना.

अतो दर्शननिरपेक्षः श्रवणादिजन्मा स्त्रीभावइतितु न साधकमात्रगम्यः पन्थाः किन्तु परमपुष्टिसाध्यः प्रमेयमार्गः इति ध्येयम्. इदमेव प्रमेयबलम् आश्रित्य गोडभगवदीयैः अयं भावः कर्तव्यत्वेन उपदिष्टः इति प्रतिभाति. प्रमाणबल[८]विमर्शेतु श्रवणादिना प्रेमोत्पत्तौ भगवत्प्रसादे शुद्धपुष्टिमार्गीय-फलदित्सायां परमसौन्दर्यं प्रकटीकृत्य प्रादुर्भूतस्य शृङ्गाररसात्मकस्य पुरुषोत्तमस्य साक्षात्कारे स भावः समुल्लसति. ततः परमार्त्या मनोरथविशेषैः क्रियमाणे भजने प्रापञ्चिक-देह-निवृत्तौ अलौकिकाधिदैविक-लीलार्ह-देहसम्पत्तौ नित्य-

लीलायां प्रवेशः इति प्रसिद्धः पन्थाः आचार्याणाम्.

[तत्र एतद्भावे स्वरूपयोग्यतातु पुष्टिमार्गीय-विशेषभक्तानामेव]

एतद्भावे स्वरूपयोग्यतातु पुष्टिमार्गीय-विशेषभक्तानामेव इति सुधीभिः विभावनीयम्.

किञ्च "स्त्रियो वा पुरुषो वापि भर्तृभावेन केशवं हृदि कृत्वा गतिं यान्ति श्रुतीनां नात्र संशयः" (   ) इति वाक्ये एतद्भाववतः श्रुतिरूपगोपी-सदृशफल-प्राप्तिकथनेन साधनदशायामपि तत्सादृश्यमेव अभिप्रेत[९]-मिति पूर्वोक्तं सुस्थम्.

[श्रीमद्भागवताध्यात्मिकार्थविचारेणापि उक्तार्थोपपत्तिः]

अपिच श्रीमद्भागवते आधिदैविकाध्यात्मिकाधिभौतिकभेदेन त्रिप्रकारको अर्थावबोधः सुबोधिन्यां प्रतिपादितः. अत्र आध्यात्मिकरीत्या विमर्शे क्रियमाणे[१०] शुद्धपुष्टि[११]मार्गीयरीत्या भजतां व्रजसीमन्तिनी-सरणिरेव अनुसर्तव्या इति ज्ञेयम्. अतएव "अस्मिन् मार्गे स्वामिन्यएव गुरवः" (सुबो.टिप्प.१०।२६।१)इति प्रभुचरणैः टिप्पण्याम् उक्तम्. साधकस्य आधुनिकस्य तच्छिष्यत्वन्तु दत्तात्रेयवत् तद्गुणग्राहकत्वम्. एवं सति साधनरीत्या फलरीतिश्च पूर्वोक्तैव. अतएव अयं भावो वेणुगीताध्यायसुबोधिन्यां "स्त्रीभावो गूढः पुष्टिमार्गे तत्त्वम्" (सुबो.१०।१८।५) इति आचार्यवर्य्यैः सभाजितः. इति सर्वम् अनवद्यम्.

इति श्रीमद्गोवर्द्धनधर-श्रीवल्लभाचार्य-श्रीविट्ठलेश्वर-चरणानुचरसेवकेन
लालूभट्टोपनामबालकृष्णेन कृतो लेखः पूर्णताम् ऐयः
सेवाकौमुद्यां चतुर्थं प्रकरणम्



॥पाठभेदतालिका॥

१. जयपुराधिपग्रन्थागारे अयं लेखः 'स्त्रीभावविवेकः' इति नाम्ना उपलभ्यते. मांडवीग्रन्थागारेतु नामोपक्रमोपसंहाररहितः सेवाकौमुद्याः चतुर्थप्रकरणतया उपलभ्यते. 'विवेक' संज्ञापरामर्शेतु प्रमेयरत्नार्णवोत्तरार्धेऽपि अस्य समावेशः सम्भवति. २. एतत्संख्यांकितोंशः **मां.** पाठे न उपलभ्यते. एतदग्रेतु **मां. जय.** उभौ पाठौ प्रायः एकरूपौ. ❋ अयम् 'ईशानुकथाविवेकः' नूनं प्रमेयरत्नार्णवोत्तरार्धरूपो न कुत्रापि उपलभ्यते. ३. 'गोपिकानाम्' इति **मां.** पाठे नास्ति. ४. "स प्रेमा समजनि" इति **मां.**पाठः. ५. **मां.** पाठे नास्ति. ६. **जय.**पाठे नास्ति. ७. अधिरोढुं **जय.**पाठः. ८. **मां.**पाठे नास्ति. ९. 'उचितम्' इति **जय.**पाठे. १०. 'विचारेण' इति **जय.**पाठे. ११. "फलेप्सूनां व्रजसुन्दरीभजनसरणिः आदर्तव्या इति राद्धान्तः. तथाच पूर्वोक्तो भावोत्पत्ति-साधन-फल-प्रकारो युक्तएव इति दिक्" इति **जय.**पाठे.



॥ परिशिष्टम् ॥(+)

❋ काममार्ग-प्रेममार्ग-विवेकः ❋

[काम-प्रेम-भावपार्थक्योपपादानाय प्रकरणोपक्रमः]

श्रीमद्राजाधिराजानाम् आज्ञया ज्ञानहेतवे॥
काममार्ग-प्रेममार्गौ विविच्येते यथामति॥१॥
'काम' शब्दाभिधेयत्वात् तथा चेष्टादिसाम्यतः॥
अभेदेऽपि महान् भेदस्तयोर्ज्ञेयः स्वरूपतः॥२॥

"कामाद् द्वेषाद्" (भाग.पुरा.७।१।२९) इत्यादौ 'काम' शब्दस्य उभयवाचित्वाद् उभयमार्गौ ज्ञेयौ. 'काम'शब्दस्य उभयवाचित्वं च "कामं क्रोधं..." (भाग.पुरा.१०।२६।१५) इत्यादिव्याख्याने वैष्णवतोषण्याम् अङ्गीकृतम् अस्ति.

तथाहि —

[प्रेम-रिरंसा-भेदात् कामद्वैविध्यम्]

"तत्र कामो द्विविधो :—

(१)गोप्यादीनामिव प्रेममयः
(२)सैरन्ध्र्यादीनामिव रिरंसामयः
च इति" (वैष्ण.तोषि.१०।२९।१५).

(+)परिशिष्टतयेह संकलिताः त्रयोऽप्येते लेखाः श्रीचैतन्यमताभिमतविषयविवेचनार्थं ग्रन्थकृता विरचिताः इति तदीयग्रन्थानामेव प्रमाणतयोपन्यासादनुमीयते. विषयणामेतेषान्तु स्वसम्प्रदायेऽपि अविप्रतिपन्नत्वादेवेह संकलनम्. स्वग्रन्थागारीयग्रन्थकृद्धस्तलिखितप्रतीनां ज्रेरोक्सप्रतिकृतिप्रदानेन जयपुराजगृहेन भृशमुपकृताः वयमाधमर्ण्यमस्माकं प्रकाशयामः.

तत्र प्रेममार्गो भगवदानुकूल्यमात्रात्मकः. सच 'कामरूपा'शब्देन 'काम'शब्देन च उच्यते.

तथाच भक्तिरसामृतसिन्धौ —

"इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत्।
तन्मयी या भवेद् भक्तिः सात्र 'रागात्मिको'दिता॥
सा कामरूपा सम्बन्धरूपा चेति भवेद् द्विधा।"
(भ.र.सि.पूर्वविभा.२।६२-६३) इति.

कामरूपालक्षणञ्च तत्रैव —

"सा कामरूपा संभोगतृष्णां या नयति स्वतो।
यदस्यां कृष्णसौख्यार्थमेव केवलमुद्यमः॥"
(भ.र.सि.पूर्वविभा.२।६८) इति.

'काम' शब्दवाच्यत्वञ्च तत्रैव —

"इयन्तु व्रजदेवीषु सुप्रसिद्धा विराजते।
आसां प्रेमविशेषोऽयं प्राप्तः कामपि माधुरीम्॥
तत्तत्क्रीडानिदानत्वात् 'काम' इत्युच्यते बुधैः॥

तथाच तन्त्रे —

'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथामिति' "
(भ.र.सि.पूर्वविभा.२।६९-७०).

व्रजदेवीनां विषयानुकूल्यमात्रतात्पर्यं च "यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहस्तनेषु" (भाग.पुरा.१०।२८।१९) इत्यादिना सुव्यक्तम्. श्रीभागवतेच "कामाद् द्वेषाद्..." (भाग.पुरा.७।१।२९) इत्यादौ "गोप्यः कामाद्..." (भाग.पुरा.७।१।३०) इत्यादि उक्तम्. गोप्यो अत्र पूर्वरागावस्थाः भगवत्प्रेयस्यएव ज्ञेयाः.

काममार्गस्तु स्वानुकूल्यात्मकः. सच 'कामप्राया' शब्देनापि उच्यते.

यथा तत्रैव "कामप्राया रतिः किन्तु कुब्जायामेव सम्मता" (भ.र.सि.पूर्वविभा.२-।७१) तस्याः स्वानुकूल्यतात्पर्यञ्च "उत्तरीयान्तमाकृष्य" (भाग.पुरा.१०।३९-।९) इत्यादिना "आहोष्यतामिह प्रेष्ठ दिनानि कतिचिन् मया" (भाग.पुरा.१०।४५।९) इत्यादिना च सुव्यक्तम्.

किञ्च "गोप्यः कामाद्..." (भाग.पुरा.७।१।३०) इत्यत्रापि 'काम' शब्दस्य उभयवाचित्वम् अवश्यमेव वाच्यम्. तत्र तस्य 'प्रेम' वाचित्वं "प्रेमैव गोपरामाणाम्" इत्यादिप्रामाण्येन श्रीरूपगोस्वाम्यादिभिः निष्पादितम्. तत्र आदितएव कामगन्धस्पृष्टाः शुद्धप्रेमवत्यएव गोप्यः उदाहृताः. श्रीधरस्वाम्यादिभिस्तु 'स्मरा' ख्य-कामवाचित्वमेव अङ्गीकृतम् इति अवगम्यते, विशेषव्याख्यानाकरणात्, "तदघं हित्वा..." (भाग.पुरा.७।१।२९) इत्यत्र 'अघ' शब्दस्य असंकोचेन व्याख्याततत्वात् च. तथैव हि उक्तं पाद्मोत्तरखण्डे(२४५।१६४-१६५) "पुरा महर्षय सर्वे" इत्यादिप्रकरणे "हरिं सम्प्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवाद्" इत्यनन्तरं —

"क्रोधेनैव तथा दैत्याः समेत्य मधुसूदनम्।
अगच्छन् निधनं तेन हता मुक्तिमवाप्नुवन्[१]॥
कामक्रोधौ नृणां लोके निरयस्यैव कारणम्।
हरिं समेत्य तावेव[२] मुक्त्यै गोपी-सुरद्विषाम्[३]॥
कामाद् भयाद् वा रोषाद्[४] वा ये भजन्ति जनार्दनम्।
ते प्राप्नुवन्ति वैकुण्ठं किं पुनर्भक्तियोगिनः[५]॥"
(पद्मपुरा.उत्त.२४५।१६६-१६९) इति.

लोके निरयकारणं खलु स्मराख्यो रिरंसामयः कामएव. तथाहि श्रीमद्भगवद्गीतायां "काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्" (भग.गीता.३।३७) इति. "त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः कामक्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेद्" (भग.गीता.१६।-२१) इत्यादि.

[सर्वासां गोपीनां प्रेममयएव कामो न आसीत् प्रत्युत कासाञ्चित् रिरंसामयोऽपि स आसीत्]

नच *"प्रेमैव गोपरामाणाम्..." इत्यादिप्रामाण्येन सर्वासामपि गोपीनां

प्रेममयः कामो भवितुम् अर्हति* इति वाच्यं, "हरिं सम्प्राप्य तावेव मुक्त्यै गोपी-सुरद्विषाम्" इत्यनेन गोपीष्वपि तदङ्गीकारात्. ततश्च काममार्गेऽपि "गोप्यः कामाद्" इति उदाहरणं ज्ञेयं; किन्तु, गोप्यो अत्र शुद्धप्रेमवतीभ्यो व्रजस्थाभ्यो अन्याः आगन्तुकाः. ताश्च अन्तर्गृहगताएव ज्ञेयाः. तादृशीनामेव शुद्धप्रेमाभावेन असिद्धदेहत्वं; तेनच विघ्नावकाशता देहत्यागः च. तद् उक्तं कृष्णसन्दर्भे :—

"तदेतद् व्यतिरेकेण द्रढयितुम् अन्यासाम् आगन्तुकानाम् असिद्धदेहानां विग्रहत्यागेनैव तत्सङ्गप्राप्तिः इति आह 'अन्तर्गृहगताः काश्चिद्' (भाग.पुरा.१०।२६।९) इत्यादिकेन 'नचैवं विस्मयः कार्यः' (भाग.पुरा.१०।२६।१६) इत्याद्यन्तेन. अन्तर्गृहगताः 'शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिद्' (भाग.पुरा. १०।२६।६) इत्यत्र उक्ताः इति अर्थः."
(षट्सन्द.४।४११) इति

"शुश्रूषन्त्यः पतीन्" इत्यनेन अन्यभुक्तत्वमपि सूचितम्.

तथा तत्रैव अग्रे "या मया क्रीडता रात्र्यां वनेऽस्मिन् व्रजआस्थिताः अलब्धरासाः कल्याण्यो मापुर्मद्वीर्यचिन्तया" (भाग.पुरा.१०।४४।३७) इत्यस्य व्याख्यायां —

"तत्रापि हे कल्याण्यः=सशरीराः इति, तद्वद्-देहत्यागेन भवतीनां मत्प्राप्तिः न स्यात् किन्तु अनेनैव देहेन मत्प्राप्तिः स्याद् इति भावः."
(षट्सन्द.४।४५४-४५५)इति.

ततः ताः कृष्णसौन्दर्यादिकं श्रुत्वा कामरीत्यैव लुब्धाः नतु प्रेमरीत्या. तद् उक्तं "कृष्णं विदुः परं कान्तम्" (भाग.पुरा.१०।२६।१२) इत्यादिना.

[कामभाववतीनां प्रेमभावोदयविकासे मान्यः क्रमः]

*ननु "स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः" (भाग.पुरा.१०।८४।२३) इत्यनेन "सेवा साधकरूपेण

सिद्धरूपेण चात्रहि तद्भावलिप्सुना कार्या व्रजलोकानुसारतः" (   )इत्यादिना च श्रीव्रजदेव्यनुगतशुद्धप्रेमाणं विना कथं कामरीतिकभजनेन अप्रकटप्रकाशे नन्दनन्दनप्राप्तिः?* इति चेत्, सत्यं, काममार्गीयभजने भेदबुद्धेः अनपगमाद्, यद्यपि शुद्धप्रेमा न भवत्येव तथापि तासां भगवत्तन्नित्यप्रेयसीदर्शनादिरूपसङ्गप्रभावात् तेषाम् अनुग्रहाद् जातात्म्यैक्य-बुद्ध्या तासां शुद्धप्रेमोदयो जातएव.

अत्र अयं क्रमः :—

(१)तत्र आदौ कामरीतिकभजनेनैव वैरादिवत् तासां तस्मिन् आवेशः.
(२)तेनच कामरीतित्याजकश्रीव्रजदेवव्यानुगत्यम्.
(३)तेनच, व्रजदेव्यनुग्रहात् कामरीति-परित्यागपूर्वक-शुद्धप्रेमोदयेन, तासां पतित्वेन श्रीनन्दनन्दनप्राप्तिः इति.

कामरीतित्यागे प्रमाणम् "आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः" (भाग.पुरा.७।१।२९) इति अघम् अत्र कामरीतिकमेव, (अन्यथा!) भगवत्कामे पापासम्भवात्.

ततश्च "दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः" (भाग.पुरा.१०।२६।-१०) इत्यत्र 'अशुभ' पदेन कामोपाधिकत्वमेव ज्ञेयम्.

नच *पर्यवसाने शुद्धप्रेमोदयाद् अत्रापि प्रेममार्गएव प्रसज्येत नतु काममार्गः* इति वाच्यं, तयोः विषयवैलक्षण्यात्. तथाहि "कामाद् द्वेषाद् भयात् स्नेहाद् यथा भक्त्येश्वरे मनः आवेश्य" (भाग.पुरा.७।१।२९) इत्यादिप्रामाण्येन यत्र कामेन मनसः आवेशः तत्र कामएव मार्गः.

यत्रतु आदितएव व्रजदेव्यानुगत्यादिना शुद्धप्रेम्णः आवेशः तत्र प्रेमैव मार्गः इति व्यवस्थाप्यते "अन्तर्गृहगता..." (भाग.पुरा.१०।२६।९) इत्यत्रतु "कृष्णं विदुः परं कान्तम्" (भाग.पुरा.१०।२६।१२) इत्यनेन "कामं क्रोधम्" (भाग.पुरा.१०।२६।१५) इत्यादिना च कामस्यैव आवेशजनकत्वं बोध्यते. पश्चात् शुद्धप्रेमोदयस्तु रसरूपश्रीनन्दनन्दनप्राप्त्यन्यथानुपत्त्या अनुमीयते.

तस्मात् काममार्गे भगवत्प्रेयसीसङ्गवशात् कामरीतित्यागेनैव प्रेम्णः शुद्धत्वे सति रसतापत्तिः. लौकिकरसेऽपि काव्यादिना कामरीतिम् अतिक्रम्य अलौकिकत्वापादनेन रसतापत्तिः आलङ्कारिकैः मन्यते.

[तस्माद् भावभेदात् मार्गभेदः]

तस्मात् काममार्ग-प्रेममार्गयोः भेदएव. सन्दर्भेच तयोः भेदः स्पष्टतया उक्तो यथा "अथ 'कान्तो अयम्' इति प्रीतिः कान्तभावः" (षट्सन्द.   ।   ). एषएव 'प्रियता' शब्देन भक्तिरसामृतसिन्धौ परिभाषितः, "प्रियायाः भावः प्रियते"ति. लौकिकरसिकैः अत्रैव 'रति' संज्ञा स्वीक्रियते. एषएव तत्तुल्यत्वात् श्रीगोपिकासु 'काम' शब्देनापि अभिहितः. 'स्मरा'ख्यकामविशेषस्तु अन्यो, वैलक्षण्यात्.

कामसामान्यं खलु स्पृहासामान्यात्मकम्, प्रीतिसामान्यन्तु विषयानुकूल्या-त्मकं तदनुगतविषयस्पृहादिमयो ज्ञानविशेषः इति लक्षितम्. अत्र द्वयोः समानप्रायचेष्टत्वेऽपि कामसामान्यस्य चेष्टा स्वीयानुकूल्यतात्पर्या. तत्र कुत्रचिद् विषयानुकूल्यं च स्वसुखकार्यभूतमेवेति तत्र गौणवृत्तिरेव 'प्रीति' शब्दः. शुद्धप्रीतिमात्रस्य चेष्टातु प्रियानुकूल्यतात्पर्यैव. तत्र तदनुगतमेव च आत्मसुखमिति मुख्यवृत्तिरेव 'प्रीति' शब्दः. अतएव यथापूर्वं सुखप्रीतिसामान्ययोः उल्लासात्मकतया साम्येऽपि आनुकूल्यांशेन प्रीतिसामान्यस्य वैशिष्ट्यं दर्शितम्. तथा कामप्रीतिसामान्ययोरपि स्पृहात्मकतया साम्येऽपि तदंशेनैव तद् ज्ञेयम्. तद् एवं स्मराख्यकामविशेषप्रीतिविशेषयोः स्पृहाविशेषात्मकतया साम्येऽपि तेनैव वैशिष्ट्यं सिद्धम्. अत्र "यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहस्तनेषु" (भाग.पुरा.१०।२८।१९) इत्यादिभिः अतिक्रम्यापि स्वानुकूल्यं प्रियानुकूल्यता-त्पर्यस्यैव दर्शितत्वात् शुद्धप्रीतिविशेषरूपत्वमेव इति लभ्यते. अतः तद्विशेषत्वञ्च स्पृहाविशेषात्मकत्वात् सिद्धम्. ततो अत्र श्रीकृष्णविषयत्वेन कुब्जादिसम्बन्धिका-मवद् अप्राकृतकामस्यापि अनभ्युपगमे सति प्राकृतकामत्वन्तु सुतराम् असिद्धम्. तथा दर्शितञ्च "विक्रीडितं व्रजवधूभिः" (भाग.पुरा.१०।३०।४०) इत्यादिना, यद् विक्रीडितं खलु निजश्रवणद्वारापि अन्येषां दूरदेशकालस्थितानामपि शीघ्रमेव कामम् अपनयन् परमं प्रेमाणं वितनोति, तत् पुनः तत्काममयं न स्याद् अपितु परमप्रेमविशेषमयमेव. नहि पङ्केन पङ्कं क्षाल्यते, नवा स्वयम् अस्नेहः स्नेहत्वम् आयातीति. अतएव तस्य भावस्य शुद्धप्रेममयत्वं निगदेन उक्त्वा

शुद्धत्वे हेतुतया पुनः तेन भगवत्प्रसादः च दर्शितः "भगवानाहताः विक्ष्य शुद्धभावप्रसादितः" (भाग.पुरा.१०।१९।१८) इति. तस्य आत्मारामशिरोमणेः तेन रमणं च दर्शितं "कृत्वा तावन्तमात्मानम्" (भाग.पुरा.१०।३०।२०) इत्यादिभिः, वशीकृतत्वं च "न पारयेऽहं निरवद्य संयुजाम्" (भाग.पुरा.१०।२९।२२) इत्यादिना इति.

[प्रेमभावो रसात्मको न पुनः कामभावः]

तस्माद् व्रजदेवीनामेव प्रेम्णः, शुद्धत्वाद्, रसरूपत्वम्. तद् उक्तं "आनन्दचिन्मयरसप्रतिभावितामिः" (श्रीब्र.संहि.५।३७) इत्यादिना. कुब्जायास्तु कामप्रायत्वात् न रसरूपता. अतएव ताभ्यः तस्याः न्यूनता सन्दर्भे "ततो अस्याः आत्मतर्पणैकतात्पर्यायाः सम्प्रत्यपि श्रीव्रजदेव्यादिवत् शुद्धप्रेमाभावो दर्शितः" (षट्सन्द.) इत्यनेन. पुरदेवीनान्तु "उद्दामभावपिशुना" (भाग.पुरा.१।११।३६) इत्यादौ "यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्न शेकुः" (भाग.पुरा.१।११।३६) इत्यादिप्रामाण्येन यदा स्वसुखतात्पर्यको अयम् उद्गच्छति तदा तासामपि न रसोदयः किन्तु अप्राकृतकामभोगएव इति विवेक्तव्यम्.

किञ्च शृङ्गारमयभक्तिरसास्वादे कान्तभावमयभगवत्प्रीतेरेव निदानत्वं नतु लौकिकरसास्वादइव. कामवासनायाअपि तथात्वे "स्त्रीपुंभिदा नतु सुतस्य विविक्तदृष्टेः" (भाग.पुरा.१।४।५) इत्यादिना सर्वथा तद्वासनारहितानां श्रीशुकदेवादीनां तदास्वादो न स्याद्—विषयाविष्टानां च स्यात्. तच्च "विषयाविष्टचित्तानां विष्ण्वावेशः सुदूरतः" (विष्णुपुरा.) इत्यादिना विरुद्धम्. तस्माद् "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" (कठोप.१।२।२३) इत्यादिरीत्या तत्कृपयैकलभ्या रतिरेव अत्र कारणम्.

तथाच भक्तिरसामृतसिन्धौ —

"प्राक्तन्याधुनिका चास्ति यस्य सद्भक्तिवासना।
एष भक्तिरसास्वादस्तस्यैव हृदि जायते॥
भक्तिनिर्धूतदोषाणां प्रसन्नोज्ज्वलचेतसाम्।
श्रीभागवतरक्तानां रसिकासङ्गरङ्गिणाम्॥

जीवनीभूतगोविन्दपादभक्तिसुखश्रियाम्।
प्रेमान्तरङ्गभूतानि कृत्यान्येवानुतिष्ठताम्।
भक्तानां हृदि राजन्ती संस्कारयुगलोज्ज्वला॥
रतिरानन्दरूपैव नीयमाना तु रस्यताम्।
कृष्णादिभिर्विभावाद्यैर्गतैरनुभवाध्वनि॥
प्रौढानन्दचमत्कारकाष्ठामापद्यते पराम्।"
(भ.र.सि.दक्षि.विभा.१।७-१२) इति.

"किन्तु तत्र सुदुस्तर्क्यमाधुर्याद्भुतसम्पदः।
रतेरस्याः प्रभावोऽयं भवेत् कारणमुत्तमम्॥"
( ) इति च.

[प्रकरणोपसंहारे निष्कर्षः]

ततश्च सर्वथा कामवासनाशून्यानां भक्तिरसमयशृङ्गारानुभवोऽपि न भवतीति कदापि न शङ्कनीयम्. तादृशपरिपाटीतु लौकिकरसास्वादएव इति दिक्.

इति श्रीमद्गोवर्धनधर-श्रीवल्लभाचार्य-श्रीविट्ठलेश्वर-चरणानुचर-सेवकेन लालूभट्टोपनामबालकृष्णेन विरचितः काममार्ग-प्रेममार्ग-विवेकः सम्पूर्णः



॥ पाठभेदतालिका ॥

१. क ख पाठयोः. "निधनं प्राप्य संग्रामे हता मुक्तिमवाप्नुयुः" इति मु.पद्मपुरा.पाठः. २. क-ख, 'भावेन' इति मु.पाठे. ३. क-ख पाठयोः, 'सुरद्विषः' इति मु पाठः. ४क-ख पाठयोः, 'द्वेषाद्' इति मु.पाठे. ५. क-ख 'योगतः' इति मु.



✻ एकान्तिलक्षणम् ✻

[श्रीहरिभक्तिविलासग्रन्थाधारेण एकान्तिलक्षणविचारोपक्रमः]

हरिभक्तिविलासस्य दशमविलासे —

एकान्तिता गारुडे "एकान्तेन सदा विष्णौ यस्माद् देवपरायणः तस्मादेकान्तिनः प्रोक्ताः तद्भागवतचेतसः"( ), एकादश-स्कन्धे "न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः" (भाग.पुरा.११।२।५०).

[एकान्तिताचातुर्विध्यनिरूपणम्]

साच एकान्तिता चतुर्धा :—

(१)धर्मानादरेण : श्रीमदुद्धवप्रश्नोत्तरएव "आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान् धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् मां भजेत् स च सत्तमः" (भाग.पुरा.११।११।३२) "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज, अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच" (भग.गीता.१८।६६) "यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावितः स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम् (भाग.पुरा.४।२९।४६).

(२)अन्यसर्वनिरपेक्षतया : श्रीमद्भगवदुद्धव-संवादे एलोपाख्यानान्ते "सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः निर्ममा निरहंकारा निर्द्वन्द्वाः निष्परिग्रहाः" (भाग.पुरा.११।२६।२७) अतएव कपिलदेवहूतिसंवादे "तएते साधवः साध्वि! सर्वसङ्गविवर्जिताः सङ्गस्तेष्वथ सम्प्रार्थ्यः

सङ्गदोषहराः हि ते" (भाग.पुरा.३।२५।२४).

(३)विघ्नाकुलेऽपि मनोरतिपरतया : स्कान्देच तत्रैव "यस्य कृच्छ्रगतस्यापि केशवे रमते मनो नहि च्युतात्र भक्तिर्वै सवै भागवतो नरः, आपद्गतस्य यस्येह भक्तिरव्यभिचारिणी नान्यत्र रमते चित्तं सवै भागवतो नरः" (स्कन्दपुरा.).

(४)प्रेमैकपरतयाच : श्रीऋषभदेवस्य पुत्रानुशासने "ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था जनेषु देहम्भरवार्तिकेषु गेहेषु जायात्मजरार्तिमत्सु न प्रीतियुक्तावदघस्त्रिलोके" (भाग.पुरा.५।५।३).

त्रिधा प्रेमैकपरता प्रेम्णः स्यात् तारतम्यतः।
(१)उत्तमा (२)मध्यमा चासौ (३)कनिष्ठा चेति भेदतः॥

तत्र (१)उत्तमाः यथा एकादशे हरियोगेश्वरोत्तरे "सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः" (भाग.पुरा.११।२।४५).

स्वेष्टदेवस्य भावं यः सर्वभूतेषु पश्यति।
भावयन्ति च तान्यस्मिन्नित्यर्थः सम्मतः सताम्॥

कपिलदेवहूतिसंवादे "मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढां मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः" (भाग.पुरा.३।२५।२२) श्रीहरियोगेश्वरोत्तरेच "विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद् हरिरवशाभिहितोऽपि चौघनाशः प्रणयरशनया धृतांघ्रिपद्मः स भवति भागवतः प्रधान उक्तः" (भाग.पुरा.११।२।५५).

(२)मध्यमम् आह : "ईश्वरे तदधीनेषु" (भाग.पुरा.११।२।४६)

इत्यादि.

[३]तत्र कनिष्ठाच तत्रैव "अर्चायामेव हरये" (भाग.पुरा.११।२।४७) इत्यादि.

श्रद्धया पूजनं प्रेमबोधकं भक्तइत्यपि
इत्यादि (ह.भ.वि.१०।४९-६०).

[एकान्तिभक्तकृत्यनिरूपणम्]

विंशविलासे सर्वसदाचारलिखनानन्तरं :—

"कृत्यान्येतानितु प्रायो गृहिणां धनिनां सताम्।
लिखितानि नतु त्यक्तपरिगृहमहात्मानाम्॥
अवश्यं तानि सर्वाणि तेषां तादृक्सुसिद्धये।
प्रागपेक्ष्याणि भक्तिर्हि सदाचारैकसाधना॥
तेषाञ्च पूर्वलिखितात् कृत्यान्येकान्तिलक्षणाद्।
व्यक्तिं यातान्यथाप्यन्ते लिख्यतेल्पानि कानिचित्॥"

तथा एकान्तिकृत्यम् —

"प्राक्प्रेमभक्तिसम्पत्तेः चिह्नानि लिखितानि हि।
तान्येवैकान्तिनां प्रायो ज्ञापकानि विदुर्बुधाः॥
सर्वत्यागेऽपि हेयायाः सर्वानर्थभुवश्च ते।
कुर्य्युः प्रतिष्ठाविष्ठायाः यत्नमस्पर्शने परम्॥"
(ह.भ.वि.उपसंहारे) इत्यादि.

भक्तिसन्दर्भे :—

इयमेव केवलत्वाद् 'अनन्यता'ख्या "अनन्याश्चिन्तयन्तो मां

ये जनाः पर्युपासते तेषाम्..." (भग.गीता.९।२२) इत्यादि, "येऽप्यन्यदेवताभक्ता..." (भग.गीता.९।२३)इति अव्यवहित-वाक्यद्वये अन्वय-व्यतिरेकोक्त्या. अनन्यत्वं नामहि अन्योपासना-राहित्येन तद्भजनम् उच्यते.

इत्याद्यनन्तरं —

तद् एवं तस्याः श्रवणादिरूपायाः साक्षाद्भक्तेः सर्वविघ्ननिवा-रणपूर्वक-साक्षाद्भगवत्प्रेमफलदत्वे स्थिते परमदुर्लभत्वे च सति अन्यकामतयाच न अभिधेयत्वं. तथाच उक्तं चतुर्थे "तद् दुराराध्यमाराध्य सतामपि दुरापया एकान्तभक्त्या को वाञ्छेत् पादमूलं विना बहिः" (भाग.पुरा.४।२४।५५) इति तन्मात्रकामना-याश्च भक्तेः आकिञ्चन्यम् अकामत्वं च संज्ञापितं "मत्तोऽप्यनन्तात् परतः परस्मात् स्वर्गापवर्गाधिपतेर्न किञ्चित्. येषां किमु स्यादितरेण तेषाम् अकिञ्चनानां मयि भक्तिभाजाम्" (भाग.पुरा.५।५।२५) इति श्रीऋषभदेववाक्यात्, "अकामः सर्वकामो वा" (भाग.पुरा.२।३।१०) इत्यादेः च; तथा, इयमेव एकान्तिता इत्यपि उच्यते "एकान्तिनो यस्य न कञ्चनार्थं वाञ्छन्ति ये वै भगवत्प्रपन्नाः" (भाग.पुरा.८।३।२०) इति गजेन्द्रवाक्यात्. "एवं प्रलोभ्यमानोऽपि वरैर्लोकप्रलोभनैः एकान्तित्वाद् भगवति नैवेच्छत् तान् सुरोत्तमः" (भाग.पुरा.७।९।५५) इति नारदवाक्यात् च. अतएव उक्तं गारुडे "एकान्तेन सदा विष्णौ यस्मादेव परायणाः, तस्मादेकान्तिनः प्रोक्तास्तद्भागवतचेतसः" (गरु.पुरा.) इत्यादि. एषैव उपदिष्टा श्रीगीतोपनिषत्सु "भक्त्यात्वनन्यया शक्यो अहमेवंविधोऽर्जुन, ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप" (भग.गीता.११।५५) "मत्कर्मकृन् मत्परमः मद्भक्तः सङ्गवर्जितः समः सर्वेषु भूतेषु यः स मामेति पाण्डवः" (भग.गीता.११।५५) इति मत्कर्म्म=श्रवण-कीर्तनादि. अहमेव परमः साधनत्वेन

साध्यत्वेन च यस्य; अतएव, साधनसाध्यान्तरसङ्गवर्जितः इति व्याख्येयम्.

(षट्सन्द.५।४५७-४६४)इति.

इति श्रीमद्-गोवर्धनधर-श्रीवल्लभाचार्य-श्रीविट्ठलेश्वर-चरणानुचर-सेवकेन
लालूभट्टोपनामबालकृष्णेन विरचितम्
एकान्तिलक्षणम्



❋ जीवेश्वरभेदाभेदविमर्शः ❋

[षट्सन्दर्भकृन्मते जीवेश्वरयोः भेदः स्वीकार्यो अभेदो वा इति विमर्शोपक्रमः]

अथ सन्दर्भमते — जीवेश्वरयोः भेदो अभेदो वा ? — इति विचार्यते.

[तत्र भेदो न सम्भवति इति उपपादनम्]

तत्र न तावद् भेदो अचित्त्वाद्यापत्तेः, अन्योन्याभावत्वेन प्रसिद्धस्य तस्य सर्वथा निषिद्धत्वात्, "क्षित्यादिनामिहार्थानां छाया न कतमापि हि, न संघातो विकारो वा न पृथङ् नान्वितो मृषा" (भाग.पुरा.७।१५।५९) इत्यादौ तदाधारस्य मिथ्यात्वप्रतिपादनेन भेदस्य अज्ञानजन्यत्वेन च सुतरां मिथ्यात्वात् च. तस्य अज्ञानजनितत्वेन असत्त्वं च वैष्णवे "विभेदजनके अज्ञाने नाशमात्यन्तिके गते आत्मनो ब्रह्मणो भेदम् असन्तं कः करिष्यति" (विष्णुपुरा. ६।७।९४) इत्यादौ प्रसिद्धम् अस्ति.

[इह परमात्मसन्दर्भविमर्शेन भेदासम्भवोपपादनम्]

नच *परमात्मसन्दर्भे "विभेद..." इत्यादिकम् अन्यथा व्याख्याय भेदस्य सत्त्वं स्थापितम् (षट्सन्द.३।१२९)* इति वाच्यं, केवलनिर्विशेषमत-वैलक्षण्यबोधनाय अभेदेऽपि शक्तिवैविध्यमात्रतात्पर्येण गौण्यैव वृत्त्या 'भेद'शब्दप्रयोगात्. तथाच तत्रैव :—

> तदेवं शक्तित्वे सिद्धे शक्तिशक्तिमतोः परस्परानुप्रवेशात् शक्तिमद्व्यतिरेके शक्तिव्यतिरेकात्, चित्त्वाविशेषात् च क्वचिद् अभेदनिर्देशः एकस्मिन्नपि वस्तुनि शक्तिवैविध्यदर्शनाद् भेदनिर्देशश्च न असमञ्जसः.
>
> (षट्सन्द.३।१३०) इति.

अयम् अर्थः — चित्त्वाविशेषात्, चितो भावः चित्त्वम् चिन्मात्रसत्ता. सत्ताच स्वरूपात्मिकैव तेन हेतुना अविशेषाद् विशेषाभावाद् ऐक्याद् इति अर्थः. तथैव उक्तम् — "एकस्मिन्नपि वस्तुनि" इति.

[तत्त्वसन्दर्भविमर्शेन भेदासम्भवोपपादनम्]

तत्त्वसन्दर्भेच :—

अभेदशास्त्राणि उभयोः चिद्रूपत्वेन.
(षट्सन्द.१।११५)इत्यादि.

अत्रापि चिद्रूपत्वेन चित्सत्तया इति अर्थः.

या चिदाकारतासाम्येन
(षट्सन्द. ।) इत्यादि,

अत्र चिदाकारता=चिद्रूपता, चिन्मात्रसत्ता इति यावत्, तया हेतुभूतया तस्याः वा साम्येन ऐक्येन इति अर्थः, चित्सत्तया उभयोरपि अभिन्नत्वात्.

[कृष्णसन्दर्भविमर्शेन भेदासम्भवोपपादनम्]

कृष्णसन्दर्भेच :—

शास्त्रं खलु चतुर्धा परावरयोः अभेदम् दर्शयति.
(षट्सन्द.४।)इत्यादौ.
तथा,
"तत्त्वमसि" (छान्दो.उप.६।८।७)इति परमात्मजीवयोः चित्सामान्येन.
(षट्सन्द.४।) इति.

अत्रापि समानस्य भावः=सामान्यम् एकत्वम् इति यावत्. चितः सामान्यम् चित्सामान्यम् तेन चिदेकत्वेन इति अर्थः. समानपदस्य एकबोधकत्वम् च 'सपत्नी'पद निरुक्त्यादौ प्रसिद्धम् अस्ति. चितः एकत्वञ्च "ज्ञानमेकं पराचीनैः इन्द्रियैः ब्रह्म निर्गुणम्" (भाग.पुरा.३।३२।२८) इत्यादौ. "वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्" (भाग.पुरा.१।२।११) इत्यादौ च बहुत्र प्रसिद्धं, व्याख्यातञ्च "ज्ञानं=चिदेकरूपम्" (षट्सन्द.१।११५।३३) इति.

ततश्च यद्यपि वस्तुनः एकत्वाद् भेदो नास्त्यैव तथापि शक्तिवैविध्यदर्शनाद् भेदनिर्देशः इत्यस्य शक्तिवैविध्यमेव भेदत्वेन निर्दिश्यते इति अर्थः. वैविध्यञ्च='विशेष'-'वैचित्र्य'-'वैलक्षण्या'द्यपरपर्यायम्. तच्च "आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि" (ब्र.सू.२।१।२८) इत्यादौ अवगतम्.

नन 'वैविध्य'-'वैलक्षण्या'दि शब्दाअपि भेदवाचकाएव, लोके तथैव प्रसिद्धेः इति चेत् सत्यं, लोके तथात्वेऽपि अलौकिके भेदस्य निषेधाद् न तेषां भेदवाचित्वाङ्गीकारः. वस्तुतस्तु लोकेऽपि 'वैविध्य'-'वैलक्षण्या'दिशब्दाभिधेयः कश्चिद् असाधारणो धर्मः स्वीक्रियते सतु भेदजनकएव नतु भेदः. अलौकिकेतु भेदाभावात् न तस्य भेदजनकत्वम् सम्भवति किन्तु शक्तिः-शक्तिमान्, अंशो-अंशी, सेवकः-सेव्यः, इत्यादि विचित्रव्यवहारास्पदतया नित्यावस्थितिमात्रपरत्वम्. ततश्च अलौकिकस्थले यत्र-यत्र भेदनिर्देशः कृतः तत्र सर्वत्रैव विशेषलक्षण-वैलक्षण्यपरतयैव. यत्र-यत्रच अभेदनिर्देशः कृतः सोऽपि एतद्वैपरीत्यलक्षण-वैलक्षण्याभावमय-निर्विशेषपरतयैव इति सन्दर्भादिग्रन्थपरिभाषा. इत्थञ्च एकत्वमात्रविवक्षायाम् 'अभेद'पदनिर्देशः. शक्तिवैचित्रीविवक्षायान्तु 'भेद'पदनिर्देशः इति फलितार्थः सङ्केतितः. ततश्च तत्र-तत्र 'भेद'पदनिर्देशो भाक्तः इति तन्मतनिष्कर्षः.

उदाहरणेषु तथैव प्रतीयते, अन्यार्थत्वेतु उदाहरणाद्यसङ्गत्यापत्तिः. उदाहरणञ्च :—

अथ ज्ञानेच्छुं प्रति जीवेश्वरयोः अभेदम् आह "अहं

भवान्न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विवक्ष्व भोः, न नौ पश्यन्ति कवयश्छिद्रं जातु मनागपि'" (भाग.पुरा.४।२८।६२) स्पष्टम् इति.

(षट्सन्द. ।)

अत्र "मनागपि छिद्रम्" इत्यनेन वैलक्षण्याभावमयनिर्विशेषाभेदएव व्यञ्जितः अथ भक्तीच्छुं प्रति तयोः भेदम् उपदिशति "यदा रहितम् आत्मानं भूतेन्द्रियगुणाशयैः, स्वरूपेण मयोपेतं पश्यन् स्वाराज्यमृच्छति" (भाग.पुरा.३।९।३३). आत्मानं=जीवम्. स्वरूपेण तस्य.

इति श्रीमद्गोवर्धनधर-श्रीवल्लभाचार्य-श्रीविट्ठलेश्वर-चरणानुचर-सेवकेन लालूभट्टोपनामबालकृष्णेन विरचितो जीवेश्वरभेदाभेदविमर्शः सम्पूर्णः



उद्धृतवचनानुक्रमणिका

ग्रन्थेषूद्धृतवचनानाम् आकरस्थलनिर्देशः पृष्ठाङ्कसूची च

[ग]

[घ]

[च]

[प]

[फ]

[ब]

[र]

[श]

उद्धृतग्रन्थसंकेततालिका

ग्रन्थसङ्केताः	पूर्णनामानि	ग्रन्थकाराः
श्रुत्यादिग्रन्थाः		
आदि.हृद.	आदित्यहृदयम्	
ईशा.उप.	ईशावास्योपनिषत्	श्रुतिः
ऋ.वे.संहि.	ऋग्वेदसंहिता	श्रुतिः
ऐत.उप.	एतरेयोपनिषत्	श्रुतिः
कठोप.	कठोपनिषत्	श्रुतिः
कौषि.उप.	कौषीतकिब्राह्मणोपनिषत्	श्रुतिः
कृष्णोप.	कृष्णोपनिषत्	श्रुतिः
गरु.पुरा.	गरुडपुराणम्	महर्षिः वेदव्यासः
गो.पू.ता.उप.	गोपालपूर्वतापिन्युपनिषत्	श्रुतिः
गो.उ.ता.उप.	गोपालोत्तरतापिन्युपनिषत्	श्रुतिः
छान्दो.उप.	छान्दोग्योपनिषत्	श्रुतिः
तैत्ति.उप.	तैत्तिरीयोपनिषत्	श्रुतिः
नार.पञ्च.	नारदपञ्चरात्रम्	आगमः
नृसिं.उ.ता.उप.	नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषत्	श्रुतिः
पद्मपुरा.	पद्मपुराणम्	महर्षिः वेदव्यासः
प्रश्नोप.	प्रश्नोपनिषत्	श्रुतिः
बृह.उप.	बृहदारण्यकोपनिषत्	श्रुतिः
ब्र.वै.पुरा.	ब्रह्मवैवर्तपुराणम्	महर्षिः वेदव्यासः
ब्र.सू.	ब्रह्मसूत्रम्	महर्षिः वेदव्यासो बादरायणः
भग.गीता.	श्रीमद्भगवद्गीता	भगवान् श्रीकृष्णः
भाग.पुरा.	श्रीभागवतपुराणम्	महर्षिः वेदव्यासः
महानारा.उप.	महानाराणोपनिषत्	श्रुतिः
महोप.	महोपनिषद्	श्रुतिः
मुक्ति.उप.	मुक्तिकोपनिषत्	श्रुतिः

मुण्ड.उप.	मुण्डकोपनिषत्	श्रुतिः
ल.तं.	लक्ष्मीतन्त्रम्	आगमः
विष्णुधर्मो.पुरा.	विष्णुधर्मोत्तरपुराणम्	महर्षिः वेदव्यासः
विष्णुपुरा.	विष्णुपुराणम्	महर्षिः वेदव्यासः
शाण्डि.भ.सू.	शाण्डिल्यभक्तिसूत्रम्	महर्षिः शाण्डिल्यः
श्वेता.उप.	श्वेताश्वतरोपनिषत्	श्रुतिः
श्रीब्र.संहि.	श्रीब्रह्मसंहिता	आगमः
सर्वसा.उप.	सर्वसारोपनिषत्	श्रुतिः
स्कन्दपुरा.	स्कन्दपुराणम्	महर्षिः वेदव्यासः

न्याय-व्याकरणादि-ग्रन्थाः

का.प्र.का.	काव्यप्रकाशकारिका	मम्मटः
न्या.सि.मु.	न्यायसिद्धान्तमुक्तावली	विश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यः
पाणि.धा.पा.	पाणिनिधातुपाठः	श्रीपाणिनिः
पाणि.परि.पाठ	पाणिनिपरिभाषापाठः	श्रीपाणिनिः
पाणि.सू.	पाणिनिसूत्रम्	श्रीपाणिनिः
पाणि.सू.वा.	पाणिनिसूत्रवार्तिकम्	कात्यायनः
सिद्धा.कौमु.	सिद्धान्तकौमुदी	भट्टोजिदीक्षितः

साम्प्रदायिकग्रन्थाः

क्र.सं.	क्रमसन्दर्भः	श्रील जीवगोस्वामी
गु.र.	गुप्तरसः	प्रभुचरणश्रीविठ्ठलनाथः
त.दी.नि.	तत्त्वार्थदीपनिबन्धः	महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्यः
त.दी.नि.प्र.	तत्त्वार्थदीपनिबन्धप्रकाशः	श्रीपुरुषोत्तमजी
त्रिवि.नामा.	त्रिविधनामावली	महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्यः
न.र.	नवरत्नम्	महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्यः
न.र.प्र.	नवरत्नप्रकाशः	प्रभुचरणश्रीविठ्ठलनाथः
निरो.लक्ष.	निरोधलक्षणम्	महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्यः
पञ्चद.	पञ्चदशी	श्रीविद्यारण्यस्वामी
पु.प्र.म.	पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः	महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्यः
पुरु.सह.ना.स्तो.	श्रीपुरुषोत्तमसहस्रनामस्तोत्र	महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्यः

प्रभु.चर.पत्र.	श्रीप्रभुचरणपत्राणि	प्रभुचरणश्रीविठ्ठलनाथः
ब्र.सू.भा.	ब्रह्मसूत्रभाष्य	महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्यः
ब्र.सू.भा.प्र.रश्मि.	ब्रह्मसूत्रभाष्यप्रकाशरश्मिः	योगिश्रीगोपेश्वराः
भक्तिसन्द.	भक्तिसन्दर्भः	श्रील जीवगोस्वामी
भ.र.सि.	भक्तिरसामृतसिन्धुः	श्रील रूपगोस्वामी
भ.व.	भक्तिवर्धिनी	महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्यः
भ.हे.नि.	भक्तिहेतुनिर्णयः	प्रभुचरणश्रीविठ्ठलनाथः
भ.हं.	भक्तिहंस	प्रभुचरणश्रीविठ्ठलनाथः
भाग.प्रक्षि.	भागवतप्रक्षिप्ताध्यायत्रयी	
भाग.श्रीध.	भागवतश्रीधरी	श्रीधरस्वामी
मालो.	मालोद्धारग्रन्थ	गोपालदास व्यारावाला
लौकि.न्या.सा.	लौकिकन्यायसाहस्री	ठाकुरदत्तशर्मा
वाल्मि.रामा.	वाल्मीकिरामायण	महर्षिः वाल्मिकिः
विद्व.मण्ड.	विद्वन्मण्डनम्	प्रभुचरणश्रीविठ्ठलनाथः
वि.धै.आ.	विवेकधैर्याश्रयः	महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्यः
वैष्ण.तोषि.	वैष्णवतोषिणी	श्रील जीवगोस्वामी
वैष्ण.वा.२५२.	२५२ वैष्णववार्ता	श्रीगोकुलनाथजी
ह.भ.वि.	हरिभक्तिविलासः	श्रील गोपालभट्टगोस्वामी
श्रीगोकु.विज्ञ.	श्रीगोकुलेशकृतविज्ञप्ति	श्रीगोकुलनाथजी
श्रीभाग.एका.कारि.	श्रीभागवतैकादशस्कन्धकारिकाः	महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्यः
श्रीयमु.अष्ट.	श्रीयमुनाष्टक	महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्यः
श्रीवल्ल.अष्ट.	श्रीवल्लभाष्टक	प्रभुचरणश्रीविठ्ठलनाथः
षट्सन्द.	षट्सन्दर्भः	श्रील जीवगोस्वामी
सम्प्र.क.द्रु.	सम्प्रदायकल्पद्रुम	श्रीविठ्ठलनाथभट्ट
सिद्धा.मुक्ता.	सिद्धान्तमुक्तावली	महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्यः
सिद्धा.मुक्ता.प्र.	सिद्धान्तमुक्तावलीप्रकाश	श्रीपुरुषोत्तमजी
सुबो.	सुबोधिनी	महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्यः
सुबो.कारि.	सुबोधिनीकारिका	महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्यः
सुबो.टिप्प.	सुबोधिनीटिप्पणी	प्रभुचरणश्रीविठ्ठलनाथः
से.फ.	सेवाफल	महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्यः
से.फ.वि.	सेवाफलविवृत्तिः	महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्यः
संन्या.निर्ण.	संन्यासनिर्णयः	महाप्रभुश्रीवल्लभाचार्यः